# परमभावप्रकाशक
# नयचक्र

5529

डॉ॰ हुकमचन्द भारिल्ल

5 G

5429

## परमभाव प्रकाशक

# नयचक्र

© लेखक :

**डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल**

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम० ए०, पीएच० डी०
श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

5429

□

प्रकाशक :
**पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

| | | |
|---|---|---|
| प्रथम दो संस्करण | : | १७ हजार २०० |
| ( २५ अप्रैल १९८२ ई. से अद्यतन ) | | |
| तृतीय संस्करण | : | ३ हजार |
| ( २४ अप्रैल १९९४ ई. महावीर जयन्ती ) | | |
| वीतराग-विज्ञान के संपादकीयों के रूप में | | ६ हजार |
| योग | : | २६ हजार २०० |

मूल्य : सोलह रुपए

51129

मुद्रक - : सुपर प्रिन्टर्स दिल्ली - ५१

# प्रकाशकीय

## ( तृतीय संस्करण )

जैनदर्शन का नयप्रकरण जितना जटिल है, उतना ही आवश्यक भी है ; क्योंकि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। नयों के स्वरूप को समझे बिना जिनागम का रहस्य समझ पाना तो सम्भव है ही नहीं, आत्मकल्याण के सही मार्ग को उपलब्ध करना भी सम्भव नहीं है। अतः नयों का अध्ययन कोरे ज्ञान के लिए ही नहीं है, अपितु आत्मकल्याण से इसका सीधा सम्बन्ध है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग में नयों की चर्चा को जन-जन की वस्तु बनाने का सम्पूर्ण श्रेय आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी को है। यदि उन्होंने निश्चय-व्यवहार की चर्चा प्रतिदिन के प्रवचनों में नहीं की होती तो आज यह विषय इतना चर्चित नहीं होता।

डॉ. भारिल्ल की इस कृति ने जहाँ एक ओर नय सम्बन्धी समस्त विवादों पर विराम लगा दिया, वहीं दूसरी ओर इनके अध्ययन-अध्यापन के लिए सहज सुलभ साधन भी उपलब्ध करा दिया।

आज यह कृति हमारे शिविरों और महाविद्यालय के पठन-पाठन की मूल पाठ्य-पुस्तक बन गई है। इस महत्त्वपूर्ण कृति का यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

डॉ. भारिल्ल ने ऐसी ही अनेक कृतियाँ साहित्य व समाज को दी हैं, जो मूलतः पठनीय हैं और जिनकी सूची आगे के पृष्ठों में प्रकाशित की गई है। जिन महानुभावों ने इस महान कृति को अत्यल्प मूल्य में पाठकों तक पहुँचाने में सहयोग दिया है, उनकी सूची भी अन्यत्र प्रकाशित की जा रही है। सभी सहयोगियों का हृदय से आभार मानते हुए इस कृति से आप सभी लाभान्वित हों – ऐसी पवित्र भावना रखता हूँ।

२ अप्रैल , १९९४ ई. – **नेमीचन्द पाटनी**

**महामंत्री**

## परमभावप्रकाशक नयचक्र की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

| | | |
|---|---|---|
| १. | पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर<br>साहित्य प्रकाशन ध्रुवफण्ड से सहायता प्राप्त | १०,००० .०० |
| २. | गुप्तदान | ९०० .०० |
| ३. | श्रीमती सज्जनबाई माणकचन्द दोशी, बडवानी | ५०१ .०० |
| ४. | श्रीमान् जीवनमल जेठमलजी अजमेरा, भीलवाड़ा | ५०० .०० |
| ५. | श्रीमान् महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता | ५०० .०० |
| ६. | श्रीमान् पदम सेठी, कतरासगढ़ | ५०० .०० |
| ७. | श्रीमान् शिखरचन्द त्रिलोकचन्दजी सोनी, अजमेर | २५१ .०० |
| ८. | श्रीमान् बापूराम जैन, इटावा | २५१ .०० |
| ९. | श्रीमती जैनाबाई, इटावा | २५१ .०० |
| १०. | श्रीमान् मदनलालजी वारासिवनी ह. चम्पाबाई | २५१ .०० |
| ११. | श्रीमान् हीराचन्दजी अजमेरा, इन्दौर | २५१ .०० |
| १२. | श्रीमान् जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी, बम्बई | २५१ .०० |
| १३. | श्रीमान् शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज | २५१ .०० |
| १४. | श्रीमती पुष्पाबाई (जीजीबाई) ध. प. अजितकुमार जैन, मुरैना | २५१ .०० |
| १५. | श्रीमान् केसरीमल बघेरवाल, इन्दौर | २०१ .०० |
| १६. | श्रीमती नलिनी बैन प्रफुल्ल भाई दोशी, बम्बई | २०१ .०० |
| १७. | श्रीमती कान्ताबाई ध. प. पूनमचंदजी छाबड़ा, इन्दौर | २०१ .०० |
| १८. | राज ट्रेवल्स, नोगामा | १५१ ०० |
| १९. | विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई | १११ .०० |
| २०. | श्रीमती सुशीलाबाई नन्दकुमार सिंघई, इन्दौर | १०१ .०० |
| २१. | श्रीमती कमलादेवी, जयपुर | १०१ .०० |
| २२. | चौधरी फूलचंद जैन द्वारा मनोज एण्ड कं., बम्बई | १०१ .०० |
| २३. | श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमार , बैंगलोर | १०१ .०० |
| २४. | श्रीमती राजकुमारी गोधा ध. प. श्री कोमलचन्दजी गोधा, जयपुर | १०१ .०० |
| २५. | श्रीमान् प्रेमचन्द बड़जात्या द्वारा श्री रोशनलाल हरकचंद, दिल्ली | १०१ .०० |
| २६. | श्रीमती मिश्रीबाई ध. प. सुगनचंद पाटनी, इन्दौर | १०१ .०० |
| २७. | लश्करी मन्दिर महिला मण्डल, इन्दौर | १०१ .०० |
| २८. | श्रीमती शीलाबाई, विदिशा | १०१ .०० |
| | **योग :** | **१६६८३ .००** |

# प्रकाशकीय

डॉ० भारिल्ल की चिरप्रतीक्षित कृति 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कृति का पूर्वार्द्ध हम अप्रैल १९८२ ई० में ही पाठकों तक पहुँचा चुके हैं। अध्यात्मप्रेमी समाज को तभी से इसके उत्तरार्द्ध की प्रतीक्षा थी।

अनेकों आग्रहों अनुरोधों के उपरान्त भी कुछ ऐसी विघ्नबाधाएं रहीं कि इसका लेखन कार्य अवरुद्ध हो गया। आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का निधन एक ऐसा तूफान था कि जिसमें सभी अध्यात्मप्रेमी समाज आन्दोलित हो उठा था। हिन्दी आत्मधर्म एक से दो हुए और फिर वीतरागविज्ञान का जन्म—यह सब इतिहास की बातें हैं, जिनकी चर्चा यहां न तो अभीष्ट ही है और न अपेक्षित ही।

वीतरागविज्ञान के जन्म के साथ ही उसके सम्पादकीयों में नयचक्र जैसे गूढ़ विषय को चलाते रहना इष्ट प्रतीत नहीं हुआ। अतः इसे बीच में ही रोककर ''बारहभावना : एक अनुशीलन'' लेखमाला आरंभ की गई, जो पुस्तकाकार प्रकाशित होकर आपके हाथ में पहुँच चुकी है। तदुपरान्त फिर नयचक्र आरंभ किया गया, जो अब पूर्ण होकर आपके हाथों में पहुँच रहा है।

इस कृति के सन्दर्भ में नया कुछ न लिखकर जिनवरस्य नयचक्रम् पूर्वार्द्ध के प्रकाशकीय का निम्नांकित अंश दे देना उचित समझता हूँ—

''समस्त जिनागम नयों की भाषा में निबद्ध है। अतः आगम के गहन अभ्यास के लिए जिसप्रकार नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है, उसीप्रकार आत्मा के सम्यक् अवलोकन अर्थात् अनुभव के लिए भी नयविभाग द्वारा भेदज्ञान करना परमावश्यक है। इसप्रकार आगम और अध्यात्म—दोनों के अभ्यास के लिए नयों का स्वरूप गहराई से जानने की आवश्यकता असंदिग्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जिनवरस्य नयचक्रम्' में नयों का स्वरूप एवं उनके सम्बन्ध में आनेवाली विषम गुत्थियों को सुलझाते हुए सरल एवं सुबोध भाषा में यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट की गई है कि इनसे अपने आत्महितरूप प्रयोजन की सिद्धि किसप्रकार हो सकती है। प्रस्तुतिकरण इतना सुन्दर है कि कहीं भी

उलझाव नहीं होता, सर्वत्र समन्वय की सुगन्ध प्रतिभासित होती है।

इस अद्भुत ग्रन्थ की रचना का भी एक इतिहास है। बात सन् १९७९ ई० की है। श्रावणमास में लगनेवाले सोनगढ़ शिविर में जब डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने 'नयचक्र' ग्रन्थ को उत्तम कक्षा के रूप में पढ़ाने के लिए चुना और उसमें से अध्यात्म के गंभीर न्याय प्रस्तुत किये, तब उपस्थित सम्पूर्ण मुमुक्षु समाज को लगा कि नयों के गहरे अध्ययन बिना जिनागम का मर्म समझ पाना सहज संभव नहीं है। अबतक जो 'नयचक्र' न्याय का ग्रन्थ माना जाकर मुमुक्षु समाज में अध्ययन की दृष्टि से उपेक्षित रह गया था, उसके गहरे अध्ययन की जिज्ञासा भी डॉ० भारिल्ल जी के विवेचन द्वारा जागृत हो गई।

सभी की भावनानुसार उपयुक्त अवसर जानकर मैंने डॉ० भारिल्लजी से 'क्रमबद्धपर्याय' समाप्त हो जाने के बाद आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप में एक लेखमाला नयों के सम्बन्ध में चलाने का आग्रह किया। यह बात लिखते हुए मुझे गौरव का अनुभव हो रहा है कि उन्होंने मेरे आग्रह को स्वीकार कर अप्रैल, १९८० से आत्मधर्म में 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नाम से यह लेखमाला आरम्भ की, जो आज तक चल रही है और आगे भी न जाने कब तक चलेगी।

उक्त लेखमाला का समाज में कल्पनातीत स्वागत हुआ। अधिक क्या लिखूँ? जब एकबार मुमुक्षु समाज के शिरमौर आध्यात्मिक प्रवक्ता पण्डित श्री लालचन्दभाई अमरचन्दजी मोदी, राजकोट ने मुझसे कहा कि मैं तो इस लेखमाला के पेजों को आत्मधर्म से निकालकर अलग फाइल बनाकर रखता हूँ, क्योंकि अलग-अलग अंकों में होने से सन्दर्भ टूट जाता है और बार-बार अध्ययन करने में असुविधा होती है, तब मुझे इसकी महिमा विशेष भासित हुई।

जब इसप्रकार के भाव अन्य भाईयों ने भी व्यक्त किये, तब इसे पुस्तकाकार प्रकाशित करने की भावना जागृत हुई। यद्यपि डॉ० भारिल्लजी द्वारा लिखित अबतक जितनी भी लेखमालायें आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप में चलाई गई हैं, वे सभी अनेक भाषाओं में पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुकी हैं और समाज ने उन्हें हृदय से अपनाया है, अतः इसके भी पुस्तकाकार प्रकाशित करने की योजना तो थी ही, किन्तु यह कार्य लेखमाला के समाप्त होने पर ही सम्पन्न हो पाता।

जब सन् १९८० ई० के श्रावणमास में लगनेवाले सोनगढ़ शिविर में दूसरी बार भी इसी विषय को उत्तम कक्षा में उन्होंने चलाया, तबतक इसका बहुत कुछ अंश आत्मधर्म में प्रकाशित हो चुका था। इसकारण यह विषय बहुचर्चित हो गया था। यद्यपि स्वामी जी की तबियत ठीक नहीं थी, तथापि उनकी इच्छानुसार उनकी उपस्थिति में ही स्वाध्याय मंदिर में यह कक्षा चली, जिसे उन्होंने भी मनोयोगपूर्वक सुना। अबतक मुमुक्षु बन्धुओं को भी इस विषय

का पर्याप्त परिचय हो गया था। इस शिविर में १६०० आत्मार्थी मुमुक्षुभाई पधारे थे, जिनमें लगभग १५० वे विद्वान थे, जो सोनगढ़ की ओर से पर्यूषण पर्व के अवसर पर समाज में प्रवचनार्थ जाते हैं और तत्वप्रचार की गतिविधियां संचालित करते हैं। उससमय उन सबमें नयों का प्रकरण चर्चा का मुख्य विषय बन गया था।

आत्मधर्म के सम्पादकीयों के रूप में इसके समाप्त होने में वर्षों की देरी देखकर एवं आत्मार्थी मुमुक्षु बन्धुओं की उत्सुकता को लक्ष्य में रखकर निश्चय व्यवहार प्रकरण समाप्त होते ही इसे पूर्वार्द्ध के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। फलस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके हाथ में है।

नयों का विषय जिनवाणी में अचर्चित नहीं है। 'नयचक्र' नाम से भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं और अन्य ग्रन्थों में भी प्रकरण के अनुसार यथास्थान नयों की चर्चा की गई है। नयों के कथन करनवाले ग्रन्थों की जानकारी अन्त में दी गई 'सन्दर्भ ग्रन्थ सूची' से प्राप्त की जा सकती है।

नयों का स्वरूप जानने के लिए जब साधारण पाठक नयचक्रादि महान ग्रन्थों का अवलोकन करता है तो उनमें प्राप्त विविधता, विस्तार और विविध विवक्षाओं के कथन में इसप्रकार उलझने लगता है कि उसे यह नयचक्र इन्द्रजाल-सा प्रतीत होने लगता है और अध्ययनकाल में समागत गुत्थियों को सुलझाने में जब अपने को असमर्थ पाता है, तब या तो घबड़ाकर अध्ययन से ही विरत हो जाता है या फिर यदातदा मिथ्याभिप्राय का पोषण करने लगता है। बहुत से लोग तो यह कहकर कि 'यह तो विद्वानों की चीज है, इसमें हमें नहीं उलझना है' उपेक्षा कर देते हैं, या फिर अनिर्णय के शिकार हो जाते हैं। इसप्रकार यह मानवजीवन यों ही व्यर्थ निकल जाता है और कुछ भी हाथ नहीं आ पाता है।

जिनागम में प्राप्त सभी ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन कर, मनन कर तथा आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य का पूरा-पूरा लाभ उठाकर डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इस कमी को पूरा करने के लिए यह महान ऐतिहासिक कार्य किया है, इसका मूल्यांकन हम क्या करें, इतिहास करेगा। इस ऐतिहासिक अमरकृति में उन्होंने नयग्रन्थों के अध्ययन में आनेवाली गुत्थियों को स्वयं उठा-उठाकर उनका समुचित समाधान प्रस्तुत किया है, विरोधी प्रतीत होनेवाले विभिन्न कथनों में सार्थक समन्वय स्थापित किया है, उनके मर्म को खोला है और उनका यथार्थ प्रयोजन स्पष्ट किया है। उनके इस अभूतपूर्व कार्य का वास्तविक आनन्द तो इसका गहराई से अध्ययन करनेवाले आत्मार्थी ही उठा सकते हैं।

आगम में नयों का प्रतिपादन दो प्रकार से उपलब्ध होता है, आगमिकनय और आध्यात्मिकनय। वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करनेवाले आगमिक नयों का विषय छहों द्रव्य बनते हैं और आध्यात्मिक नयों का विषय मुख्यरूप से आत्मा ही होता है। दोनों की प्रतिपादन शैली में भी अन्तर है। दोनों ही शैलियों में नयों के बहुत कुछ नाम एक से पाये जाने से भी भ्रम उत्पन्न होने की संभावनाएं रहती हैं। इस अनूठे ग्रन्थ में डॉ० साहब ने दोनों शैलियों का अन्तर बहुत अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। तथा यह भी स्पष्ट कर दिया है किं अंततोगत्वा सबका प्रयोजन तो एकमात्र एकत्व-विभक्त आत्मा को प्राप्त करना ही है, जिसके आश्रय से वीतरागतारूप धर्म की उत्पत्ति होती है और अनन्त सुखशान्ति की प्राप्ति होती है।

इस ग्रन्थ की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें नय कथनों के अध्ययन में आनेवाली गुत्थियों को प्रतिदिन काम आने वाले रोचक उदाहरणों से सरल करके समझाया गया है। कई उदाहरण तो सांगरूपक जैसे लगते हैं।

अधिक क्या लिखूं सम्पूर्ण ग्रन्थ एक बार नहीं, अनेक बार मूलतः पठनीय हैं। इस अद्वितीय ग्रन्थ के प्रणयन के लिए डॉ० भारिल्लजी को हार्दिक बधाई देते हुए तत्वप्रेमी पाठकों से इसका गहराई से अध्ययन करने का अनुरोध करता हूं। इसका व्यक्तिगत स्वाध्याय तो किया ही जाना चाहिए, सामूहिक स्वाध्याय में भी इसका पठन-पाठन होना चाहिए। तथा विश्वविद्यालयीन जैनदर्शन के पाठ्यक्रम एवं समाज द्वारा संचालित परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रमों में भी इसे सम्मिलित किया जाना चाहिए।"

इस 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' का पूर्वार्द्ध तो 'जिनवरस्य नयचक्रम्' का परिवर्तित रूप ही है एवं उत्तरार्द्ध पूर्णतः नया है। 'जिनवरस्य नयचक्रम्' को पढ़कर जिन मनीषियों ने जो सम्मतियां और सुझाव हमें भेजें थे, उन्हें भी हमने इसके अन्त में पाठकों की जानकारी के लिए दे दिये हैं।

इसप्रकार अब यह सर्वांग हो गया है, तथापि मनीषियों के सुझाव अपेक्षित हैं, जिससे आगामी संस्करणों में आवश्यक सुधार हो सके।

अन्त में इस कृति के फोटोसैटिंग, ऑफसैट मुद्रण तथा बाइंडिंग व्यवस्था के लिए साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल को धन्यवाद देता हूँ, साथ ही राजेश्वरी फोटोसेटर्स प्रा. लि. के मंत्री श्री जगन्नाथ जी का आभार मानता हूँ,जिन्होंने इसके कलेवर को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करने में अपना योगदान दिया है। इस कृति को जन-जन तक पहुंचाने के उद्देश्य से जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग दिया है उनका भी आभार मानता हूँ। आप सबके जीवन को सार्थक बनाने में कृति उपयोगी हो ऐसी पवित्र भावना के साथ।

—नेमीचन्द पाटनी

# अपनी बात

यद्यपि सम्पूर्ण जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है और जिनागम में यत्रतत्र नयों के सन्दर्भ में चर्चा भी कम नहीं हुई है, तथापि ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, जो सर्वांग हों और सम्पूर्णतः नयविवेचन के लिए ही समर्पित हों। नयचक्र नाम से भी जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें भी सम्पूर्णतः नयों का ही प्रतिपादन हो—ऐसा नहीं है, उनमें अन्य विषय भी बहुत हैं, जैसे माइल्ल धवल के द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र के बारह अधिकारों में नय विषयक मात्र एक ही अधिकार है।

जिनागम में यत्रतत्र प्रयुक्त एवं विभिन्न प्रकरणों में विभिन्न प्रकार से उपलब्ध समस्त नयों को व्यवस्थित रूप से एक स्थान पर उपलब्ध करा देने की भावना से ही इस ''परमभावप्रकाशक नयचक्र'' का जन्म हुआ है। यह दावा करना तो संभव नहीं है कि इसमें वह सबकुछ समेट लिया गया, जो जिनागम में यत्रतत्र उपलब्ध है; पर यह इस दिशा में किया गया प्रथम प्रयास अवश्य है, जो बहुत कुछ अपने में समेटे हुए है और इस दिशा में काम करनेवालों को प्रेरक बन सकता है।

यह तो सर्वविदित ही है कि इसका पूर्वार्द्ध जिनवरस्य नयचक्रम् के नाम से अप्रैल १९८२ में प्रकाशित हो चुका है। इस कृति की जन्मकथा की सम्यक् जानकारी के लिए जिनवरस्य नयचक्रम् में प्रकाशित ''अपनी बात'' का पुनरावलोकन आवश्यक है, जो इसप्रकार है—

''यद्यपि जिनागम अगाध है, तथापि जिसप्रकार अगाध सागर में भी तैरना जाननेवाले प्राणियों का प्रवेश निर्बाध हो सकता है, होता है; उसीप्रकार नयों का सम्यक् स्वरूप जाननेवाले आत्मार्थियों का भी जिनागम में प्रवेश संभव है, सहज है। तथा जिसप्रकार जो प्राणी तैरना नहीं जानता है, उसका मरण छोटे से पोखर में भी हो सकता है; तरणताल (Swimming pool) में भी हो सकता है; उसीप्रकार नयज्ञान से अनभिज्ञ जन जैन तत्वज्ञान का प्रारम्भिक ज्ञान देनेवाली बालबोध पाठमालाओं के भी मर्म तक नहीं पहुँच सकते, अर्थ का अनर्थ भी कर सकते हैं।

इस बात का परिज्ञान मुझे तब हुआ, जब आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के निश्चयव्यवहार की संधिपूर्वक समयसार आदि ग्रन्थों पर

किये गये प्रवचन सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ तथा आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा रचित मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय का गहराई से अध्ययन किया।

जिनागम और जिन-अध्यात्म का मर्म समझने के लिए नयज्ञान की उपयोगिता एवं आवश्यकता की महिमा जागृत होने के बाद स्वयं तो तद्विषयक गहरा अध्ययन-मनन-चिन्तन किया ही, साथ ही इस विषय पर प्रवचन भी खूब किए।

इसी बीच एक समय ऐसा भी आया, जब आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामीं द्वारा संचालित आध्यात्मिक क्रान्ति एवं उसका विरोध अपने चरमबिन्दु पर था। विरोध का स्तर बहुत ही नीचे उतर आने से समाज में सर्वत्र उत्तेजना का वातावरण था। गोहाटी, नैनवा और ललितपुर काण्डों ने समाज को झकझोर दिया था।

इन सबके कारणों की जब गहराई से खोज की गई तो अन्य अनेक कारणों के साथ-साथ यह भी प्रतीत हुआ कि समाज और समाज के विद्वानों में नयों के सम्यक्ज्ञान की कमी भी इसमें एक कारण है।

इस कमी की पूर्ति हेतु शिक्षण शिविरों, शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों की श्रृंखला में प्रवचनकार प्रशिक्षण-शिविर की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी और भी जुड़ गई। फलस्वरूप १९७७ से सोनगढ़ में प्रवचनकार प्रशिक्षण-शिविर आरम्भ हुए, जिनमें मुझे नयप्रकरणों को विस्तार से समझाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। बाद में नयचक्र ग्रन्थ के आधार पर नयों की गहराई से अध्ययन-अध्यापन १९७९ के शिविर में हुआ।

इससे पूर्व ही हिन्दी आत्मधर्म के सम्पादन का कार्य मेरे पास आ चुका था। जिसमें लगातार निकलनेवाले सम्पादकीयों ने समाज में अपना एक विशेष स्थान बना लिया था। आदरणीय पाटनीजी ने तो मुझसे आत्मधर्म के सम्पादकीयों में नयों पर लेखमाला चलाने का अनुरोध किया ही, सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्दजी वाराणसी का भी एक पत्र मुझे प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने मुझे आत्मधर्म के सम्पादकीयों में दशधर्मों के समान नय प्रकरणों पर सरल सुबोध भाषा में लिखने का आग्रह किया था, पर चाहते हुए भी जबतक धर्म के दशलक्षण और क्रमबद्धपर्याय के प्रकरण समाप्त नहीं हुए, तबतक यह कार्य आरम्भ न हो सका।

इस बीच नयों सम्बन्धी मेरा अध्ययन-मनन चालू रहा, पर इस विषय की विशालता और गम्भीरता को देखते हुए जब-जब इस पर कलम चलाने का विचार किया, तब-तब अनेकों संकल्प-विकल्प सामने आये, टूटी-फूटी नाव से

सागर पार करने जैसा दुस्साहस लगा।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का वरदहस्त और मंगल आशीर्वाद ही मुझे इस महान कार्य में प्रवृत्त कर सका है; क्योंकि इसके आरम्भ का काल भी वही है, जबकि स्वामीजी 'क्रमबद्धपर्याय' और 'धर्म के दशलक्षण' की दिनरात प्रशंसा कर रहे थे, लोगों को उनका स्वाध्याय करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। फरवरी, १९८० में सम्पन्न बड़ौदा पंचकल्याणक के अवसर पर बीच प्रवचन में जब उन्होंने मुझे सभा में से उठाकर अपने पास बुलाया, पीठ ठोकी और अपने पास ही बिठा लिया तथा अनेक-अनेक प्रकार से सम्बोधित किया, उत्साहित किया तो मुझमें वह शक्ति जागृत हो गई कि घर आते ही मैंने 'जिनवरस्य नयचक्रम्' लिखना आरंभ कर दिया और अप्रैल, १९८० ई० के अंक से आत्मधर्म में भी इसे आरंभ कर दिया।

आज उनके अभाव में उनके ९३ वें पावन जन्मदिवस पर इसे पुस्तकाकार प्रकाशित होते देख हृदय भर आता है और विचार आता है कि उनके विरह में अब कौन पीठ थपथपायेगा, कौन शाबासी देगा और कौन जन-जन को इसे पढ़ने की प्रेरणा देगा?

आदरणीय विद्वद्वर्य पण्डित लालचंदजी भाई ने भी एकबार मुझसे आचार्य देवसेन के 'श्रुतभवनदीपक नयचक्र' के एक अंश का अनुवाद करवाया, क्योंकि उन्हें प्राप्त अनुवाद से सन्तोष न था। जब मैंने उन्हें अनुवाद करके दिया तो उसे पढ़कर वे एकदम गद्‌गद् हो गये। उन दो पृष्ठों को वे वर्षों संभाल कर रखे रहे तथा जबतब ग्रन्थ का पूरा अनुवाद करने की प्रेरणा भी निरन्तर देते रहे। पर मेरी इच्छा तो नयों के सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करने की थी। यद्यपि मैं उनकी उस आशा की पूर्ति नहीं कर सका, तथापि इसके प्रणयन में उनकी प्रेरणा एवं उत्साहवर्धन ने भी संबल प्रदान किया है।

मेरी एक प्रवृत्ति है कि जब-जब मैं किसी विशेष विषय पर लिख रहा होता हूँ, तो मेरे दैनिक प्रवचनों में वे विषय बलात् आ ही जाते हैं; तथा जब-जब जो भी लिखा जाता रहा, वह अपने प्रतिभाशाली छात्रों को पहिले से ही सुनाता रहा हूँ, उनसे मंथन भी करता रहा हूँ। इसीप्रकार प्रवचनार्थ बाहर जाने पर भी मैं उस विषय पर कुछ प्रवचन अवश्य करता हूँ, जो विषय मेरे लेखन में चल रहा होता है। इससे अपने श्रोताओं को ताजा और नया चिन्तन तो देता ही हूँ, उनके द्वारा प्राप्त प्रश्नों के माध्यम से लेखनी में विषय भी इसप्रकार स्पष्ट होता चला जाता है, जिससे सर्वसाधारण उसे ग्रहण कर सकें। इसप्रकार विषय की सरलता और सहजता में मेरे प्रतिभाशाली छात्रों एवं श्रोताओं का भी बहुत बड़ा योगदान है, परन्तु उनका नामोल्लेख करना न तो उचित ही प्रतीत होता है, और न

सम्भव ही है।

इसे सर्वांगीण बनाने हेतु आत्मधर्म के मार्च, १९८२ के अंक में एक विज्ञप्ति भी निकाली गई थी, जो कि इसप्रकार है:–

'जिनवरस्य नयचक्रम्' नाम से सम्पादकीय लेखमाला की आप अबतक सत्तरह किश्तें पढ़ चुके हैं। इस लेखमाला का पूर्वार्द्ध समाप्ति की ओर है तथा वह शीघ्र ही पुस्तकाकार भी प्रकाशित होने जा रही है। हम चाहते हैं कि विषय का प्रतिपादन सर्वांगीण हो, उसमें किसी भी प्रकार की विषय संबंधी कोई कमी न रह जाय, तदर्थ प्रबुद्ध पाठकों का सहयोग अपेक्षित है। अतः प्रबुद्ध पाठकों से यह विनम्र अनुरोध है कि यदि कहीं कोई स्खलन, अपूर्णता या विरोधाभास प्रतीत हो अथवा कोई ऐसा प्रश्न, शंका या आशंका शेष रह जाती हो, जिसका समाधान अपेक्षित हो तो तत्काल यहाँ सूचित करें, जिससे उनके अनुभव का लाभ उठाकर कृति को सर्वांगीण बनाया जा सके।"

उपर्युक्त अनुरोध भी निष्फल नहीं गया। पाठकों के अनेक पत्र प्राप्त हुए, जिनसे इस विषय में उनकी गहरी रुचि और अध्ययन का पता तो चला ही, साथ ही ऐसे बिन्दु भी ध्यान में आये, जिनका स्पष्टीकरण अत्यन्त आवश्यक था।

इसके नामकरण के सम्बन्ध में भी मुझे एक बात कहनी है कि यह नयचक्र जिनेन्द्र भगवान का है, इसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यह सोचकर ही इसका नाम 'जिनवरस्य नयचक्रम्' रखा है। दूसरी बात यह है कि यह ग्रन्थ तो हिन्दी भाषा में है और नाम है संस्कृत में–इस सन्दर्भ में भी मैंने बहुत विचार किया, पर आचार्य अमृतचंद्र के श्लोक[1] का 'जिनवरस्य नयचक्रम्'–यह अंश मेरे मन को इतना भाया कि वह इसे छोड़ने को तैयार नहीं हुआ। अन्तर की अज्ञात प्रेरणा ही इसके मूल में रही है, इसमें मेरी बुद्धि की एक भी नहीं चली है। तदर्थ विज्ञों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

दुरूह विषयवस्तु का प्रतिपादन यदि बिना शीर्षकों के किया जाय तो वह पाठकों में ऊब पैदा करता है तथा पग-पग पर आने वाले शीर्षक प्रतिपादन प्रवाह को खण्डित करते हैं। इस बात का ध्यान रखकर 'जिनवरस्य नयचक्रम्' में मध्यम शैली का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण विषयवस्तु को शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित तो किया गया है, किन्तु उपशीर्षकों को स्थान नहीं दिया गया है। बीच-बीच में आनेवाले शीर्षक अध्यायों का काम करते हैं, जो पाठकों को यथास्थान चिन्तन करने के लिए समय प्रदान करते हैं और विश्राम लेने के लिए पड़ाव का काम करते हैं। यद्यपि अध्ययन के मार्ग में उपशीर्षकों का भी उपयोग है, अध्ययन करते समय महत्वपूर्ण विषयवस्तु कहीं छूट न जाय, इसके

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

लिए वे गतिरोधक का काम करते हैं, तथापि ऐसा भी तो है कि पग-पग पर आनेवाले बड़े-बड़े गतिरोधक भी अटकाव पैदा करते हैं, चालक में चिड़चिड़ापन पैदा करते हैं। दुर्घटनाओं को रोकने के लिए बने बड़े-बड़े गतिरोधक कहीं-कहीं दुर्घटनाओं के हेतु भी बनते देखे जाते हैं। अतः यहाँ पैराग्राफों के परिवर्तन से ही गतिरोधकों का काम किया गया है। शीर्षक तो रखे गये हैं, पर उपशीर्षक नहीं।

जिनागम के जिन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अवगाहन इस ग्रन्थ के प्रणयन में सहयोगी हुआ, उनमें से जिनका प्रत्यक्ष उपयोग हुआ है, उनका तो उल्लेख संदर्भ ग्रन्थ सूची में हो गया है, तथापि ऐसे भी अनेक ग्रन्थराज हैं, जिनका उपयोग प्रत्यक्ष रूप से न होने के कारण उल्लेख संभव नहीं हो पाया है, पर परोक्ष सहयोग अवश्य हुआ है। तदर्थ सभी के प्रति श्रद्धावनत हूँ।

यदि इस कृति के अध्ययन से आपको कुछ मिले तो आपसे अनुरोध है कि अपने प्रियजनों को भी वंचित न रखें। यदि एक भी पाठक ने इससे जिनवाणी का मर्म समझने का मार्ग प्राप्त कर लिया तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।

जिनवर की बात जनजन तक पहुँचे और समस्त जन निज को समझकर कृतार्थ हों—इस पावन भावना के साथ अपनी बात से विराम लेता हूँ।"

यद्यपि उक्त कथन में वह सब स्पष्ट हो गया, जो मुझे इस सन्दर्भ में कहना था, तथापि नाम के सन्दर्भ में थोड़ा-बहुत स्पष्टीकरण आवश्यक ही है। इस कृति का नाम 'जिनवरस्य नयचक्रम्' रखते समय भी चित्ततो विभक्त था ही, जिसका उल्लेख किया ही जा चुका है, पर कृति के प्रकाशन के उपरान्त कई मित्रों ने सलाह दी कि हिन्दी भाषा में लिखी गई कृति का संस्कृत नाम उचित प्रतीत नहीं होता। सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि लोग इसे संस्कृत ग्रन्थ समझकर दूर से ही छोड़ने लगे। पंचकल्याणक मेलों एवं शिविरों में लगे बुकस्टाल पर लोगों को समझाना पड़ता था कि यह कृति हिन्दी में ही है, संस्कृत में नहीं।

यद्यपि यह विगत छह वर्षों में बारह हजार की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी है और लगभग आठ हजार आत्मधर्म व वीतरागविज्ञान हिन्दी मराठी के माध्यम से भी लोगों तक पहुँची है, तथापि यह संख्या इसीप्रकार की अन्य कृतियों की तुलना में अत्यल्प ही है। इसी के समान सम्पादकीयों के रूप में प्रकाशित होकर पुस्तकाकार प्रकाशित होने वाली 'क्रमबद्धपर्याय' एवं 'धर्म के दशलक्षण' जैसी कृतियां छह-छह भाषाओं में छपकर लगभग साठ-साठ हजार समाप्त हो चुकी हैं।

यद्यपि इसका गुजराती और मराठी अनुवाद तैयार हैं और शीघ्र ही प्रकाशित होकर आपके हाथ में पहुँचेंगे, तथापि अनुवादों के प्रकाशन में भी

अनावश्यक देरी का कारण भी इसका संस्कृत नाम ही प्रतीत होता है।

इन सब स्थितियों के कारण इसके नाम परिवर्तन का विचार निरन्तर दृढ़ होता गया। नये नाम चुनने में सोचने-विचारने की कुछ गुंजाइश ही नहीं रही, क्योंकि भाषा विज्ञान के 'मुखसुख' की प्रवृत्ति के सिद्धान्तानुसार सभी लोग इसे 'नयचक्र' के नाम से ही बोलने लगे हैं। आज स्थिति यह है कि लोग मात्र इसे 'नयचक्र' कहते ही नहीं, हमारे कार्यालय में इसके आर्डर भी 'नयचक्र' नाम से ही आते हैं।

अतः इसका परिवर्तित नाम 'नयचक्र' रखने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है, तथापि अन्य नयचक्रों से पृथक् दिखने के लिए इसका नाम 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' रखा जा रहा है, क्योंकि 'नयचक्र नाम से जाने जानेवाले जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनके नाम भी मात्र 'नयचक्र' ही नहीं है, उनके आगे भी कुछ न कुछ विशेषण लग रहे हैं, पर वे भी 'नयचक्र' नाम से ही पुकारे जाते हैं। जैसे—

(१) द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र : माइल्ल धवल
(२) श्रुतभवनदीपक नयचक्र : आचार्य देवसेन

यद्यपि हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि लोग इसे 'नयचक्र' नाम से ही पुकारेंगे, तथापि अन्य नयचक्रों से पृथक् दिखने के लिए 'परमभावप्रकाशक' विशेषण आवश्यक है।

जब मैं इसकी विषयवस्तु पर गहराई से दृष्टि डालता हूँ तो एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि मेरी आध्यात्मिक रुचि के अनुरूप इसमें सर्वाधिक प्रकाश 'परमभाव' पर ही पड़ा है। वह परमभाव किसी भी प्रकरण में ओझल नहीं होने पाया है, वह इस कृति में सर्वत्र ही प्रकाशमान है, क्योंकि मेरी दृष्टि में मोक्षमार्ग का मूल तो एकमात्र 'परमभाव' ही है, इसके आश्रय लेने से ही निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्ग प्रकट होता है, अतः यह परमभाव ही एकमात्र परमश्रद्धेय है, परमज्ञेय है एवं परमध्येय है।

नयों के अध्ययन का मूल प्रयोजन भी निज परमभाव को जानकर, मानकर, उसमें ही जमना-रमना है, क्योंकि उसके ही आश्रय से सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो भी आत्मार्थी इस नयचक्र का गहराई से अध्ययन करेंगे, उन्हें निश्चित रूप से परमभाव की प्राप्ति होगी।

अतः प्रत्येक आत्मार्थी से अनुरोध है कि वे एकबार नहीं, अनेकबार इसका गहराई से अध्ययन अवश्य करें।

१५ अगस्त, १९८९

—डा० हुकमचंद भारिल्ल

# विषय-सूची

**क्रम सं.** **पृष्ठ संख्या**

१. प्रकाशकीय ३
२. अपनी बात ७
३. मंगलाचरण १७

**प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश**

४. नयज्ञान की आवश्यकता १९
५. नय का सामान्य स्वरूप २३
६. नयों की प्रमाणिकता २९
७. मूल नय कितने ३३

**द्वितीय अध्याय : निश्चय और व्यवहार**

८. निश्चय व्यवहार : स्वरूप और विषयवस्तु ३८
९. निश्चय-व्यवहार : कुछ प्रश्नोत्तर ६९
१०. निंश्चयनय : भेद-प्रभेद ७६
११. निश्चयनय : कुछ प्रश्नोत्तर ८८
१२. व्यवहारनय : भेद-प्रभेद १११
१३. व्यवहारनय : कुछ प्रश्नोत्तर १२८
१४. पंचाध्यायी के अनुसार व्यवहारनय के भेद-प्रभेद १५२
१५. निश्चय-व्यवहार : विविध प्रयोग प्रश्नोत्तर १६८

**तृतीय अध्याय : द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक**

१६. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक : स्वरूप और विषय वस्तु १८६
१७. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक : कुछ प्रश्नोत्तर १९९
१८. द्रव्यार्थिकनय : भेद-प्रभेद २१४
१९. पर्यायार्थिक नय : भेद-प्रभेद २२८

**चतुर्थ अध्याय : नैगमादि सप्तनय**

२०. ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय २३३
२१. ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय : नैगमादि सप्तनयों के रूप में २४०

२२. नैगमादि सप्तनय : स्वरूप एवं भेद-प्रभेद २४२
(१) नैगमनय, (२) संग्रहनय, (३) व्यवहारनय, (४) ऋजुसूत्रनय, (५) शब्दनय, (६) समभिरूढ़नय, (७) भूतनय

पंचम अध्याय : सैंतालीस नय

२३. सैंतालीसनय : नाम एवं सामान्य परिचय २७८
(१-२) द्रव्यनय और पर्यायनय (३-४-५) अस्तित्व, नास्तित्व एवं अस्तित्व नास्तित्व नय (६) अवक्तव्य नय (७-८-९) अस्तित्व अवक्तव्य, नास्तित्व अवक्तव्य एवं अस्तित्व-नास्तित्व अवक्तव्य नय (१०-११) विकल्पनय और अविकल्पनय (१२-१३-१४-१५) नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय (१६-१७) सामान्य नय और विशेषनय (१८-१९) नित्यनय और अनित्यनय (२०-२१) सर्वगतनय और अर्वगतनय (२२-२३) शून्यनय और अशून्यनय (२४-२५) ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय द्वैतनय (२६-२७) नियतिनय और अनियतिनय (२८-२९) स्वभावनय और अस्वभावनय (३०-३१) कालनय और अकालनय (३२-३३) पुरुषकारनय और द्वैवनय (३४-३५) ईश्वरनय और अनीश्वरनय (३६-३७) गुणीनय और अगुणीनय (३८-३९) कर्तृनय और अकर्तृनय (४०-४१) भोक्तृनय और अभोक्तृनय (४२-४३) क्रियानय और ज्ञान नय (४४-४५) व्यवहारनय और निश्चयनय (४६-४७) अशुद्धनय और शुद्धनय
२४. षष्ट अध्याय : सप्तभंगी ३४३
२५. सप्तम् अध्याय : अनेकान्त और स्याद्वाद ३५७
२६. उपसंहार ३६८
२७. संदर्भ ग्रंथ सूची ३७०
२८. अभिमत ३७३

—o—

# परमभाव प्रकाशक
# नयचक्र

5429

## मंगलाचरण

जो एक शुद्ध विकारवर्जित,
अचल परम पदार्थ है।
जो एक ज्ञायकभाव निर्मल,
नित्य निज परमार्थ है॥
जिसके दरश व जानने,
का नाम दर्शन ज्ञान है।
हो नमन उस परमार्थ को,
जिसमें चरण ही ध्यान है॥ १॥

निज आत्मा को जानकर,
पहिचानकर जमकर अभी।
जो बन गये परमात्मा,
पर्याय में भी वे सभी॥
वे साध्य हैं, आराध्य हैं,
आराधना के सार हैं।
हो नमन उन जिनदेव को,
जो भवजलधि के पार हैं॥ २॥

भवचक्र से जो भव्यजन को,
सदा पार उतारती।
जगजालमय एकान्त को,
जो रही सदा नकारती ॥
निजतत्त्व को पाकर भविक,
जिसकी उतारें आरती।
नयचक्रमय उपलब्ध नित,
यह नित्यबोधक भारती ॥ ३ ॥

नयचक्र के संचार में,
जो चतुर हैं, प्रतिबुद्ध हैं।
भवचक्र के संहार में,
जो प्रतिसमय सन्नद्ध हैं ॥
निज आत्मा की साधना में,
निरत तन मन नगन हैं।
भव्यजन के शरण जिनके,
चरण उनको नमन है ॥ ४ ॥

कर कर नमन निजभाव को,
जिन जिनगुरु जिनवचन को।
निजभाव निर्मलकरन को,
जिनवरकथित नयचक्र को ॥
निजबुद्धिबल अनुसार,
प्रस्तुत कर रहा हूँ विज्ञजन !
ध्यान रखना चाहिए,
यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥ ५ ॥

* * *

प्रथम अध्याय

# विषय-प्रवेश

## नयज्ञान की आवश्यकता

जिनागम के मर्म को समझने के लिए नयों का स्वरूप समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; क्योंकि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। नयों को समझे बिना जिनागम का मर्म जान पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी संभव नहीं है।

जिनागम के अभ्यास (पठन-पाठन) में सम्पूर्ण जीवन लगा देने वाले विद्वज्जन भी नयों के सम्यक् प्रयोग से अपरिचित होने के कारण जब जिनागम के मर्म तक नहीं पहुँच पाते, तब सामान्यजन की तो बात ही क्या करना?

'धवला' में कहा है :–

"**णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि ।**
**तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ।।**[1]

जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण होते हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिए।"

'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' में भी कहा है :–

"**जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि ।**
**वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति ।।१८१।।**

जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को नहीं जानने वाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?"

अनादिकालीन मिथ्यात्व की ग्रंथि का भेदन आत्मानुभवन के बिना संभव नहीं है, और आत्मानुभवन आत्मपरिज्ञानपूर्वक होता है। अनन्त-धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तस्वरूप आत्मा का सम्यक्ज्ञान नयों के द्वारा ही होता है।

---

[1] धवला पु० १, खण्ड १, भाग १, गाथा ६८ (जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश भाग २, पृष्ठ ५१८)

अनेकान्त को नयमूलक कहा गया है।[1] अतः यह निश्चित है कि मिथ्यात्व की ग्रंथि का भेदन चतुराई से चलाये गये नयचक्र से ही संभव है।

नयों की चर्चा को ही सब झगड़ों की जड़ कहनेवालों को उक्त आगम-वचनों पर ध्यान देना चाहिए। नयों का सम्यक्ज्ञान तो बहुत दूर, नयों की चर्चा से भी अरुचि रखने वाले कुछ लोग यह कहते कहीं भी मिल जावेंगे कि "समाज में पहिले तो कोई झगड़ा नहीं था, सब लोग शांति से रहते थे, पर जब से निश्चय-व्यवहार का नया चक्कर चला है, तब से ही गाँव-गाँव में झगड़े आरंभ हो गए हैं।"

ये लोग जानबूझकर 'नयचक्र' को 'नया चक्कर' कहकर मजाक उड़ाते हैं, समाज को भड़काते हैं। जहां एक ओर कुछ लोग नयज्ञान का ही विरोध करते दिखाई देते हैं, वहाँ दूसरी ओर भी कुछ लोग नयों के स्वरूप और प्रयोगविधि में परिपक्वता प्राप्त किये बिना ही उनका यद्वा-तद्वा प्रयोग कर समाज के वातावरण को अनजाने ही दूषित कर रहे हैं।

उन्हें भी इस ओर ध्यान देना चाहिए कि आचार्य अमृतचंद्र ने जिनेन्द्र भगवान के नयचक्र को अत्यन्त तीक्ष्णधारवाला और दुःसाध्य कहा है।[2] पर ध्यान रखने की बात यह है कि दुःसाध्य कहा है, असाध्य नहीं। अतः निराश होने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु सावधानीपूर्वक समझने की आवश्यकता अवश्य है; क्योंकि वह नयचक्र अत्यन्त ही तीक्ष्ण धारवाला है। यदि उसका सही प्रयोग करना नहीं आया तो लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है।

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के ५९वें श्लोक की टीका के भावार्थ में सचेत करते हुए आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी लिखते हैं :—

"जैनमत का नयभेद समझना अत्यन्त कठिन है। जो कोई मूढ़ पुरुष बिना समझे नयचक्र में प्रवेश करता है, वह लाभ के बदले हानि उठाता है।"

वीतरागी जिनधर्म के मर्म को समझने के लिए नयचक्र में प्रवेश अर्थात् नयों का सही स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है; उनके प्रयोग की विधि से मात्र परिचित होना ही आवश्यक नहीं, अपितु उसमें कुशलता प्राप्त करना जरूरी है।

---

[1] जह सत्थाणं माई सम्मत्तं जह तवाइगुणणिलए ।
धाउवाए रसो तह णयमूलं अणेयंते ।।

जैसे शास्त्रों का मूल अकारादि वर्ण हैं, तप आदि गुणों के भंडार साधु में सम्यक्त्व है, धातुवाद में पारा है; वैसे ही अनेकान्त का मूल नय है। —द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १७५

[2] अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

जिसप्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाली तलवार से बालकवत् खेलना खतरे से खाली नहीं है; उसीप्रकार अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाले नयचक्र का यद्वा-तद्वा प्रयोग भी कम खतरनाक नहीं है। जिसप्रकार यदि तलवार चलाना सीखना है तो सुयोग्य गुरु के निर्देशन में विधिपूर्वक सावधानी से सीखना चाहिए; उसी प्रकार नयों की प्रयोगविधि में कुशलता प्राप्त करने के लिए भी नयचक्र के संचालन में चतुर गुरु ही शरण हैं। कहा भी है :–

**गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः ।**[1]

क्योंकि :–

**"मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।**
**व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ।।**[2]

मुख्य और उपचार कथन से शिष्यों के दुर्निवार अज्ञानभाव को नष्ट कर दिया है जिन्होंने और जो निश्चय-व्यवहार नयों के विशेषज्ञ हैं, वे गुरु ही जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।"

जिनोदित नयचक्र की विस्तृत चर्चा करने के पूर्व सभी पक्षों से मेरा हार्दिक अनुरोध है कि अरे भाई ! जैनदर्शन की इस अद्भुत कथनशैली को चक्कर मत कहो, यह तो संसारचक्र से निकालने वाला अनुपम चक्र है। इसे समझने का सही प्रयत्न करो, इसे समझे बिना संसार के दु:खों से बचने का कोई उपाय नहीं है। इसे मजाक की वस्तु मत बनाओ, सामाजिक राजनीति में भी इस गंभीर विषय को मत घसीटो। इसका यद्वा-तद्वा प्रयोग भी मत करो, इसे समझो; इसकी प्रयोगविधि में कुशलता प्राप्त करो—इसमें ही सार है और सब तो संसार है व संसार-परिभ्रमण का ही साधन है।

नयों के स्वरूपकथन की आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए आचार्य देवसेन लिखते हैं :–

**"यद्यप्यात्मा स्वभावेन नयपक्षातीतस्तथापि स तेन बिना तथाविधो न भवितुमर्हत्यनादिकर्मवशादसत्कल्पनात्मकत्वादतो नयलक्षणमुच्यते ।।**[3]

यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह आत्मा नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत होने में समर्थ नहीं है, अर्थात् विकल्पात्मक नयज्ञान के बिना निर्विकल्पक (नयपक्षातीत) आत्मानुभूति संभव नहीं है; क्योंकि

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५८

[2] वही, श्लोक ४

[3] श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ २९

अनादिकालीन कर्मवश से यह असत्कल्पनाओं में उलझा हुआ है। अतः सत्कल्पनारूप अर्थात् सम्यक् विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं।"

नयों के स्वरूप को जानने की प्रेरणा देते हुए माइल्लधवल लिखते हैं :–

**"जइ इच्छह उत्तरिदुं अण्णाणमहोवहिं सुलीलाए ।**
**ता णादुं कुणह मइं णयचक्के दुणयतिमिरमत्तण्डे ।।**[1]

यदि लीला मात्र से अज्ञानरूपी समुद्र को पार करने की इच्छा है तो दुर्नयरूपी अंधकार के लिए सूर्य के समान नयचक्र को जानने में अपनी बुद्धि को लगाओ।"

क्योंकि :–

**"लवणं व इणं भणियं णयचक्कं सयलसत्थसुद्धियरं ।**
**सम्मा वि य सुअ मिच्छा जीवाणं सुणयमग्गरहियाणं ।।**[2]

जैसे नमक सब व्यंजनों को शुद्ध कर देता है, सुस्वाद बना देता है; वैसे ही समस्त शास्त्रों की शुद्धि का कर्त्ता इस नयचक्र को कहा है। सुनय के ज्ञान से रहित जीवों के लिए सम्यक्श्रुत भी मिथ्या हो जाता है।"

—o—

### कथन अनेक : प्रयोजन एक

कथन तो नानाप्रकार के हों और एक ही प्रयोजन का पोषण करें तो कोई दोष नहीं, परन्तु कहीं किसी प्रयोजन का और कहीं किसी प्रयोजन का पोषण करें तो दोष ही है। अब जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है; इसलिए कहीं बहुत रागादि छुड़ाकर थोड़े रागादि कराने के प्रयोजन का पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि मिटाने के प्रयोजन का पोषण किया है; परन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं नहीं है, इसलिए जिनमत का सर्वकथन निर्दोष है।...............

लोक में भी (कोई) एक प्रयोजन का पोषण करनेवाले नाना कथन कहे, उसे प्रामाणिक कहा जाता है और अन्य-अन्य प्रयोजन का पोषण करने वाली बात करे, उसे बावला कहते हैं। तथा जिनमत में नानाप्रकार के कथन हैं, सो भिन्न-भिन्न अपेक्षासहित हैं, वहाँ दोष नहीं है।

– मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ३०२-३०३

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ४१९

[2] वही, गाथा ४१७

# नय का सामान्य स्वरूप

'स्याद्' पद से मुद्रित परमागमरूप श्रुतज्ञान के भेद नय हैं। यद्यपि श्रुतज्ञान एक प्रमाण है, तथापि उसके भेद नय हैं। इसी कारण श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहा गया है। ज्ञाता के अभिप्राय को भी नय कहा जाता है। प्रमाण सर्वग्राही होता है और नय अंशग्राही; तथा नय, प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ के एक अंश को अपना विषय बनाता है।

'आलापपद्धति' में नय का स्वरूप इसप्रकार स्पष्ट किया गया है :–

"**प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः श्रुतविकल्पो वा ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः। नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः।**

प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने का नाम नय है अथवा श्रुतज्ञान का विकल्प नय है अथवा ज्ञाता का अभिप्राय नय है अथवा नाना स्वभावों से वस्तु को पृथक् करके जो एकस्वभाव में वस्तु को स्थापित करता है, वह नय है।"

अनन्तधर्मात्मक होने से वस्तु बड़ी जटिल है। उसंको जाना जा सकता है, पर कहना कठिन है; अतः उसके एक-एक धर्म का क्रमपूर्वक निरूपण किया जाता है। कौन धर्म पहिले और कौन धर्म बाद में कहा जाय–इसका कोई नियम नहीं है।

अतः ज्ञानी वक्ता अपने अभिप्रायानुसार जब एक धर्म का कथन करता है, तब कथन में वह धर्म मुख्य और अन्य धर्म गौण रहते हैं।

इस अपेक्षा से ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।

'तिलोयपण्णत्ति' में कहा है :–

"**णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हिदियभावत्थो ।**[1]

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।"

कहीं-कहीं वक्ता के अभिप्राय को भी नय कहा गया है।[2]

मुख्य धर्म को विवक्षित धर्म और गौण धर्म को अविवक्षित धर्म कहते हैं;

---

[1] तिलोयपण्णत्ति, अधिकार अ० १, गाथा ८३

[2] स्याद्वादमंजरी, श्लोक २८ की टीका

पर ध्यान रहे नयों के कथन में अविवक्षित धर्मों की गौणता ही अपेक्षित है, निषेध नहीं। निषेध अपेक्षित होने पर वह नय नहीं रह पावेगा, नयाभास हो जावेगा।

'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में नय की परिभाषा में 'अनिराकृतप्रतिपक्ष' विशेषण डालकर 'गौण' शब्द का भाव अत्यन्त सफलतापूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है। आशय यह है कि जिन धर्मों को प्रतिपक्ष मानकर गौण किया गया है, उनका निराकरण नहीं किया गया है, अपितु उनके संबंध में मौन रखा गया है, उनका विधि-निषेध कुछ भी नहीं किया गया है, उनके बारे में चुप्पी ही गौणता का रूप है।

मार्तण्डकार की परिभाषा इसप्रकार है :–

"**अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।**[1]

प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।"

यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, अपितु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु में तो सभी धर्म प्रतिसमय अपनी पूर्ण हैसियत से विद्यमान रहते हैं, उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है—क्योंकि वस्तु में तो अनन्त गुणों को ही नहीं, परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनन्त धर्म-युगलों को भी अपने में धारण करने की शक्ति है। वे तो वस्तु में अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे भी। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने के कारण वाणी में विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।

इस कारण ही वक्ता के अभिप्राय को नय कहा गया है।

नय ज्ञानात्मक भी होते हैं और वचनात्मक भी। जहाँ ज्ञानात्मक नय अपेक्षित हों वहाँ ज्ञाता के अभिप्राय को और जहाँ वचनात्मक नय अपेक्षित हों वहाँ वक्ता के अभिप्राय को नय कहा जाता है।

तथा नय सम्यक्श्रुतज्ञान के भेद होने से उनका वक्ता भी ज्ञानी होना आवश्यक है; अतः ज्ञानी वक्ता के अभिप्राय को नय कहा जाता है। इसलिए चाहे ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहो, चाहे वक्ता के अभिप्राय को नय कहो – एक ही बात है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब नय श्रुतज्ञान के भेद हैं तो फिर वे

---

[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ६७६

वचनात्मक कैसे हो सकते हैं?

श्रुत को भी द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के भेद से दो प्रकार का माना गया है। आचार्य समन्तभद्र ने श्रुतज्ञान को 'स्याद्वाद' शब्द से भी अभिहित किया है।[1]

मति आदि पाँच ज्ञानों में नय श्रुतज्ञान में और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में आगमप्रमाण में आते हैं। आगम को द्रव्यश्रुत भी कहते हैं।

द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के समान नयों के भी द्रव्यनय और भावनय - ऐसे दो भेद किये गए हैं।

पंचाध्यायीकार लिखते हैं :-

**"द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद् द्विधा च सोऽपि यथा ।**
**पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदति जीवगुणः ।।[2]**

यह नय द्रव्यनय और भावनय के भेद से दो प्रकार का है। पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय हैं और जीव का चैतन्यगुण भावनय है।"

अतः नयों के वचनात्मक होने में कोई विरोध नहीं है।

न्यायशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव नय को प्रमाण से प्रकाशित पदार्थ को प्रकाशित करने वाला बताते हैं :-

**"प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः ।[3]**

प्रमाण द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करनेवाला नय है।"

नयचक्रकार माइल्लधवल भी लिखते हैं :-

**"णाणासहावभरियं वत्थुं गहिऊण तं पमाणेण ।**
**एयंतणासणट्ठं पच्छा णयजुंजणं कुणह ।।[4]**

अनेक स्वभावों से परिपूर्ण वस्तु को प्रमाण के द्वारा ग्रहण करने के पश्चात् एकान्तवाद का नाश करने के लिए नयों की योजना करनी चाहिए।"

धवलाकार तो नयों की उत्पत्ति ही प्रमाण से मानते हैं। अपनी बात सिद्ध करते हुए वे लिखते हैं :-

**"पमाणादो णयाणमुप्पत्ती, अणवगयट्ठेगुणप्पहाणभावाहिप्पायाणुप्पत्तीदो ।[5]**

प्रमाण से नयों की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वस्तु के अज्ञात होने पर, उसमें

---

[1] आप्तमीमांसा, श्लोक १०५

[2] पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, श्लोक ५०५

[3] तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ३३

[4] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १७२

गौणता और मुख्यता का अभिप्राय नहीं बनता।''

'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' में नय की परिभाषा इसप्रकार दी गई है :–

**''जं णाणीण वियप्पं सुवासयं वत्थुअंससंगहणं ।**
**तं इह णयं पउत्तं णाणी पुण तेण णाणेण।।१७३।।**

श्रुतज्ञान का आश्रय लिये हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं। और उस ज्ञान से जो युक्त होता है, वह ज्ञानी है।''

अन्य बातें सामान्य होने पर भी इसमें यह विशेषता है कि एक ओर तो ज्ञानी के विकल्प को नय कहा गया है और दूसरी ओर नय-ज्ञान से युक्त आत्मा को ज्ञानी माना गया है।

इसका मूलभाव यही प्रतीत होता है कि वे इस बात पर बल देना चाहते हैं कि सम्यक्नय ही नय हैं और वह नय ज्ञानी के ही होते हैं, अज्ञानी के नहीं। अज्ञानी के नय नय नहीं, नयाभास हैं।

यद्यपि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, तथापि नय उसके किसी एक धर्म को ही अपना विषय बनाता है। जिस धर्म को वह विषय बनाता है, वह मुख्य और अन्य धर्म गौण रहते हैं।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में स्पष्ट लिखा है :–

**''णाणाधम्मजुदं पि य धम्मं पि वुच्चदे अत्थं ।**
**तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।।**[1]

यद्यपि पदार्थ नाना धर्मों से युक्त होता है, तथापि नय उसके एक धर्म को ही कहता है, क्योंकि उस समय उस धर्म की ही विवक्षा रहती है, शेष धर्मों की नहीं।''

वस्तु में अनन्त धर्म ही नहीं, अपितु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्त धर्म-युगल भी हैं। परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों में से एक धर्म को ही नय धारण करता है—इस तथ्य को ध्यान में रखकर पंचाध्यायीकार नय की चर्चा इसप्रकार करते हैं :–

**''इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।**
**तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः।।**[2]

जिसका लक्षण कहा गया है - ऐसे दो विरुद्ध धर्मवाले तत्त्व में किसी एक धर्म का वाचक नय होता है।''

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६४

[2] पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, श्लोक ५०४

इन सब बातों को धवलाकार ने और भी अधिक स्पष्ट करने का यत्न किया है, जो कि इसप्रकार है :–

**"को नयो नाम?**

**ज्ञातुरभिप्रायो नयः।**

**अभिप्राय इत्यस्य कोऽर्थः?**

**प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायः अभिप्रायः। युक्तितः प्रमाणात् अर्थपरिग्रहः द्रव्यपर्याययोरन्यतरस्य अर्थ इति परिग्रहो वा नयः। प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुनः द्रव्ये पर्याये वा वस्त्वध्यवसायो नय इति यावत्।** [१]

**प्रश्न** :–नय किसे कहते हैं?

**उत्तर** :–ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

**प्रश्न** :–'अभिप्राय'-इसका क्या अर्थ है?

**उत्तर** :–प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश में वस्तु का निश्चय ही अभिप्राय है। युक्ति अर्थात् प्रमाण से अर्थ ग्रहण करने अथवा द्रव्य और पर्यायों में से किसी एक को ग्रहण करने का नाम नय है। अथवा प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में अर्थात् सामान्य या विशेष में वस्तु के निश्चय को नय कहते हैं ऐसा अभिप्राय है।"

नयों का कथन सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं; क्योंकि वे वस्तु के अंश-निरूपक हैं। नयों के कथन के साथ यदि अपेक्षा न लगाई जावे तो जो बात वस्तु के अंश के बारे में कही जा रही है, उसे सम्पूर्ण वस्तु के बारे में समझ लिया जा सकता है, जो कि सत्य नहीं होगा। जैसे हम कहें 'आत्मा अनित्य है'; यह कथन पर्याय की अपेक्षा तो सत्य है, पर यदि इसे द्रव्यपर्यायात्मक आत्मवस्तु के बारे में समझ लिया जाय तो सत्य नहीं होगा; क्योंकि द्रव्यपर्यायात्मक आत्मवस्तु तो नित्यानित्यात्मक है।

इसीलिए कहा है :–

**"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्।।** [२]

निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् व सार्थक होते हैं।"

और भी :–

**"ते सावेक्खा सुणया णिखेक्खा ते वि दुण्णया होंति ।** [३]

---

[१] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ५१३

[२] आचार्य समन्तभद्र: आप्तमीमामा, कारिका १०८

[३] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६६

वे नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं।"

और भी अनेक शास्त्रों में नयों की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। उन सबको यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनमें वे ही बातें हैं जो कि समग्ररूप से उक्त कथनों में आ जाती हैं।

उक्त समस्त कथनों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर निम्नानुसार तथ्य प्रतिफलित होते हैं :–

१. नय स्याद्वादरूप सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश हैं।
२. नयों की प्रवृत्ति प्रमाण द्वारा जाने हुए पदार्थ के एक अंश में होती है।
३. अनन्तधर्मात्मक पदार्थ के कोई एक धर्म को अथवा परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्म-युगलों में से कोई एक धर्म को नय अपना विषय बनाता है।
४. वस्तु के किस धर्म को विषय बनाया जावे - यह ज्ञानी वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर करता है।
५. नय ज्ञानी के ही होते हैं।
६. ज्ञानी वक्ता जिसको विषय बनाता है, उसे विवक्षित कहते हैं।
७. नयों के कथन में विवक्षित धर्म मुख्य होता है और अन्य धर्म गौण रहते हैं।
८. नय गौण धर्मों का निराकरण नहीं करता, मात्र उनके सम्बन्ध में मौन रहता है।
९. नय ज्ञानात्मक भी होते हैं और वचनात्मक भी।
१०. सापेक्ष नय ही सम्यक्नय में होते हैं, निरपेक्ष नहीं।

जिन नयों के प्रयोग में उक्त तथ्य न पाये जावें, वस्तुतः वे नय नहीं हैं; नयाभास हैं।

—o—

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है। अतः आत्मार्थी को धर्म को शब्दों में रटने के बजाय जीवन में उतारना चाहिए, धर्ममय हो जाना चाहिए।

—तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ५२

# नयों की प्रामाणिकता

वस्तुस्वरूप के अधिगम एवं प्रतिपादन में नयों का प्रयोग जैनदर्शन की मौलिक विशेषता है। अन्य दर्शनों में नय नाम की कोई चीज ही नहीं है; सर्वत्र प्रमाण की ही चर्चा है।

जैनदर्शन में तत्त्वार्थों के अधिगम के उपायों की चर्चा में प्रमाण और नय-दोनों का समानरूप से उल्लेख है।[१]

अतः यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि नय प्रमाण हैं या अप्रमाण। यदि अप्रमाण हैं तो उनके प्रयोग से क्या लाभ है? और यदि प्रमाण हैं तो प्रमाण से भिन्न हैं या अभिन्न? यदि अभिन्न हैं तो फिर उनके अलग उल्लेख की आवश्यकता नहीं और भिन्न हैं तो फिर नय प्रमाण कैसे हो सकते हैं, अप्रमाण ही रहे।

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य विद्यानन्दि इसप्रकार देते हैं :-

**"नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।**
**स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ।।**[२]

नय न तो अप्रमाण है और न प्रमाण है, किन्तु ज्ञानात्मक है, अतः प्रमाण का एकदेश है—इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।"

इसी बात को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी लिखते हैं :-

"शंकाकार कहता है कि यदि नय प्रमाण से भिन्न है तो वह अप्रमाण ही हुआ, क्योंकि प्रमाण से भिन्न अप्रमाण ही होता है। एक ज्ञान प्रमाण भी न हो और अप्रमाण भी न हो-ऐसा तो सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी को प्रमाण न मानने पर अप्रमाणता अनिवार्य है; और अप्रमाण न मानने पर प्रमाणता अनिवार्य है; दूसरी कोई गति नहीं है।

इसका उत्तर देते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि प्रमाणता और अप्रमाणता के सिवाय भी एक तीसरी गति है। वह है प्रमाणैकदेशता—प्रमाण का एक-देशपना। प्रमाण का एकदेश न तो प्रमाण ही है, क्योंकि प्रमाण का

---

[१] 'प्रमाणनयैरधिगमः' : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ६

[२] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : नयविवरण, श्लोक १०

एकदेश प्रमाण से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है; और न अप्रमाण ही है, क्योंकि प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। देश और देशी में कथंचित् भेद माना गया है।"[१]

'श्लोकवार्तिक' में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है, वह इसप्रकार है:—

"**स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत् ।**
**स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः ।।४।।**
**नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः ।**
**नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ।।५।।**
**तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता ।**
**समुद्रबहुता वा स्यात्तत्त्वे क्वाऽस्तु समुद्रवत् ।।६।।**
**यथांशिनि प्रवृत्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता ।**
**तथांशेष्वपि किन्न स्यादिति मानात्मको नयः ।।७।।**
**तन्नांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ ।**
**द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ।।८।।**
**धर्मधर्मिसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः ।**
**प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ।।९।।**[२]

स्व और अर्थ का निश्चायक होने से नय प्रमाण ही है—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि स्व और अर्थ के एकदेश को जानना नय का लक्षण है।।४।।

वस्तु का एकदेश न तो वस्तु है और न अवस्तु है। जैसे—समुद्र के अंश को न तो समुद्र कहा जाता है और न असमुद्र कहा जाता है। यदि समुद्र का एक अंश समुद्र है तो शेष अंश असमुद्र हो जायेगा और यदि समुद्र का प्रत्येक अंश समुद्र है तों बहुत से समुद्र हो जायेंगे और ऐसी स्थिति में समुद्र का ज्ञान कहाँ हो सकता है? ।।५-६।।

जैसी अंशी वस्तु में प्रवृत्ति करने वाले ज्ञान को प्रमाण माना जाता है, वैसे ही वस्तु के अंश में प्रवृत्ति करने वाले अर्थात् जाननेवाले नय को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता; अतः नय प्रमाणस्वरूप ही है? ।।७।।

उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि जिस अंशी या धर्मी में उसके सब अंश या धर्म गौण हो जाते हैं, उस अंशी में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की ही

---

[१] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, श्लोक १० की व्याख्या, पृष्ठ २३१-२३२

[२] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक : नयविवरण, श्लोक ४ से ९

प्रवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा अंशी द्रव्यार्थिकनय का विषय है; अतः उसका ज्ञान नय है। और धर्म तथा धर्मी के समूहरूप वस्तु के धर्मों और धर्मी दोनों को प्रधानरूप से जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

अतः नय प्रमाण से भिन्न है।।८-९।।"

प्रमाण और नय का अन्तर स्पष्ट करते हुए धवलाकार लिखते हैं :–

**"किं च न प्रमाणं नयः, तस्यानेकान्तविषयत्वात्। न नयः प्रमाणं, तस्यैकान्तविषयत्वात्।**[1]

प्रमाण नय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय अनेकान्त अर्थात् अनेकधर्मात्मक वस्तु है और न नय प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उसका विषय एकान्त अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु का एक अंश (धर्म) है।"

प्रमाणशास्त्र के विशेषज्ञ आचार्य अकलंकदेव तो नय को सम्यक्-एकान्त और प्रमाण को सम्यक्-अनेकान्त घोषित करते हुए लिखते हैं:–

**"सम्यगेकान्तो नय इत्युच्यते। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्। नयार्पणादेकान्तो भवति एकनिश्चयप्रवणत्वात्, प्रमाणार्पणादनेकान्तो भवति अनेकनिश्चयाधिकरणत्वात्।**[2]

सम्यगेकान्त नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। नयविवक्षा वस्तु के एक धर्म का निश्चय करानेवाली होने से एकान्त है और प्रमाणविवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों की निश्चयस्वरूप होने के कारण अनेकान्त है।"

प्रमाण सर्वनय-रूप होता है, क्योंकि नयवाक्यों में 'स्यात्' शब्द लगाकर बोलने को प्रमाण कहते हैं।[3] अस्तित्वादि जितने भी वस्तु के निज स्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण करनेवाला प्रमाण है और उन्हें गौण-मुख्य भाव से ग्रहण वाला नय है।[4]

प्रमाण और नय को उदाहरण सहित स्पष्ट करते हुए पंचाध्यायीकार लिखते हैं :–

**"तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम्।**
**गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम्।।**

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग २, पृष्ठ ५१६
२. तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६
३. स्याद्वादमंजरी, श्लोक २८, पृष्ठ ३२१
४. बृहन्नयचक्र (देवसेन-कृत), गाथा ७१

**यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।**
**गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ।।**[1]

'तत्त्व अनिर्वचनीय है'—यह शुद्धद्रव्यार्थिकनय का पक्ष है। 'द्रव्य गुण-पर्यायवान है'—यह पर्यायार्थिकनय का पक्ष है। और 'जो यह अनिर्वचनीय है, वही गुण-पर्यायवान है, कोई अन्य नहीं और जो यह गुण-पर्यायवान है, वही तत्त्व है'—ऐसा प्रमाण का पक्ष है।''

यद्यपि इसप्रकार हम देखते हैं कि नय प्रमाण से भिन्न है, तथापि उसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है। वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में वह प्रमाण के समान ही प्रमाण (प्रामाणिक) है।

जैनदर्शन की इस अनुपम कथनशैली को अप्रमाण समझकर उपेक्षा करना उचित नहीं है, अपितु इसे भलीभाँति समझकर इस शैली में प्रतिपादित जिनागम और जिन-अध्यात्म का रहस्य समझने का सफल यत्न किया जाना चाहिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इसके जाने बिना जैनदर्शन का मर्म समझ पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी संभव नहीं है।

—o—

## हन्त हस्तावलंबः

**व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-**
**मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलंबः ।**
**तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं**
**परविरहितमंतः पश्यतां नैष किञ्चित् ।।५।।**

यद्यपि प्रथम पदवी में पैर रखनेवाले पुरुषों के लिए अर्थात् जबतक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक, अरे रे ! (खेदपूर्वक) व्यवहारनय को हस्तावलम्बन तुल्य कहा है; तथापि जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र, परद्रव्य के भावों से रहित, परम-अर्थस्वरूप भगवान आत्मा को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, उसरूप लीन होकर घारित्रभाव को प्राप्त होते हैं; उन्हें यह व्यवहार-नय किञ्चित् भी प्रयोजनवान नहीं है ।

**— आत्मख्याति (समयसार टीका), कलश ५**

---

[1] पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, गाथा ७४७–७४८

## मूलनय : कितने ?

जिनागम में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर नयों के भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में किया गया है। यदि एक स्थान पर दो नयों की चर्चा है तो दूसरी जगह तीन प्रकार के नयों का उल्लेख मिलता है। इसीप्रकार यदि तत्त्वार्थसूत्र में सात नयों की बात आती है[१] तो प्रवचनसार में ४७ नय बताये गए हैं।[२]

'गोम्मटसार' व 'सन्मतितर्क' में तो यहाँ तक लिखा है :–

"**जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति नयवादा।**[३]

जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं अर्थात् नय के भेद हैं।"

'श्लोकवार्तिक' के 'नयविवरण' में श्लोक १७ से १९ तक आचार्य विद्यानन्दि लिखते हैं कि नय सामान्य से एक, विशेष में–संक्षेप में दो, विस्तार से सात और अति विस्तार से संख्यात भेद वाले हैं।

धवलाकार कहते हैं कि अवान्तर भेदों की अपेक्षा नय असंख्य प्रकार के हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है :–

"**एवमेते संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येयाः।**[४]

इसतरह संक्षेप में नय सात प्रकार के हैं और अवान्तर भेदों से असंख्यात प्रकार के समझना चाहिए।"

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार नय अनन्त भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं; अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त-विकल्परूप हो जाते हैं।[५]

प्रवचनसार में भी अनन्त नयों की चर्चा है।[६]

नयचक्र भी उतना ही जटिल है जितनी कि उसकी विषयभूत

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३३

२. प्रवचनसार, परिशिष्ट

३. (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ८९४

(ख) सन्मतितर्क, कारिका ३, गाथा ४७

४. धवला, पुस्तक १, खंड १, भाग १, सूत्र १, पृष्ठ ९१

५. सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १०२

६. प्रवचनसार, परिशिष्ट

अनन्तधर्मात्मक वस्तु। विस्तार तो बहुत है, किन्तु 'नयचक्र' और 'आलाप-पद्धति' में मूलनयों की चर्चा इसप्रकार की गई है :—

**"णिच्छ्यववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं ।**
**णिच्छ्यसाहणहेऊ पज्जयदव्वत्थियं मुणह ।।[1]**

सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार—ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक—ये दोनों निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।"

उक्त छन्द का अर्थ इसप्रकार भी किया गया है :—

"नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार दो भेद माने गये हैं। उसमें निश्चयनय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है- ऐसा समझना चाहिए।"[2]

नयचक्र के उक्त कथन में जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार को मूलनय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसी नयचक्र में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बताया गया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बताने वाली गाथा इसप्रकार है :—

**"दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया ।**
**अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ।।[3]**

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो ही मूलनय कहे हैं, अन्य असंख्यात-संख्या को लिए इनके ही भेद जानना चाहिए।"

इसप्रकार दो दृष्टियाँ सामने आती हैं। एक निश्चय-व्यवहार को मूलनय बताने वाली और दूसरी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों को मूलनय बताने वाली।

दोनों दृष्टियों में समन्वय की चर्चा भी हुई है।

पंचाध्यायीकार ने व्यवहार और पर्यायार्थिक नय को कथंचित् एक बताते हुए कहा है :—

**"पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति।**
**एकार्थो यस्मादिह सर्वोऽप्युपचारमात्रः स्यात् ।।[4]**

पर्यायार्थिक कहो या व्यवहारनय—इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि

---

[1] (क) द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८२
(ख) आलाप-पद्धति, गाथा ३

[2] आचार्य शिवसागर स्मृति ग्रंथ, पृष्ठ ५६१

[3] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८३

[4] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५२१

इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचारमात्र है।"

नयचक्र की गाथा १८२ का दूसरे प्रकार से किया गया उक्त अर्थ भी दोनों में समन्वय का ही प्रयास लगता है।

यद्यपि निश्चयनय को द्रव्याश्रित एवं व्यवहारनय को पर्यायाश्रित बताकर दोनों प्रकार के मूलनयों में समन्वय का प्रयास किया गया है, तथापि यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि निश्चय-व्यवहार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के पर्यायवाची नहीं हैं।

नयचक्र की गाथा १८२ में निश्चय-व्यवहार को सर्वनयों का मूल बताने के तत्काल बाद गाथा १८३ में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को मूलनय बताने से ऐसा लगता है कि ग्रंथकार कुछ विशेष बात कहना चाहते हैं। यदि वे निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को पर्यायवाची मानते होते तो फिर उन्हें अगली ही गाथा में मूलनयों के रूप में उनका पृथक् उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी?

इस संदर्भ में गाथा १८२ की दूसरी पंक्ति महत्त्वपूर्ण है, उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उसमें वे द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहते हैं। यहाँ 'साधन' शब्द का अर्थ 'व्यवहार' किया जा रहा है, जो कि अनुचित नहीं है।

गाथा १८२-१८३ पर ध्यान देने पर ऐसा लगता है कि नयचक्रकार निश्चय-व्यवहार को तो मूलनय मानते ही हैं, साथ ही उनके हेतु होनें से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों को भी मूलनय स्वीकार करते हैं।

यहाँ पर द्रव्यार्थिकनय निश्चयनय का और पर्यायार्थिकनय व्यवहारनय का हेतु है—ऐसा कहने के स्थान पर यह भी कहा जा सकता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों ही नय निश्चय-व्यवहार—दोनों नयों के हेतु हैं। जिनागम में समागत अनेक प्रयोगों से हमारी बात सहज सिद्ध होती है, क्योंकि द्रव्यार्थिक के अनेक भेदों को अध्यात्म में व्यवहार कहा जाता है तथा पर्यायार्थिक के अनेक भेदों का कहीं-कहीं निश्चय के रूप में भी कथन मिल जावेगा।

वस्तुतः यह दो प्रकार की कथन-पद्धतियों के भेद हैं, इन्हें एक-दूसरे से मिलाकर देखने की आवश्यकता ही नहीं है। मुख्यतः अध्यात्म-पद्धति में निश्चय-व्यवहार शैली का प्रयोग होता है और आगम-पद्धति में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक शैली का प्रयोग देखा जाता है।

यद्यपि ये दोनों शैलियाँ भिन्न-भिन्न हैं और इनके प्रयोग भी भिन्न-भिन्नरूप में होते हैं, तथापि इनके प्रयोगों के बीच कोई विभाजन-रेखा खींचना संभव नहीं है, क्योंकि आगम और अध्यात्म व उनके अभ्यासियों में भी ऐसा कोई विभाजन नहीं है। आगमाभ्यासी अध्यात्मी भी होते हैं। इसी प्रकार अध्यात्मी भी आगमाभ्यास करते ही हैं। तथा ग्रंथों में भी इसप्रकार का कोई पक्का विभाजन नहीं है। आगम-ग्रंथों में अध्यात्म की और अध्यात्म-ग्रंथों में आगम की चर्चा पाई जाती है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक पर्यायवाची नहीं हैं, तथापि द्रव्यार्थिक निश्चयनय के और पर्यायार्थिक व्यवहारनय के कुछ निकट अवश्य है।

उक्त सम्पूर्ण चर्चा के उपरान्त भी यह प्रश्न तो खड़ा ही है कि दो मूलनय कौन हैं :—निश्चय-व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक ?

बहुत-कुछ विचार-विमर्श के बाद यही उचित लगता है कि अध्यात्म-शैली के मूलनय निश्चय-व्यवहार हैं और आगम-शैली के मूलनय द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक हैं।

'आलाप-पद्धति'[१] में लिखा है :—

"**पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च।**

फिर भी अध्यात्म-भाषा के द्वारा नयों का कथन करते हैं। मूलनय दो हैं :—निश्चय और व्यवहार।"

इस कथन से भी यह स्पष्ट होता है कि निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं।

उक्त दोनों दृष्टियों को लक्ष्य में रखकर विचार करने पर मूलनय दो-दो के दो युगलों में कुल मिलाकर चार ठहरते हैं :—

(क) १. निश्चय, २. व्यवहार।
(ख) १. द्रव्यार्थिक, २. पर्यायार्थिक।

लगता है कि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहकर ग्रंथकार आगम को अध्यात्म का हेतु कहना चाहते हैं।

---

"१." आलाप-पद्धति, पृष्ठ २२८ (यह लघुग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के अंत में मुद्रित है। उक्त पृष्ठ संख्या इस ग्रंथ के अनुसार दी गई है। आगे भी इसी गति के आधार पर पृष्ठ संख्या दी जावेगी।)

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक आगम के नय हैं और निश्चय-व्यवहार अध्यात्म के नय हैं; अतः यहाँ द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहने से यह सहज ही प्रतिफलित हो जाता है कि आगम अध्यात्म का हेतु है, कारण है, साधन है।

आत्मा का साक्षात् हित करनेवाला तो अध्यात्म ही है, आगम तो उसका सहकारी कारण है—यही बताना उक्त कथन का उद्देश्य भासित होता है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मूलनय निश्चय-व्यवहार ही हैं, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को तो निश्चय-व्यवहार के हेतु होने से मूलनय कहा गया है।

—o—

## तस्य देशना नास्ति

**अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम् ।**
**व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।।६।।**

**माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।**
**व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।७।।**

**व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।**
**प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ।।८।।**

आचार्यदेव अज्ञानीजीवों को ज्ञान उत्पन्न करने के लिए अभूतार्थ व्यवहारनय का उपदेश देते हैं, परन्तु जो केवल व्यवहारनय ही का श्रद्धान करता है, उसके लिए उपदेश नहीं है।

जिसप्रकार जिसने यथार्थ सिंह को नहीं जाना है, उसके लिए बिलाव (बिल्ली) ही सिंहरूप होता है; उसीप्रकार जिसने निश्चय का स्वरूप नहीं जाना है, उसका व्यवहार ही निश्चयता को प्राप्त हो जाता है।

जो जीव व्यवहारनय और निश्चयनय के स्वरूप को यथार्थरूप से जानकर पक्षपातरहित होता है, वही शिष्य उपदेश का सम्पूर्णफल प्राप्त करता है।

**— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६-७-८**

### द्वितीय अध्याय

# निश्चय और व्यवहार

## निश्चय-व्यवहार : स्वरूप और विषय-वस्तु

दिगम्बर जैन समाज में निश्चय और व्यवहार आज के बहुचर्चित विषय हैं। नयों के नाम पर आज जो भी चर्चा होती है, उसमें निश्चय और व्यवहार ही मुख्य विषय रहते हैं। निश्चय और व्यवहार आज शास्त्रीय चर्चा के ही विषय नहीं रहे हैं, अपितु उनके नाम पर पार्टियाँ भी बन गई हैं। शिविरों की चर्चा भी आज जन-साधारण के द्वारा निश्चय और व्यवहार के नाम से की जाने लगी है। यहाँ निश्चय वालों का शिविर लगा है, वहाँ व्यवहार वालों का—इसप्रकार की चर्चा करते लोग आपको कहीं भी मिल जावेंगे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो चर्चा कभी विद्वानों की गोष्ठियों तक में न होती थी, वह आज जन-जन की वस्तु बन गई है। इसका एकमात्र श्रेय यदि किसी को है तो वह श्री कानजी स्वामी को है, जिन्होंने जनोपयोगी जिनागम की इस अद्भुत प्रतिपादन-शैली को घर-घर तक पहुँचा दिया है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहार की शैली में निबद्ध जिनागम का अध्ययन, मनन और चर्चा आज सारा समाज करने लगा है-यह एक शुभ लक्षण है; तथापि एक अशुभ प्रवृत्ति भी इसके साथ पनपने लगी है। वह यह है कि यह कलहप्रिय दिगम्बर जैन समाज पहिले से ही गाँव-गाँव में अपने व्यक्तिगत राग-द्वेषों के कारण गुटों में विभक्त है और निरन्तर किसी न किसी बात को लेकर लड़ता-झगड़ता रहा है। अब वे ही गुट निश्चय-व्यवहार के नाम पर भी लड़ने-झगड़ने लगे हैं और अपनी व्यक्तिगत कषायों को निश्चय-व्यवहार के नाम से व्यक्त करने लगे हैं तथा कुछ निहित-स्वार्थी लोग निश्चय-व्यवहार की तात्त्विक चर्चा को सड़कों पर लाकर उत्तेजना फैलाकर अपने स्वार्थ की सिद्धि में संलग्न हो गए हैं।

जन-सामान्य तो अभी निश्चय-व्यवहार का सही स्वरूप समझ नहीं पाया है, अतः उन्हें भड़काने में इन्हें कभी-कभी और कहीं-कहीं सफलता भी मिल जाती है। समाज में शांति बनी रहे और निश्चय-व्यवहार-शैली में निबद्ध जिनागम का मर्म जन-जन तक पहुँच सके—इसके लिए निश्चय-व्यवहार नयों का स्वरूप सम्पूर्ण समाज समझे—यह बहुत जरूरी

है। जिनागम की यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्विवाद प्रतिपादन-शैली व्यक्तिगत स्वार्थों और सामाजिक राजनीति में उलझकर उपेक्षित न हो जाये, तदर्थ जिनागम के परिप्रेक्ष्य में इसका सप्रमाण गंभीरतम विवेचन अपेक्षित है। यही कारण है कि यहाँ इस पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

जिनागम में निश्चय-व्यवहार की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं।

नयचक्रकार माइल्लधवल लिखते हैं :–

**"जो सियभेदुवयारं धम्माणं कुणइ एगवत्थुस्स ।**
**सो ववहारो भणियो विवरीओ णिच्छ्यो होइ।।[1]**

जो एक वस्तु के धर्मों में कथंचित् भेद व उपचार करता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं और उससे विपरीत निश्चयनय होता है।"

इसीप्रकार का भाव 'आलाप-पद्धति' में भी व्यक्त किया गया है :–-

**"अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।**

अभेद और अनुपचाररूप से वस्तु का निश्चय करना निश्चयनय है और भेद तथा उपचाररूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहारनय है।"

पंचाध्यायीकार इसी बात को इसप्रकार व्यक्त करते हैं :–

**"लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणंम् ।**
**व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः।।[2]**

जिसप्रकार एक सत् का जिस किसी प्रकार से विभाग करना व्यवहारनय का लक्षण है, उसीप्रकार इससे उल्टा निश्चयनय का लक्षण है।"

पण्डितप्रवर आशाधरजी लिखते हैं :–

**"कर्त्ताद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये ।**
**साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक्।।[3]**

जो निश्चय की प्राप्ति के लिए कर्त्ता, कर्म, करण आदि कारकों को जीव आदि वस्तु से भिन्न बतलाता है, वह व्यवहारनय है तथा अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है।"

इसीप्रकार का भाव नागसेन के 'तत्त्वानुशासन' में भी व्यक्त किया गया है :–

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २६४
[2] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय १, श्लोक ६१४
[3] अनागारधर्मामृत, अध्याय १, श्लोक १०२

**"अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः ।**
**व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ।।**

जिसका अभिन्न कर्त्ता-कर्म आदि विषय हैं, वह निश्चयनय है और जिसका विषय भिन्न कर्त्ता-कर्म आदि हैं, वह व्यवहारनय है।"

'आत्मख्याति' में आचार्य अमृतचन्द्र ने जो परिभाषा दी है, वह इस प्रकार है :–

**"आत्मश्रितो निश्चयनय पराश्रितो व्यवहारनयः ।**[1]

आत्माश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं।"

भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार कहने वाले कथन भी उपलब्ध होते हैं।[2]

अनेक शास्त्रों का आधार लेकर पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने निश्चय-व्यवहार का सांगोपांग विवेचन किया है[3], जिसका सार इसप्रकार है :-

(१) सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं।[4]

(२) एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चयनय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप कहना व्यवहारनय है। जैसे—मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चयनय का कथन है और घी का संयोग देखकर घी का घड़ा कहना व्यवहारनय का कथन है।[5]

(३) जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उस ही का कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहनेवाला व्यवहारनय है।[6]

(४) व्यवहारनय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है।[7]

---

[1] समयसार गाथा २७२ की 'आत्मख्याति' टीका

[2] (क) समयसार, गाथा ११ (ख) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५

[3] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २४८ से २५७

[4] वही, पृष्ठ २४८–२४९

[5] वही, पृष्ठ २४९

[6] वही, पृष्ठ २५०

[7] वही पृष्ठ २५१

उक्त समस्त परिभाषाओं पर ध्यान देने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :–

१. निश्चयनय का विषय अभेद है और व्यवहारनय का भेद।
२. निश्चयनय सच्चा निरूपण करता है और व्यवहारनय उपचरित।
३. निश्चयनय सत्यार्थ है और व्यवहारनय असत्यार्थ।
४. निश्चयनय आत्माश्रित कथन करता है और व्यवहारनय पराश्रित।
५. निश्चयनय असंयोगी कथन करता है और व्यवहारनय संयोगी।
६. निश्चयनय जिस द्रव्य का जो भाव या परिणति हो, उसे उसी द्रव्य की कहता है; पर व्यवहारनय निमित्तादि की अपेक्षा लेकर अन्य द्रव्य के भाव या परिणति को अन्य द्रव्य तक की कह देता है।
७. निश्चयनय प्रत्येक द्रव्य का स्वतन्त्र कथन करता है, जबकि व्यवहार अनेक द्रव्यों को, उनके भावों, कारण-कार्यादिक को भी मिलाकर कथन करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चय और व्यवहार की विषय-वस्तु और कथन-शैली में मात्र भेद ही नहीं, अपितु विरोध दिखाई देता है; क्योंकि जिस विषय-वस्तु को निश्चयनय अभेद अखण्ड कहता है, व्यवहार उसी में भेद बताने लगता है और जिन दो वस्तुओं को व्यवहार एक बताता है, निश्चय के अनुसार वे कदापि एक नहीं हो सकती हैं।

जैसा कि समयसार में कहा है :–

**"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।**
**ण दु णिच्छ्यस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो।।** [१]

व्यवहारनय कहता है कि जीव और देह एक ही हैं और निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते।"

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि व्यवहार मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेद ही नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद भी स्थापित करता है। इसीप्रकार निश्चय मात्र एक अखण्ड वस्तु में भेदों का निषेध कर अखण्डता की ही स्थापना नहीं करता, अपितु दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में व्यवहार द्वारा प्रयोजनवश स्थापित एकता का खण्डन भी करता है।

इसप्रकार निश्चयनय का कार्य पर से भिन्नत्व और निज में अभिन्नत्व स्थापित करना है तथा व्यवहार का कार्य अभेदवस्तु को भेद करके समझाने

---

[१] समयसार, गाथा २७

के साथ-साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग व तन्निमित्तक संयोगीभावों का ज्ञान कराना है। यही कारण है कि निश्चयनय का कथन स्वाश्रित और व्यवहारनय का कथन पराश्रित होता है तथा निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ-सच्चा और व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ-उपचरित कहा जाता है।

उक्त उदाहरण में ही देखिए; जहाँ व्यवहारनय देह और आत्मा में एकत्व स्थापित करता दिखाई दे रहा है, वहीं निश्चयनय उससे स्पष्ट इन्कार कर रहा है। कह रहा है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते।

व्यवहार की दृष्टि संयोग पर है, और निश्चय की दृष्टि असंयोगी तत्त्व पर।

इसीप्रकार :–

**"ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।**
**ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।**[1]

ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन, ज्ञान-ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।"

इसमें व्यवहारनय ने एक अखण्ड आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र के भेद करके समझाया है, किन्तु निश्चयनय ने सब भेदों का निषेधकर आत्मा को अभेद ज्ञायक स्थापित किया है।

व्यवहारनय ने समयसार की २७ वीं गाथा में पर से एकता बताई थी और ७ वीं गाथा में एक आत्मा में भेद किये हैं तथा निश्चयनय ने २७ वीं गाथा में पर से भिन्नता स्थापित की थी और ७ वीं में भेद का निषेध कर एकता स्थापित की है।

इसप्रकार व्यवहार का कार्य निज में भेद और पर से अभेद करके समझाना है और निश्चय का कार्य पर से भेद और स्व से अभेद करना है। यही इनके परस्पर विरोध का रूप है।

निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में जो स्थिति उक्त भेदाभेद सम्बन्धी है, वही स्थिति कर्त्ता-कर्मादि सम्बन्धी भेदाभेद की भी जाननी चाहिए।

जहाँ एक ओर व्यवहारनय से निमित्तादिक की अपेक्षा एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्त्तादि कहा जाता है और निश्चयनय से 'मैं ही मेरा

---

[1] समयसार, गाथा ७

कर्त्ता-धर्त्ता' कहा जाता है, वहीं दूसरी ओर कर्त्ता-कर्म का भेद करना ही व्यवहार है, और इसप्रकार के भेद का निषेध निश्चयनय का कार्य माना गया है।

इसप्रकार निश्चय का कार्य अभिन्न कर्त्ता-कर्मादि षट्कारक के साथ-साथ कर्त्ता-कर्म के भेद का निषेध भी है तथा व्यवहार का कार्य जहाँ एक ओर कर्त्ता-कर्म का भेद करना है, वहीं दूसरी ओर भिन्न-भिन्न द्रव्यों के बीच कर्त्ता-कर्म का सम्बन्ध बताना भी है। इन सबका सोदाहरण विशेष विस्तार निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों के कथन में यथास्थान किया जावेगा।

इसप्रकार भेदाभेद सम्बन्धी निश्चय-व्यवहार में कर्त्ता-कर्मादि सम्बन्धी भेदाभेद भी आ जाता है।

निश्चय-व्यवहार की परिभाषा में भेदाभेद विशेषणों के साथ 'उपचार' विशेषण का भी प्रयोग है। दो द्रव्यों की एकता सम्बन्धी जितने भी संयोगी कथन हैं, वे सब उपचरित ही तो हैं। देह और आत्मा को एक बताने वाला संयोगी कथन उपचरित व्यवहार ही तो है। एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का बताना, एक द्रव्य की परिणति को दूसरे द्रव्य की बताना, दो द्रव्यों की मिली हुई परिणति को एक द्रव्य की कहना, दो द्रव्यों के कारण-कार्यादिक में भी इसप्रकार के कथन करना ये सब उपचरित कथन ही हैं।

'आत्माश्रित कथन निश्चय और पराश्रित कथन व्यवहार' वाली परिभाषाएँ भी इनमें घटित हो जाती हैं।

अब रही निश्चय को भूतार्थ-सत्यार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ-असत्यार्थ कहने वाली बात। सो इसका आशय यह नहीं है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ है, उसका विषय है ही नहीं। उसके विषयभूत भेद और संयोग का भी अस्तित्व है, पर भेद व संयोग के आश्रय से आत्मा का अनुभव नहीं होता–इस अपेक्षा उसे अभूतार्थ कहा है।

निश्चयनय का विषय अभेद-अखण्ड आत्मा है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि उसे भूतार्थ कहा है। समयसार में कहा है :–

> "**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।११।।**
> जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टी है।"

इसके सम्बन्ध में श्री कानजी स्वामी के विचार भी द्रष्टव्य हैं :–

''जिनवाणी स्याद्वादरूप है, अपेक्षा से कथन करनेवाली है; अतः जहाँ जो अपेक्षा हो, वहाँ वही समझना चाहिए। प्रयोजनवश शुद्धनय को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है और व्यवहार को गौण करके असत्य कहा है। त्रिकाली, अभेद, शुद्धद्रव्य की दृष्टि करने से जीव को सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए त्रिकालीद्रव्य को अभेद कहकर भूतार्थ कहा है और पर्याय का लक्ष्य छुड़ाने के लिए उसे गौण करके असत्यार्थ कहा है। आत्मा अभेद, त्रिकाली, ध्रुव है; उसकी दृष्टि करने पर भेद दिखाई नहीं देता और भेददृष्टि में निर्विकल्पता नहीं होती; इसलिए प्रयोजनवश भेद को गौण करके असत्यार्थ कहा है। अनन्तकाल में जन्म-मरण का अन्त करने वाला बीजरूप सम्यग्दर्शन जीव को हुआ नहीं है। ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयोजन सिद्ध करना है, इससे शुद्धज्ञायक को मुख्य करके सत्यार्थ कहा है और पर्याय तथा भेद को गौण करके व्यवहार कहकर उसे असत्यार्थ कहा है।[1]

''यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली अभेददृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते - इससे उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है। किन्तु ऐसा न समझना कि भेदरूप कोई वस्तु नहीं है, द्रव्य में गुण है ही नहीं, पर्याय है ही नहीं, भेद है ही नहीं। आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे सब निर्मल हैं। दृष्टि के विषय में गुणों का भेद नहीं है, किन्तु अन्दर वस्तु में तो अनन्त गुण हैं। भेद सर्वथा कोई वस्तु ही नहीं है - ऐसा माना जाय तो जैसा वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्य को देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, ऐसा ठहरे तथा इससे सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग प्राप्त होगा।[2]''

''माटी के घड़े को घी का घड़ा कहना व्यवहार है, इसलिए व्यवहार झूठा है; क्योंकि घड़ा घी-मय नहीं है, किन्तु माटी-मय है। उसीप्रकार द्रव्य को निश्चय और पर्याय को व्यवहार—और यह व्यवहार घी के घड़े की भाँति झूठा है—ऐसा नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार घड़ा घी-मय नहीं है, उसीप्रकार पर्याय हो ही नहीं—यह बात नहीं है। पर्याय अस्तिरूप है। पर्याय को व्यवहार कहा है, पर वह नहीं हो—यह बात नहीं है। रागपर्याय असद्भूतव्यवहारनय का विषय है। इन पर्यायों को अभूतार्थ कहा है - इस कारण वे पर्यायें हैं ही नहीं, घी के घड़े के समान झूठी हैं—ऐसा नहीं है। क्षायिक आदि चार भावों को परद्रव्य

---

[1] प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ १४८

[2] प्रवचन रत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ १४७

और परभाव कहा—इससे वे पर्यायें हैं ही नहीं, झूठी हैं—ऐसा नहीं है। घड़ा कुम्हार ने बनाया है—ऐसा कहना जैसे झूठा है, उसीप्रकार अशुद्ध पर्यायों को व्यवहार कहा; अतः ये पर्यायें भी झूठी हैं—ऐसा नहीं है। जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि पर्यायनय के विषय हैं; अतः वे व्यवहारनय से भूतार्थ हैं। पर्याय नहीं है—ऐसा नहीं है।

द्रव्यार्थिकनय से पर्याय को अभूतार्थ कहा, अतः पर्यायें हैं ही नहीं—ऐसा नहीं है। किन्तु निश्चय की मुख्यता से पर्याय को गौण करके व्यवहार कहकर वहाँ से दृष्टि हटाने के प्रयोजन से उन्हें असत्यार्थ कहा है। इससे ऐसा मानना कि पर्यायें हैं ही नहीं, ठीक नहीं है। जिसप्रकार 'घी का घड़ा' वाला व्यवहार झूठा है, उसीप्रकार सभी व्यवहार झूठा है—यह मानना ठीक नहीं है। नयों का कथन जहाँ जैसा हो, वहाँ वैसा समझना चाहिए। यदि ठीक तरह से न समझोगे तो विपरीतता हो जावेगी।[1]

समयसार की १४ वीं गाथा की टीका में भी व्यवहारनय के विषय बद्धस्पृष्टादि भावों को व्यवहार से भूतार्थ और निश्चय से अभूतार्थ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ न कहकर कथंचित् असत्यार्थ कहा है।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माननेवालों को नियमसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसमें यह कहा है कि सर्वज्ञ भगवान पर को व्यवहार से जानते हैं।[2] व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने पर केवली भगवान का पर को जानना असत्यार्थ ठहरेगा और सर्वमान्य सर्वज्ञता ही संकट में पड़ जावेगी।

इसीप्रकार व्यवहार को सर्वथा सत्य माननेवालों को भी समयसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसमें व्यवहारनय से जीव और शरीर को एक कहा गया है।[3]

यदि जीव और शरीर को एक कहने वाले कथन को प्रयोजनवश किया गया कथन मानकर सर्वथा सत्य मान लिया जाए तो मिथ्यात्व हुए बिना नहीं रहेगा। छहढाला में तो देह और आत्मा को एक मानने वाले को स्पष्टरूप से मिथ्यादृष्टि लिखा है :—

---

[1] आत्मधर्म गुजराती, वर्ष ३६, अंक ३ (४३१), पृष्ठ १३

[2] नियमसार, गाथा १५९

[3] समयसार, गाथा २७

**"देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है।**[१]

देह और जीव को एक माननेवाला बहिरात्मा है, वह तत्त्व के बारे में मूर्ख है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।"

अतः यह जानना चाहिए कि व्यवहारनय के उक्त दोनों ही कथन प्रयोजनवश किये गए सापेक्ष कथन हैं, अतः कथंचित् सत्यार्थ और कथंचित् असत्यार्थ हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि वह कौनसा प्रयोजन आ पड़ा था कि व्यवहारनय को ऐसी असंबद्ध बातें कहनी पड़ीं। इनमें असंबद्धता इस कारण प्रतीत होती है कि एक कथन तो सर्वज्ञता पर ही कुठाराघात करता प्रतीत होता है और दूसरा कथन शरीर और आत्मा को एक बताने वाला होने से मिथ्यात्व का पोषक प्रतीत होता है।

केवली भगवान का पर को जानना व्यवहार है - इस कथन का प्रयोजन तो यह बताना रहा है कि केवली भगवान जिसप्रकार स्वयं को स्वयं में लीन होकर जानते हैं, उसप्रकार पर को उसमें लीन होकर नहीं जानते। उसे मात्र जानते हैं, उसमें लीन नहीं होते।

जैसा कि 'परमात्मप्रकाश' (अध्याय १, गाथा ५२ की टीका) में स्पष्ट किया गया है :-

"**प्रश्न** :-यदि केवली भगवान व्यवहारनय से लोकालोक को जानते हैं तो व्यवहारनय से ही उन्हें सर्वज्ञत्व भी होओ, परन्तु निश्चयनय से नहीं?

**उत्तर** :-जिसप्रकार तन्मय होकर स्वकीय आत्मा को जानते हैं, उसी प्रकार परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानते, इसकारण व्यवहार कहा गया है, न कि उनके परिज्ञान का ही अभाव होने के कारण। यदि स्वद्रव्य की भाँति परद्रव्य को भी निश्चय से तन्मय होकर जानते तो परकीय सुख व दुःख को जानने से स्वयं सुखी-दुःखी और परकीय राग-द्वेष को जानने से स्वयं रागी-द्वेषी हो गये होते और इसप्रकार महत्-दूषण प्राप्त होता।"

इस सन्दर्भ में आचार्य जयसेन का कथन भी मननीय है, जो कि इसप्रकार है :-

**प्रश्न** :-सौगतमतवाले (बौद्धजन) भी सर्वज्ञपना व्यवहार से मानते हैं, तब आप उनको दूषण क्यों देते हैं? क्योंकि जैनमत में भी परपदार्थों का जानना व्यवहारनय से कहा जाता है।

---

[१] छहढाला, दूसरी ढाल

**उत्तर** :–इसका परिहार करते हैं। सौगत आदि मतों में, जिसप्रकार निश्चय की अपेक्षा व्यवहार झूठ है, उसीप्रकार व्यवहाररूप से भी वह सत्य नहीं है। परन्तु जैनमत में व्यवहारनय यद्यपि निश्चय की अपेक्षा मृषा (झूठ) है, तथापि व्यवहाररूप से वह सत्य है। यदि लोकव्यवहाररूप से भी उसे सत्य न माना जाए तो सभी लोकव्यवहार मिथ्या हो जाएगा; और ऐसा होने पर अतिप्रसंग दोष आयेगा। इसलिए आत्मा व्यवहार से परद्रव्य को जानता-देखता है, पर निश्चयनय से केवल आत्मा को ही।[1]''

तथा आत्मा और शरीर को एक बतानेवाले व्यवहार कथन का प्रयोजन यह रहा है कि जगत शरीर के संयोग में रहे जीव को भी जाने, अन्यथा निर्जीव भस्म की भाँति सजीव शरीर को भी मसल देगा। जीवों को द्रव्यहिंसा से बचाना इस कथन का उद्देश्य रहा है।

जैसा कि आत्मख्याति में कहा गया है :–

''परन्तु यदि व्यवहारनय न बताया जाये तो परमार्थ से (निश्चयनय से) शरीर से जीव को भिन्न बताया जाने पर जैसे भस्म को मसल देने से हिंसा का अभाव है; उसीप्रकार त्रस-स्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने–कुचल देने (घात करने) में भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का ही अभाव सिद्ध होगा।[2]

यदि व्यवहारनय कथंचित् भूतार्थ है और कथंचित् अभूतार्थ, तो फिर निश्चय-व्यवहार की परिभाषाओं में भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार क्यों कहा गया है?

इसका कारण भी एक प्रयोजनविशेष रहा है और वह यह कि निश्चयनय के आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति होती है और व्यवहारनय के आश्रय से नहीं। जिसके आश्रय से मुक्ति हो, वह भूतार्थ और जिसके आश्रय से मुक्ति न हो, वह अभूतार्थ है। निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहने में यही दृष्टि रही है। जिनवाणी में व्यवहारनय को स्थान तो इसलिए प्राप्त हुआ है कि वह किन्हीं-किन्हीं को और कभी-कभी प्रयोजनवान होता है और अभूतार्थ इसलिए कहा गया है कि उसके आश्रय से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

आचार्य जयसेन ने समयसार की ११ वीं गाथा के अर्थ में भी

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, पृष्ठ ५६३

[2] समयसार, गाथा ४६ की टीका

व्यवहारनय को भूतार्थ और अभूतार्थ कहा है। उन्होंने उक्त गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है। दूसरा अर्थ इसप्रकार है :—

"दूसरे व्याख्यान से, व्यवहारनय अभूतार्थ है और भूतार्थ भी कहा गया है। मात्र व्यवहारनय दो प्रकार का नहीं कहा गया है अपितु 'दु' शब्द से निश्चयनय भी दो प्रकार का जानना चाहिए। भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से व्यवहारनय दो प्रकार का है और शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय के भेद से निश्चयनय भी दो प्रकार का हुआ—इसप्रकार चार नय हुए।"

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्य जयसेन, आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा किये गए अर्थ को, जिसमें कि निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है, मुख्यरूप से स्वीकार कर रहे हैं। साथ ही दूसरे व्याख्यान से अर्थात् 'दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि' कहकर उक्त अर्थ करते हैं।

दूसरे ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि वे व्यवहार के तो भूतार्थ-अभूतार्थ भेद करते हैं, पर निश्चय के भूतार्थ-अभूतार्थ भेद न करके शुद्ध-अशुद्ध भेद करते हैं। इससे निश्चयनय को अभूतार्थ कहने में जो संकोच उन्हें हुआ है, वह स्पष्ट हो जाता है।

यदि निश्चय के भूतार्थ-अभूतार्थ भेद भी किये जाते तो भी कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि अध्यात्म में अशुद्धनय को व्यवहार भी कहा है। इस कारण शुद्धनिश्चय अर्थात् निश्चय भूतार्थ और अशुद्धनिश्चय अर्थात् व्यवहार ही अभूतार्थ प्रतिफलित होता।

निश्चय के कथन का वास्तविक मर्म न समझकर उसके द्वारा व्यवहार का निषेध सुनकर कोई व्यवहार के विषय की सत्ता का भी अभाव न मान ले—इस दृष्टि से यद्यपि व्यवहार को भी कथंचित् सत्यार्थ कहा गया है, तथापि इसका आशय यह भी नहीं कि उसे निश्चय के समान ही सत्यार्थ मानकर उपादेय मान लें। उसकी जो वास्तविक स्थिति है, उसे स्वीकार करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में पण्डित टोडरमलजी ने साफ-साफ लिखा है :—

"व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है; सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है; इसलिए उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता है; सो

ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

यहाँ प्रश्न है कि यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

**समाधान** :—जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'—ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है'—ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। तथा दोनों नयों के व्याख्यान को समान जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है'—इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।[1]"

यदि जिनागम में दोनों नयों को एक-सा ही उपादेय कहना अभीष्ट होता तो फिर व्यवहारनय को अभूतार्थ कहने की क्या आवश्यकता थी? उसे अभूतार्थ कहने का प्रयोजन ही उससे सावधान करना रहा है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उसे निश्चय के समान मानना भ्रम है, उससे सावधान करने की भी आवश्यकता प्रतीत होती है; तो फिर जिनवाणी में उसका उल्लेख ही क्यों है?

इसलिए कि वह निश्चय का प्रतिपादक है, उसके बिना निश्चय का प्रतिपादन भी संभव नहीं है।

पंचाध्यायीकार ने स्वयं इसप्रकार का प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है, जो इसप्रकार है :—

**"तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः ।**
**केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ।।**
**ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः ।**
**किमकिञ्चित्कारित्वाद् व्यवहारेण तथाविधेन यतः ।।**
**नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ ।**
**वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयालम्बि तज्ज्ञानम् ।।**
**तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसंगत्वात् ।**
**अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ।।**
**ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात् ।**
**विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ।।**

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१

**नैवं यतोऽस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः ।**
**तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोऽपि ।।**[1]

इसलिए न्यायबल से यह बात प्राप्त हुई कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और जो केवल उस व्यवहारनय का अनुभव करने वाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और इसलिए वे पथभ्रष्ट हैं।

**शंका** :—यदि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो नियम से निश्चयनय ही आदर करने योग्य है, क्योंकि व्यवहारनय अकिञ्चित्कर है; अतः अपरमार्थभूत उससे क्या प्रयोजन है?

**समाधान** :—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि किसी विषय में बलपूर्वक विवाद होने पर और सन्देह होने पर या वस्तुविचार के समय जो ज्ञान दोनों नयों का आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, वह प्रमाण माना गया है। इसलिए प्रसंगवश किन्हीं को व्यवहारनय का आश्रय करना योग्य है। किन्तु वह सविकल्प ज्ञानवालों के समान निर्विकल्प ज्ञानवालों के लिए उपयोगी नहीं है।

**शंका** :—अपने अभीष्ट की सिद्धि एक ही नय से क्यों नहीं हो जाती, क्योंकि विवाद का परिहार और वस्तु का विचार निश्चयनय से ही हो जाएगा, इसलिए व्यवहारनय के मानने की क्या आवश्यकता है?

**समाधान** :—ऐसा नहीं है, क्योंकि दोनों नयों में भेद है। वास्तव में निश्चयनय अनिर्वचनीय है, इसलिए तीर्थ की स्थापना करने के लिए वावदूक[2] व्यवहारनय का होना श्रेयस्कर है।

यद्यपि यहाँ व्यवहारनय को 'वावदूक' जैसे शब्द द्वारा प्रतिपादक माना है, तथापि उसकी उपयोगिता स्वीकार की गई है।

आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में इसीप्रकार का प्रश्न उठाकर उसका उत्तर समयसार ग्रन्थ का आधार लेकर दिया है, तथा स्वयं ने भी बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है, जो मूलतः पठनीय है। उसका कुछ आवश्यक अंश इसप्रकार है :—

"फिर **प्रश्न** है कि यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया? एक निश्चयनय ही का निरूपण करना था।

**समाधान** :—ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है :—

**जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं ।**
**तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।८।।**

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय १, श्लोक ६३६ से ६४१

[2] वावदूक=बातूनी, बकवादी, अच्छा बोलने वाला, वक्ता (संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृष्ठ १०४४)

**अर्थ** :–जिसप्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है।

तथा इसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि :–

**व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः।**

इसका अर्थ है :–इस निश्चय को अंगीकार करने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं; परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।

**प्रश्न** :–व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता? और व्यवहारनय कैसे अंगीकार नहीं करना? सो कहिये।

**समाधान** :–निश्चय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभावों से अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे उसीप्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें; इसलिए उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीव के विशेष किये; तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है - इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीव की पहिचान हुई।

अथवा अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है; इत्यादि प्रकार सहित उनको जीव की पहिचान हुई।

तथा निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहिचानते; उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनय से, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभाव के विशेष बतलाये; तब उन्हें वीतरागभाव की पहिचान हुई।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चय के उपदेश का न होना जानना।

तथा यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा; सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं–ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं

मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है, उसही को जीववस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं, परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं—ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता हो जाये। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिए आत्मा अपने भाव रागादिक हैं, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिए निश्चय से वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है। वीतराग भावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिए व्रतादिक को मोक्षमार्ग कहा सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा ही श्रद्धान करना।

इसीप्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनय का अंगीकार नहीं करना—ऐसा जान लेना।

यहाँ **प्रश्न** है कि व्यवहारनय पर को उपदेश में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है?

**समाधान** :—आप भी जबतक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचाने तबतक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करे; इसलिए निचली दशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहार को उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो; परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इसप्रकार ही है'—ऐसा श्रद्धान करे तो उल्टा अकार्यकारी हो जाये।[1] ''

निश्चय और व्यवहारनय के कथनों में जो परस्पर विरोध दिखाई देता है, वह विषयगत है। अनेकान्तात्मक वस्तु में जो परस्पर विरोधी धर्मयुगल पाये जाते हैं, उनमें से एक धर्म निश्चय का और दूसरा धर्म व्यवहार का विषय बनता है।

जिस दृष्टि से निश्चय-व्यवहार एक दूसरे का विरोध करते नजर आते हैं, उसी दृष्टि से वे एक-दूसरे के पूरक भी हैं। कारण कि वस्तु जिन विरोधी धर्मों को स्वयं धारण किए हुए है, उनमें से एक का कथन निश्चय और दूसरे का कथन व्यवहार करता है। यदि दोनों नय एक पक्ष को ही विषय करने लगें तो दूसरा पक्ष उपेक्षित हो जावेगा। अतः वस्तु के सम्पूर्ण प्रकाशन एवं

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५१-२५३

प्रतिपादन के लिए दोनों नय आवश्यक हैं, अन्यथा वस्तु का समग्र स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पावेगा।

जहाँ एक ओर निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध है; वहीं दूसरी ओर व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध भी है।

निश्चय प्रतिपाद्य है और व्यवहार उसका प्रतिपादक है। इसीप्रकार व्यवहार निषेध्य है और निश्चय उसका निषेधक है।

समयसार में कहा है :–

**"एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छ्यणएण ।**
**णिच्छ्यणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।**[१]

इसप्रकार निश्चयनय द्वारा व्यवहारनय निषिद्ध हो गया जानो। निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिराज निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

इस सम्बन्ध में पंचाध्यायीकार के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं

**व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।**
**व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात्।।**
**व्यवहारः स यथा स्यात् सद् द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।**
**नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः।।**[२]

व्यवहारनय प्रतिषेध्य (निषेध करने योग्य) है और निश्चयनय उसका प्रतिषेधक अर्थात् निषेध करने वाला है। अतः व्यवहार का प्रतिषेध करना ही निश्चयनय का वाच्य है।

जैसे, द्रव्य सद्रूप है और जीव ज्ञानवान है -ऐसा कथन व्यवहारनय है और 'न' इस पद द्वारा निषेध करना ही निश्चयनय है, जो कि सब नयों में मुख्य है, नयाधिपति है।"

जब व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक है तो वह निश्चय का विरोधी कैसे हो सकता है? जहाँ एक ओर यह बात है; वहीं दूसरी ओर यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि यदि निश्चय-व्यवहार में विरोध नहीं है तो फिर निश्चय व्यवहार का निषेध क्यों करता है?

गम्भीरता से विचार करें तो इसमें अनुचित लगने जैसी कोई बात नहीं है; क्योंकि इसप्रकार की स्थितियाँ लोक में भी देखने में आती हैं।

---

[१] समयसार, गाथा २७२

[२] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय १, श्लोक ५९८-५९९

शतरंज के दो खिलाड़ी हैं। उन्हें आप मित्र कहेंगे या विरोधी? वे परस्पर पूरक भी हैं और प्रतिद्वन्द्वी भी। पूरक इसलिए कि दूसरे के बिना खेल ही नहीं हो सकता; प्रतिद्वंद्वी बिना खेलें किससे? अतः शतरंज के खेल में प्रतिद्वन्द्वी पूरक ही तो है। जब वह प्रतिद्वन्द्वी है, तो विरोधी ही है; क्योंकि विरोधी ही तो प्रतिद्वन्द्वी होता है। पूरक होने से मित्र भी है, क्योंकि मित्र ही तो आपस में खेलते हैं, शत्रुओं से खेलने कौन जाता है?

इसप्रकार हम देखते हैं कि शतरंज के दो खिलाड़ी परस्पर मित्र भी हैं और विरोधी भी।

आप कह सकते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि एक ही व्यक्ति एक साथ हमारा मित्र भी हो और शत्रु अर्थात् विरोधी भी। पर अपेक्षा ध्यान में रखकर गहराई से विचार करेंगे तो सब-कुछ स्पष्ट हो जावेगा।

जीवन में वे दोनों मित्र ही नहीं, घनिष्ठ मित्र हैं। उनमें ऐसी मित्रता देखी जा सकती है कि एक दूसरे के पीछे जान की भी बाजी लगा सकता है; पर खेल में प्रतिद्वन्द्वी - विरोधी - शत्रु भी ऐसे कि चाहे जान चली जाए, पर सामने वाले के बादशाह को शह दिये बिना न मानेंगे; प्यादे को ही नहीं, वजीर को भी मारे बिना न रहेंगे। जीवन में वे एक दूसरे को क्षमा कर सकते हैं, पर खेल में नहीं; खेल में तो उसे हराने की निरन्तर जी-जान से कोशिश करते हैं। न करें तो फिर खेल में वह आनन्द न आवेगा जो आना चाहिए।

खेल में खेल के प्रति ईमानदार, खेल के पक्के और जीवन में जीवन के प्रति ईमानदार, जीवन के पक्के जैसे दो खिलाड़ी होते हैं; वैसे जिनवाणी में भी दोनों नय अपने-अपने विषय के पक्के हैं। जिसका जो विषय है, उसे वे अपना-अपना विषय बनाते हैं। विषयगत विरोध के कारण वे परस्पर विरोधी भी हैं और सम्यक्-श्रुतज्ञान के भेद होने से अभिन्न साथी भी। दोनों ही अपने काम के पक्के हैं, अपने-अपने काम पूरी ईमानदारी से बखूबी निभाते हैं।

व्यवहार का काम भेद करके समझाना है, संयोग का भी ज्ञान कराना है; सो वह अभेद - अखण्ड वस्तु में भेद करके समझाता है, संयोग का ज्ञान कराता है; पर भेद करके भी वह समझाता तो अभेद—अखण्ड को ही है, संयोग से भी समझाता असंयोगी तत्त्व को ही है; तभी तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कहा जाता है। यदि वह अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व को न समझावे तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कौन कहे?

और निश्चय का काम व्यवहार का निषेध करना है; निषेध करके

अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व की ओर ले जाना है। यही कारण है कि वह अपने विरोधी प्रतीत होने वाले अभिन्न-मित्र व्यवहार का भी बड़ी निर्दयता से निषेध कर देता है। साथी समझकर किंचित् मात्र भी दया नहीं दिखाता; यदि दिखावे तो अपने कर्त्तव्य का पालन कैसे करे?

यदि वह व्यवहार का निषेध न करे तो निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो, आत्मा का अनुभव कैसे हो? आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए ही तो यह सब प्रयास है। 'व्यवहार तो हमारा मित्र है, उसका निषेध कैसे करें?'-यदि इस विकल्प में उलझ जावे तो फिर उसका भूतार्थपना ही नहीं रहेगा।

निश्चय व्यवहार का निषेध कोई द्वेष के कारण थोड़े ही करता है; वह निषेध्य है, इसलिए निषेध करता है। उसकी सार्थकता निषेध में है। उसका प्रयोग भी साबुन की भाँति निषेध के लिए ही होता है।

जिसप्रकार साबुन लगाए बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगी रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिए जाता है, उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। यह कोई नहीं कहता कि जब साबुन ने आपके कपड़े को साफ कर दिया तो अब उसे भी क्यों निकालते हो?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आवेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

व्यवहार का प्रयोग भी जिनवाणी में प्रयोजन से ही किया गया है और निषेध भी प्रयोजन से ही किया गया है। जिनवाणी में बिना प्रयोजन एक शब्द का भी प्रयोग नहीं होता। लोक में भी बिना प्रयोजन कौन क्या करता है?

कहा भी है :—

"**प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्त्तते।**

प्रयोजन के बिना तो मन्द से मन्द बुद्धि भी प्रवृत्ति नहीं करता, फिर बुद्धिमान लोग तो करेंगे ही क्यों?"

समस्त जिनवाणी ही एक आत्मप्राप्ति के उद्देश्य से लिखी गई है। इसी

उद्देश्य से निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध माना गया है।

यद्यपि निश्चय और व्यवहार का स्वरूप परस्पर विरोध लिए सा है, तथापि निश्चयरूप अभेद को भेद करके तथा असंयोगी को संयोग द्वारा प्रतिपादन करने वाला व्यवहार जगत को निश्चय का विरोधी-सा नहीं लगता; क्योंकि वह निश्चय का प्रतिपादन करता है न? किन्तु जब निश्चय अपने ही प्रतिपादक व्यवहार का निर्दयता से निषेध करता है तो जगत को खटकता है; क्योंकि व्यवहार का निश्चय-प्रतिपादकत्व और अभूतार्थत्व - ये दोनों एक साथ जगत के गले आसानी से नहीं उतरते।

जब व्यवहार निश्चय अर्थात् भूतार्थ का प्रतिपादक है तो फिर स्वयं अभूतार्थ कैसे हो सकता है? यदि स्वयं अभूतार्थ है तो वह भूतार्थ (निश्चय) का प्रतिपादन कैसे कर सकता है? अर्थात् अभूतार्थ व्यवहार द्वारा प्रतिपादित निश्चय भूतार्थ कैसे हो सकता है?

दूसरे, जब व्यवहारनय निश्चयनय का प्रतिपादन करता है तो फिर निश्चयनय उसका निषेध क्यों करता है? अपने प्रतिपादक का निषेध करना कहाँ तक उचित है? निश्चय के प्रतिपादन के लिए पहले व्यवहार को स्थापित करें और अपना काम हो जाने पर उसे असत्यार्थ कहकर निषेध कर दें—यह कुछ ठीक नहीं लगता। यदि वह असत्यार्थ है तो उसकी स्थापना क्यों? और यदि सत्यार्थ है तो फिर उसका निषेध क्यों?

ये कुछ प्रश्न हैं, शंकाएं हैं; जिनका उत्तर जगत चाहता है। जब तक ये प्रश्न अनुत्तरित रहेंगे, इनका समुचित समाधान जगत को प्राप्त नहीं होगा, तब तक गुत्थी सुलझने वाली नहीं है।

इन प्रश्नों के समुचित उत्तर का अभाव भी निश्चय-व्यवहार संबंधी वर्तमान द्वन्द्व का एक कारण है। इसलिए यहाँ इस विषय को विस्तार से सोदाहरण स्पष्ट करने का प्रयास किया जाना अपेक्षित है।

बादाम के पेड़ को भी बादाम कहते हैं, बादाम की मींगी भी बादाम कही जाती है तथा छिलके सहित मींगी को तो बादाम कहा ही जाता है।

इसमें जो बादाम हमारे लिए उपयोगी है, वह तो वस्तुतः मींगी ही है। हमारी दृष्टि में तो वही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि हमारा प्रयोजन तो उससे ही सधता है। बादाम का छिलका व बादाम का पेड़ हमारे लिए साक्षात् किसी काम के नहीं। बादाम की मींगी प्रयोजनभूत होने से हमारे लिए भूतार्थ है और

छिलका और पेड़ अप्रयोजनभूत होने से अर्थात् साक्षात् प्रयोजनभूत न होने से अभूतार्थ हैं।

उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए शुद्धात्मा का अनुभव करना हमारा मूल प्रयोजन है, अतः शुद्धात्मा हमारे लिए प्रयोजनभूत हुआ; इसीलिए शुद्धात्मा को विषय करने वाला निश्चयनय भूतार्थ है। संयोग व संयोगीभावादि के अनुभव से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति का प्रयोजन सिद्ध न होने से वे अप्रयोजनभूत ठहरे। इसीकारण उन्हें विषय बनानेवाला व्यवहारनय भी अभूतार्थ कहा गया है।

'भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार कहते हैं'—इसके अनुसार मींगी निश्चय-बादाम हुई तथा छिलका और पेड़ व्यवहार-बादाम कहलाये।

इसी बात को यदि और अधिक स्पष्ट करें तो कथन इसप्रकार होगा :—निश्चय से मींगी को बादाम कहते हैं और व्यवहारनय से पेड़ या छिलके को भी बादाम कहा जाता है, क्योंकि पेड़ या छिलका मींगी के सहचारी हैं।

यदि उनका मींगी से किसी भी प्रकार का संबंध न हो तो फिर वे व्यवहार से भी बादाम नहीं कहे जा सकते थे। क्या कोई आम के पेड़ और छिलकों को भी बादाम कहते देखा जाता है?

इसीप्रकार निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा को निश्चयजीव और व्यवहारनय के विषयभूत शरीरादि के संयोग में रहने वाले जीव—मनुष्यादि को व्यवहारजीव कहा जाता है। यदि आत्मा का शरीरादि से संयोगादि संबंध भी न हो तो उन्हें कोई व्यवहार से भी जीव नहीं कहेगा। क्या कोई मिट्टी की मूर्त्ति को भी जीव कहते देखा जाता है?

**"भूतम् अर्थं प्रद्योतयति इति भूतार्थः, अभूतम् अर्थं प्रद्योतयति इति अभूतार्थः।"**

भूत अर्थात् प्रयोजनभूत अर्थ को बतावे, वह भूतार्थ और अभूत अर्थात् अप्रयोजनभूत अर्थ को बतावे, वह अभूतार्थ।

भूतार्थ का अर्थ 'प्रयोजनभूत' किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है, क्योंकि 'अर्थ' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन' भी होता है। भूत+अर्थ—इनके स्थान-परिवर्तन से अर्थ+भूत=अर्थभूत हुआ। 'अर्थ' माने 'प्रयोजन' होता है, अतः 'अर्थभूत' माने 'प्रयोजनभूत' सहज हो जाता है।

जिसप्रकार 'भूत' और 'अभूत' की उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार यहाँ

बादाम की मींगी हमारे लिए प्रयोजनभूत पदार्थ है, क्योंकि वह हमारे खाने के काम आती है; पर छिलका और पेड़ अप्रयोजनभूत अर्थात् साक्षात् प्रयोजनभूत नहीं हैं, क्योंकि वे हमारे खाने के काम में नहीं आते; किन्तु सर्वथा अप्रयोजनभूत भी नहीं हैं, क्योंकि बादाम की मींगी की प्राप्ति के साधन हैं, अतः परम्परा से प्रयोजनभूत भी हैं।

यही कारण है कि परम्परा की अपेक्षा उसे कथंचित् भूतार्थ भी कहा जाता है, किन्तु साक्षात् प्रयोजनभूत न होने से अध्यात्म में उसे प्रायः अप्रयोजनभूत ही कहा जाता है।

उसीप्रकार' यद्यपि 'शुद्धात्मा हमारे लिए पूर्णतः प्रयोजनभूत है और अशुद्धात्मा या संयोगी-आत्मा अप्रयोजनभूत है; तथापि संसारी जीव की पहिचान का प्रयोजन सिद्ध करने के कारण अशुद्धात्मा या संयोगी-आत्मा भी कथंचित् प्रयोजनभूत है; फिर भी 'शुद्धात्मा की प्राप्ति का कारण न होने से अध्यात्म में उसे अप्रयोजनभूत ही कहा जाता है।

यदि बिना पेड़ या छिलके के जगत में मींगी की प्राप्ति संभव होती तो पेड़ और छिलके को व्यवहार से भी बादाम नहीं कहा जाता। पेड़ और छिलके को व्यवहार से बादाम कहे जाने के कारण यदि वैद्यजी के यह बताए जाने पर कि ताकत के लिए बादाम का हलवा खाना चाहिए, कोई छिलके या पेड़ का हलवा खाने की बात सोचे तो मूर्ख ही माना जाएगा। जगत में ऐसी मूर्खता कोई न करे, इसलिए व्यवहार के कथन के प्रति सावधान करना भी आवश्यक है, उसका निषेध करना भी आवश्यक है।

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन संभव होता तो व्यवहार को कथंचित् भूतार्थ भी नहीं कहा जाता, उसे जिनवाणी में स्थान भी प्राप्त नहीं होता; तथा यदि 'शरीरादि के संयोगवाले जीवों का कथन किये बिना ही इस अनादिकालीन अज्ञानी को आत्मा समझाया जा सकता होता तो फिर असमानजातीय द्रव्य-पर्यायवाले जीव को जीव कहते ही नहीं।

'शरीरादि के संयोगवाले संसारी जीव को भी व्यवहार से जीव कहे जाने के कारण, सद्गुरु के यह कहने पर कि यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना है तो आत्मा का अनुभव करो, कोई रागी-द्वेषी मनुष्यादिरूप आत्मा का अनुभव करने से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति मानने लगे तो मूर्ख ही माना जाएगा। तथा जगत में कोई ऐसी मूर्खता न करे—इसके लिए व्यवहार कथन को अभूतार्थ कहकर उसका निषेध भी आवश्यक है।

यही कारण रहा है कि निश्चयनय व्यवहारनय का निषेधक है, उसे अभूतार्थ कहकर उसका निषेध करता है।

समयसार की १४वीं गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने पाँच उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि पर्यायस्वभावादि के समीप जाकर देखने पर व्यवहारनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि भाव भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; पर निश्चयनय के विषयभूत द्रव्यस्वभाव के समीप जाकर देखने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं।

बादाम की मींगी जब अकेली होती है तो सवा-सौ रुपया किलो बिकती है और जब छिलके भी साथ होते हैं तो वह पच्चीस-तीस रुपये किलो में भी मुश्किल से बिकती है। इसप्रकार छिलके की संगति में उसकी कीमत घट जाती है और एकाकीपने में बढ़ जाती है। तथा छिलका मींगी के साथ रहने पर पच्चीस-तीस रुपया किलो बिक जाता है, पर यदि वह अकेला हो तो कोई रुपया किलो लेने को भी तैयार नहीं होता। इसप्रकार हम देखते हैं कि छिलके की कीमत मींगी के साथ रहने में ही है, अकेले में नहीं।

उसीप्रकार व्यवहार की कीमत भी निश्चय के प्रतिपादकत्व में ही है, निश्चयपूर्वक अर्थात् निश्चय के साथ होने में ही है; अकेले में नहीं। निश्चय का साधक—प्रतिपादक होने से ही उसे जिनवाणी में स्थान प्राप्त है। किन्तु निश्चय की कीमत व्यवहार की संगति में घट जाती है और अकेले में बढ़ जाती है। यही कारण है कि निश्चय व्यवहार का निषेध करता है, निषेधक है।

यहाँ एक बात यह भी जान लेने योग्य है कि बादाम का छिलका यदि मींगी के संयोग में पच्चीस-तीस रुपया किलो बिक जाता है, तो वह कीमत उसे कुछ मुफ्त में नहीं मिल गई है, उसने उसकी पूरी-पूरी कीमत चुकाई है। सर्दी, गर्मी, बरसात सब-कुछ अपने माथे पर झेली है और भीतर मींगी को पूर्ण सुरक्षित रखा है, उसे आँच तक नहीं आने दी है। सारी विपत्तियाँ अपने माथे पर झेलकर मींगी को पूर्ण सुरक्षा प्रदान की है। अपना कर्त्तव्य पूरी तरह निभाया है। यहाँ तक कि जान की बाजी लगाकर मींगी की सुरक्षा की है। छिलके की प्रतिज्ञा है कि जब तक वह साबुत है, तब तक मींगी का कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता, खा नहीं सकता; खाना-बिगाड़ना तो बहुत दूर, उसे कोई छू भी नहीं सकता। यदि कोई चोट करता है तो छिलका पहले अपने माथे पर झेलता है; चाहे स्वयं टूट जावे, फूट जावे; पर जब तक वह अटूट है—अफूट

है, समझिये मींगी सुरक्षित है।

इतनी कीमत चुकाने पर उसे कीमत मिली है। उसे आप मुफ़्त की क्यों समझते हैं?

उसीप्रकार व्यवहार ने अपनी पूरी शक्ति से निश्चय का प्रतिपादन किया है; भले ही निश्चय उसका निर्दयतापूर्वक निषेध करता रहा, पर उसने अपने निश्चय-प्रतिपादकत्व स्वभाव को नहीं छोड़ा, तब कहीं जाकर उसे जिनवाणी में स्थान प्राप्त हुआ है।

ऐसी बात सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि यदि यह बात है, व्यवहार इतना वफादार है, तो फिर उसका निषेध क्यों?

भाई! उसकी सार्थकता उसके निषेध में ही है, क्योंकि यदि उसका निषेध न हो तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता है।

क्यों, कैसे?

जैसे कि हमारी दृष्टि से बादाम के पेड़ का लगाना, उसे सींचना, बड़ा करना आदि सम्पूर्ण मेहनत बादाम की मींगी अर्थात् निश्चय-बादाम के सेवन के लिए ही तो है; पर यदि इस विचार से कि जब छिलके ने मींगी की सुरक्षा के लिए इतनी कुर्बानी दी, इतनी वफादारी निभाई है, तो फिर उसे तोड़ें क्यों, फोड़ें क्यों?—ऐसा सोचकर उसे तोड़ें नहीं तो क्या बादाम का सेवन अर्थात् हलुवा बनाकर संभव होगा?

नहीं, कदापि नहीं।

तो फिर जो कुछ भी हो, सम्पूर्ण मेहनत की सार्थकता इसमें ही है कि परिपक्वावस्था में पहुँच जाने पर छिलके को तोड़ दिया जाय, फोड़ दिया जाय; तभी जाकर बादाम का हलुवा खाया जा सकता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि उसे पूर्णत: पक जाने पर ही फोड़ा जाए। यदि कच्ची या अधपकी फोड़ दी तो वह लाभ प्राप्त नहीं होगा, जो हम चाहते हैं। यह भी हो सकता है कि लाभ के स्थान पर हानि भी हो जावे।

इसीप्रकार जिनवाणी और उसमें बताये मार्ग पर चलकर सुख-शांति प्राप्त करने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि बादाम के छिलके को तोड़ने के समान व्यवहार का भी निषेध करें, अन्यथा व्यवहार द्वारा प्रतिपादित निश्चय के विषयभूत अर्थ की प्राप्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं हो सकेगा और हम व्यवहार में ही अटक कर रह जावेंगे। यदि व्यवहार के उपकार याद करके हम उसका निषेध न कर पाये तो

विकल्पों में ही उलझे रहेंगे, विकल्पातीत नहीं हो सकेंगे।

हाँ, यह बात अवश्य है कि व्यवहार का निषेध व्यवहारातीत होने के लिए परिपक्वावस्था में ही होता है, पहले नहीं। यदि पहले करने जावेंगे तो न इधर के रहेंगे, न उधर के। परिपक्वावस्था माने वृद्धावस्था नहीं, अपितु व्यवहार द्वारा परिपूर्ण प्रतिपादन होने के बाद निश्चय की प्राप्ति होना–लेना चाहिए।

जैसे नाव में बैठे बिना नदी पार होंगे नहीं और नाव में बैठे-बैठे नदी पार होंगे नहीं। नाव में नहीं बैठेंगे तो रहेंगे इस पार और नाव में बैठे रहेंगे तो रहेंगे मँझधार। नदी पार करने के लिए नाव में बैठना भी होगा और नाव को छोड़ना भी होगा अर्थात् नाव में से उतरना भी होगा।

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय पाया नहीं जा सकता। निश्चय को समझने के लिए व्यवहार को अपनाना होगा और निश्चय को पाने के लिए व्यवहार को छोड़ना भी होगा।

किन्तु ध्यान रहे, कहीं ऐसा न हो कि नाव के उस पार पहुँचे बिना ही आप नाव को छोड़ दें - नाव से उतर जावें; यदि ऐसा हुआ तो समझिये नदी की धार में बहकर समुद्र में पहुँच जावेंगे।

उसीप्रकार यदि व्यवहार द्वारा वस्तु का पूर्ण निर्णय किये बिना ही, निश्चय के किनारे पर पहुँचे बिना ही, यदि आपने उसे छोड़ दिया तो निश्चय की प्राप्ति तो होगी नहीं, व्यवहार से भी भ्रष्ट हो जावेंगे और संसार-समुद्र में डूबने के अतिरिक्त कोई राह न रहेगी।

अतः व्यवहार कब छोड़ना - इसका ध्यान रखना बहुत जरूरी है। तथा 'कहीं हम व्यवहार को अस्थान में ही न छोड़ दें'–इस भय से 'वह छोड़ने योग्य है'–यह समझने के लिए तैयार ही नहीं होना भी कम मूर्खता नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में व्यवहार का निषेध ही है स्वभाव जिसका ऐसे निश्चय का स्वरूप न समझ पाने के कारण उसके विषयभूत अर्थ की प्राप्ति कैसे होगी?

जिनवाणी में जो निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और व्यवहार-निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध बताया गया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मार्मिक है, उसमें कोई विरोधाभास नहीं है; अतः उसके मर्म को गहराई से समझने का यत्न किया जाना चाहिए।

यद्यपि अभूतार्थ होने पर भी निश्चय का प्रतिपादक होने से व्यवहार को जिनवाणी में स्थान प्राप्त हो गया है; तथापि अभूतार्थ होने से उसका फल संसार ही है। यही कारण है कि निश्चय उसका निर्दयता से निषेध करता है।

पण्डितप्रवर जयचन्दजी छाबड़ा शुद्धनय के उपदेश की प्रधानता का औचित्य सिद्ध करते हुए समयसार गाथा ११ के भावार्थ में लिखते हैं :-

''प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है, और इसका उपदेश भी बहुधा सर्वप्राणी परस्पर करते हैं, और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलम्बन (सहायक) जानकर बहुत किया है; किन्तु उसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है – वह कहीं-कहीं पाया जाता है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसका आश्रय लेने से सम्यक्दृष्टी हो सकता है; इसे जाने बिना जबतक व्यवहार में मग्न है तब तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय-सम्यक्त्व नहीं हो सकता। ऐसा आशय समझना चाहिए।''

यद्यपि यहाँ निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय के निषेध की ही चर्चा की गई है, तथापि शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के काल में तो निश्चयनय के विकल्प (पक्ष) का भी अभाव हो जाता है; क्योंकि शुद्धात्मा की प्राप्ति नयपक्षरूप विकल्पों में उलझे व्यक्ति को नहीं, पक्षातीत – विकल्पातीत व्यक्ति को होती है।

व्यवहारनय के निषेध के बाद निश्चयनय का पक्ष (विकल्प) भी विलय को प्राप्त हो जाता है; क्योंकि जबतक नयरूप विकल्प (पक्ष) रहता है, तब तक निर्विकल्प अनुभूति प्रगट नहीं होती।

'समयसार' की कथनशैली की चर्चा करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं :-

''इस ग्रंथ में पहले से ही व्यवहारनय को गौण करके और शुद्धनय को मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्य के परिणाम परनिमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको आचार्यदेव पहले से ही गौण कहते आये हैं और उन्होंने जीव को शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीव पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद, चैतन्यमात्र स्थापित करके अब कहते हैं कि जो इस शुद्धनय का भी पक्षपात (विकल्प) करेगा, वह भी उस शुद्धस्वरूप के स्वाद को प्राप्त नहीं करेगा।

अशुद्धनय की तो बात ही क्या है, किन्तु यदि कोई शुद्धनय का भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा, इसलिए वीतरागता प्रगट नहीं होगी। पक्षपात को छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को प्राप्त किया जाता है।

इसलिए शुद्धनय को जानकर, उसका भी पक्षपात छोड़कर, शुद्धस्वरूप का अनुभव करके, स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करना चाहिए।[1]"

ध्यान रहे यहाँ पक्ष और पक्षपात का अर्थ विकल्प है। नय का पक्ष छोड़ने का अर्थ नय संबंधी विकल्प को तोड़ना है। वस्तु नयपक्षातीत है अर्थात् विकल्पातीत है—यह समझना चाहिए।

'समयसार' की १४२वीं गाथा में आत्मा को पक्षातिक्रान्त कहा गया है। उसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :—

'जीव में कर्म बद्ध है'—ऐसा जो विकल्प तथा 'जीव में कर्म अबद्ध है' - ऐसा जो विकल्प वे दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्ष का अतिक्रम करता है (उसे उल्लंघन कर देता है, छोड़ देता है), वही समस्त विकल्पों का अतिक्रम करके स्वयं निर्विकल्प, एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात समयसार होता है। यहाँ (विशेष समझाया जाता है कि) जो 'जीव में कर्म बद्ध है' - ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म अबद्ध है' - ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता, और जो 'जीव में कर्म अबद्ध है—ऐसा विकल्प करता है वह भी 'जीव में कर्म बद्ध है' - ऐसे एक पक्ष का अतिक्रम करता हुआ भी विकल्प का अतिक्रम नहीं करता; और जो यह विकल्प करता है कि 'जीव में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है' वह दोनों पक्षों का अतिक्रम न करता हुआ विकल्प का अतिक्रम नहीं करता। इसलिए जो समस्त नयपक्ष का अतिक्रम करता है, वही समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है; जो समस्त विकल्प का अतिक्रम करता है, वही समयसार को प्राप्त करता है—उसका अनुभव करता है।

**भावार्थ :—**'जीव कर्म से बँधा हुआ है' तथा 'नहीं बँधा हुआ है'—यह दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने बन्धपक्ष ग्रहण किया, उसने विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबन्ध पक्ष लिया, तो उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; और किसी ने दोनों पक्ष लिये तो उसने भी पक्षरूप विकल्प का ही ग्रहण

---

[1] समयसार कलश ७० का भावार्थ

किया। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़कर जो कोई भी पक्ष को ग्रहण नहीं करता, वही शुद्धपदार्थ का स्वरूप जानकर उसरूप समयसार को—शुद्धात्मा को प्राप्त करता है। नयपक्ष को ग्रहण करना राग है, इसलिए समस्त नयपक्ष को छोड़ने से वीतराग समयसार हुआ जाता है।''

इसके तत्काल बाद ६९वें कलश में वे कहते हैं :—

**''य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।**
**विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ।।**

जो नयपक्षपात को छोड़कर सदा स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं और जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

**भावार्थ** :—जबतक कुछ भी पक्षपात (विकल्प) रहता है, तबतक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नयों का सब पक्षपात दूर हो जाता है, तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती हैं, स्वरूप में प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।''

नयचक्र में कहा है कि नयों का प्रयोग विकल्पात्मक भूमिका में तत्त्वों का निर्णय करने के लिए ही होता है, आत्माराधना के समय नहीं। अनुभव के काल में तो नय सम्बन्धी सर्व विकल्प विलय को प्राप्त हो जाते हैं। उक्त कथन करने वाली गाथा इसप्रकार है :—

**''तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण ।**
**णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा ।।**[1]

तत्त्वान्वेषण-काल में ही आत्मा युक्तिमार्ग से अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों द्वारा जाना जाता है, परन्तु आत्मा की आराधना के समय वे विकल्प नहीं होते, क्योंकि उस समय तो आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष ही है।''

यहाँ यह बात बहुत सावधानी से समझने योग्य है कि यहाँ निश्चयनय का पक्ष छुड़ाया है, विकल्प छुड़ाया है, निश्चयनय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहारनय का मात्र पक्ष ही नहीं, उसका विषयभूत अर्थ भी छोड़ने योग्य है; पर निश्चयनय का मात्र पक्ष या विकल्प छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है। निश्चयनय के विषयभूत अर्थ को ग्रहण करने में बाधक जानकर ही निश्चयनय के विकल्प (पक्ष) को भी छुड़ाया है।

ध्यान रहे 'शुद्धनय'[2] शब्द का प्रयोग निश्चयनय के विकल्प के अर्थ में

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २६८

[2] शुद्धनय निश्चयनय का ही एक भेद है, जिसकी चर्चा आगे नय के भेदों में की जाएगी।

भी होता है और उसके विषयभूत अर्थ के अर्थ में भी। जहाँ निश्चयनय के पक्ष को छोड़ने की बात कही हो, समझना चाहिए कि उसके विकल्प को छुड़ाया जा रहा है; और जहाँ शुद्धनय के ग्रहण की बात कही हो वहाँ समझना चाहिए कि शुद्धनय के विषयभूत अर्थ की बात चल रही है। समयसार कलश १२२ से भी इस बात की पुष्टि होती है :–

> "**इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।**
> **नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्त्यागाद्बंध एव हि।।**

यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से बंध नहीं होता और त्याग से बंध होता है।"

कविवर पण्डित बनारसीदास जी ने इस कलश का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार किया है :–

> "**यह निचोर या ग्रंथ कौ, यहै परम रस पोख ।**
> **तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख।।"**

व्यवहारनय का निषेध तो निश्चयनय करता ही है; साथ में स्वयं के पक्ष का भी निषेध कर आत्मा को पक्षातीत, विकल्पातीत, नयातीत कर देता है।

आचार्य देवसेन अपने 'नयचक्र' में निश्चयनय को पूज्यतम सिद्ध करते हुए लिखते हैं :–

"**निश्चयनयस्त्वेकत्वे समुपनीय ज्ञानचैतन्ये संस्थाप्य परमानंदं समुत्पाद्य वीतरागं कृत्वा स्वयं निवर्तमानो नयपक्षातिक्रांतं करोति तमिति पूज्यतमः।**[1]

निश्चयनय एकत्व को प्राप्त कराके ज्ञानरूपी चैतन्य में स्थापित करता है, परमानन्द को उत्पन्न कर वीतराग बनाता है। इतना काम करके वह स्वतः निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार वह जीव को नयपक्ष से अतीत कर देता है। इस कारण वह पूज्यतम है।"

और भी देखिये :–

"**यथा सम्यग्व्यवहारेण मिथ्याव्यवहारो निवर्तते तथा निश्चयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते। यथा निश्चयनयेन व्यवहारविकल्पोऽपि निवर्तते तथा स्वपर्यवसितभावेनैकत्वविकल्पोऽपि निर्वतते। एवं हि जीवस्य योऽसौ स्वपर्यवसितस्वभाव स एव नयपक्षातीतः।**[2]

जिसप्रकार सम्यक्व्यवहार से मिथ्याव्यवहार की निवृत्ति होती है; उसी

---

[1] श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ ३२

[2] श्रुतभवन दीपक नयचक्र, पृष्ठ ६९–७०

प्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की भी निवृत्ति हो जाती है। जिसप्रकार निश्चयनय से व्यवहार के विकल्पों की निवृत्ति होती है; उसीप्रकार स्वपर्यवसित[1] भाव से एकत्व का विकल्प[2] भी निवृत्त हो जाता है। इसप्रकार जीव का स्वपर्यवसितस्वभाव ही नयपक्षातीत है।''

इसप्रकारं हम देखते हैं कि जबतक नयविकल्प चलता रहता है, तबतक आत्मा परोक्ष ही रहता है, वह प्रत्यक्षानुभूति का विषय नहीं बन पाता। तथा जबतक वह प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आ जाता, तबतक उसके पक्षों को जानने के विकल्प उठना स्वाभाविक ही है। उन विकल्पों के समाधान हेतु ही नयों की प्रवृत्ति होती है। कहा भी है :–

**''एवमात्मा यावद्व्यवहारनिश्चयाभ्यां तत्त्वमनुभवति तावत्परोक्षानुभूतिः। प्रत्यक्षानुभूतिर्नयपक्षातीता।**[3]

इसप्रकार आत्मा जबतक व्यवहार और निश्चय के द्वारा तत्त्व का अनुभव करता है, तबतक परोक्षानुभूति होती है, क्योंकि प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत होती है।''

**''यथा कश्चिद्देवदत्तोऽपूर्वान् परोक्षानश्वान् राज्ञे निवेदयति। स यथा राजा हृस्वदीर्घलोहितादिधर्मावबोधाय पौनःपुन्याद्विकल्प्य पृच्छति। तथा परोक्षार्थ श्रुतनिवेदिताऽनंतधर्मावबोधनाय विकल्पा भवंति।**[4]

जैसे–कोई देवदत्त नामक पुरुष राजा से अपूर्व परोक्ष घोड़ों के बारे में चर्चा करता है। तब वह राजा उससे बड़ी ही उत्सुकता से – वे कैसे हैं, छोटे हैं या बड़े हैं, उनका रंग कैसा है, लाल है क्या, आदि - उनके अनेक धर्मों–गुणों के बारे में बार-बार विकल्प उठाकर पूछता है; उसीप्रकार परोक्ष पदार्थ की चर्चा होने पर उसमें रहने वाले अनन्त धर्मों के बारे में विकल्प होते हैं, विकल्पों का होना स्वाभाविक ही है।''

किन्तु जब वे घोड़े जिनकी चर्चा राजा ने देवदत्त से सुनी थी, राजा के सामने उपस्थित हो जावें तब सब-कुछ प्रत्यक्ष स्पष्ट हो जाने से विकल्पों का शमन सहज हो जाता है; उसीप्रकार जब आत्मा अनुभव में प्रत्यक्ष आ जाता है तब नयरूप विकल्पों का शमन हो जाना स्वाभाविक है, सहजसिद्ध है। यही कारण है कि प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत - विकल्पातीत होती है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब प्रत्यक्षानुभूति नयपक्षातीत है और सुखी

---

[1] अनुभवगम्य

[2] 'निश्चयनय से आत्मा एक है, शुद्ध है'–ऐसा निश्चयनय संबंधी विकल्प

[3] श्रुतभवन दीपक नयचक्र, पृष्ठ ३२

[4] वही, पृष्ठ ३६

होने के लिए एक प्रत्यक्षानुभूति ही उपादेय है, विकल्पजाल में उलझने से कोई लाभ नहीं है, तो फिर हमें निश्चयनय और व्यवहारनय के विकल्प जाल में क्यों उलझाते हो? यदि हम नयों के स्वरूप को जाने बिना ही नय पक्षातीत हो जाते हैं तो फिर नयों के विस्तार में जाने की क्या आवश्यकता है? भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय में और पार्श्वनाथ भगवान के जीव ने हाथी की पर्याय में आत्मानुभूति प्राप्त की थी, प्रत्यक्षानुभूति की थी; तो क्या वे उस समय नयों के इस विस्तार को जानते थे? नहीं, तो फिर हमें ही क्यों इस विस्तार में उलझाना चाहते हैं? क्यों न हम शेर और हाथी के समान नयपक्षातीत हो जावें, विकल्पातीत हो जावें, आत्मानुभूति प्राप्त कर लें? या फिर 'तुषमासं घोषन्तो' वाले शिवभूति मुनिराज के समान अपने चरमलक्ष्य को प्राप्त कर लें।

कर लीजिए न ! कौन रोकता है? यदि आप कर सकते हैं तो अवश्य कर लीजिए। उपादेय तो प्रत्यक्षानुभूति, निर्विकल्प-अनुभूति ही है, नयविकल्प नहीं। नयों का स्वरूप तो प्रत्यक्षानुभूति में सहायक जानकर ही बताया जा रहा है, नयों के विकल्पों में ही उलझे रहने के लिए नहीं। नयचक्र में भी ऐसा ही कहा है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है :–

"यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है, तथापि वह आत्मा नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत होने में समर्थ नहीं है; अर्थात् विकल्पात्मक नयज्ञान बिना निर्विकल्प (नयपक्षातीत) आत्मानुभूति संभव नहीं है; क्योंकि अनादिकालीन कर्मवश से यह असत्-कल्पनाओं में उलझा हुआ है; अतः सत्-कल्पनारूप अर्थात् सम्यक्-विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं।[१] "

आचार्य उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है तथा तत्त्वार्थों के अधिगम का उपाय प्रमाण और नयों को निरूपित किया है।[२]

"नयदृष्टि से विहीन व्यक्ति को वस्तुस्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वभाव की उपलब्धि बिना सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभव कैसे हो सकता है?"–नयचक्रकार माइल्लधवल की इस उक्ति का उल्लेख भी आरंभ में किया ही जा चुका है।

फिर भी आप नयों और उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप को समझे बिना ही आत्मानुभूति प्राप्त करने का आग्रह रखते हैं तो भले ही रखें।

---

[१] श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ २९

[२] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २ एवं ६

हाँ, यह बात अवश्य है कि आप नयों के विस्तार में न जाना चाहें तो भले ही न जावें पर उनका सामान्यरूप से सम्यक्ज्ञान तो करना ही होगा।

आप शेर और हाथी की बात करते हैं? सो भाई शेर और हाथी तो सात तत्त्वों, छह द्रव्यों, नव पदार्थों, पाँच भावों, चार अभावों, द्रव्य-गुण-पर्याय आदि के भी नामादिक तक नहीं जानते थे; पर आपने क्यों सीखे? इनके नामादिक बिना जाने जैसे उन्होंने आत्मानुभव किया था, वैसे आप भी कर लेते। जैसे आपने सप्ततत्त्वादिक का ज्ञान किया, वैसे प्रमाण-नयादिक का भी करना चाहिए। उनके समान ही ये भी उपयोगी हैं।

शेर और हाथी की पर्याय में उन्हें सप्ततत्त्वादिक के नामादिक का ज्ञान नहीं होने पर भी उनका भाव-भासन था; उसीप्रकार उन्हें नयादिक के भी नामादिक का ज्ञान न होने पर भी उनके विषय का भाव-भासन था, अन्यथा आत्मानुभूति संभव नहीं थी।

तत्त्वार्थों का भाव-भासन हो – इस प्रयोजन से जिसप्रकार आप उनके विस्तार में, उनकी गहराई में जाते हैं; उसीप्रकार नयों और उनके विषयभूत अर्थ का सही भाव-भासन हो–इसके लिए यदि समय हो तो बुद्धि के अनुसार इनकी भी गहराई में, इनके भी विस्तार में जाना अनुचित नहीं है।

यदि आप शिवभूति मुनिराज के समान चरम लक्ष्य को पा सकते हैं, तो अवश्य पा लें। पर पा नहीं पा रहे हैं, इसलिए तो यह सब समझाया जा रहा है। विस्तार में उलझाने के लिए विस्तार से नहीं समझाया जा रहा है, अपितु सुलझाने के लिए ही यह सब प्रयत्न है। और यह यत्न मात्र हमारा नहीं, जिनवाणी में भी किया गया है। वस्तुस्वभाव के प्रकाशन के लिए ही नयचक्र का प्रयोग किया गया है, उलझाने के लिए नहीं। इसी बात को लक्ष्य में रखकर माइल्लधवल ने ग्रंथ का नाम ही 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' रखा है।

भाई! राजमार्ग तो यही है कि हम निश्चय-व्यवहारनय का स्वरूप समझकर व्यवहारनय और उसका विषय छोड़कर तथा निश्चयनय के भी विकल्प को तोड़कर निश्चयनय की विषयभूत वस्तु का आश्रय लेकर नयपक्षातीत, विकल्पातीत आत्मानुभूति को प्राप्त करें। इसी प्रयोजन से यह सब कथन किया गया है।

इसप्रकार यहाँ निश्चय और व्यवहार का स्वरूप, उनमें परस्पर सम्बन्ध, हेयोपादेय-व्यवस्था, उनकी भूतार्थता-अभूतार्थता एवं नयपक्षातीत अवस्था की सामान्य चर्चा की।

—o—

# निश्चय-व्यवहार : कुछ प्रश्नोत्तर

निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों के विस्तार में जाने के पहले उनके सम्बन्ध में उठने वाले कुछ सहज प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित होगा; क्योंकि इन आशंकाओं के बने रहने पर भेद-प्रभेदों के विस्तार में सहज जिज्ञासुओं का भी निःशंक प्रवेश नहीं होगा। मुक्ति के मार्ग में नयों की उपयोगिता एवं उनके हेयोपादेयत्व का सही निर्णय न हो पाने की स्थिति में इनके विस्तार में जाने की जैसी रुचि और पुरुषार्थ जागृत होना चाहिए, वैसी रुचि और पुरुषार्थ जागृत नहीं होगा; जैसी निष्पक्ष दृष्टि बननी चाहिए, वैसी निष्पक्ष दृष्टि नहीं बनेगी। इस बात को ध्यान में रखकर यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जा रहा है।

**(१) प्रश्न :–** समयसार गाथा १२ की आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने एक गाथा उद्धृत की है, जो इसप्रकार है :–

**"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुणह ।**
**एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।**

यदि जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हो तो निश्चय-व्यवहार में से एक को भी मत छोड़ो, क्योंकि एक (व्यवहार) के बिना तीर्थ का लोप हो जावेगा और दूसरे (निश्चय) के बिना तत्त्व का लोप हो जावेगा।"

जब समयसार में ऐसा कहा है तो फिर आप निश्चय-व्यवहार में भेद क्यों करते हैं, एक को हेय और दूसरे को उपादेय क्यों कहते हैं? जब दोनों नयों की एक-सी उपयोगिता और आवश्यकता है तो फिर उनमें भेद-भाव करना कहाँ तक ठीक है?

**उत्तर :–** भाई ! हम क्या कहते हैं और उक्त गाथा का क्या भाव है - इसे ठीक से न समझ पाने के कारण ही यह प्रश्न उठता है। कुछ लोगों द्वारा जान-बूझकर भी उक्त गाथा का आधार देकर इस प्रश्न को कुछ इसतरह उछाला जाता है, प्रस्तुत किया जाता है कि जिससे समाज को ऐसा भ्रम उत्पन्न हो कि जैसे हम उक्त गाथा के भाव से सहमत नहीं हैं, तथा उक्त गाथा का अर्थ भी इसप्रकार प्रस्तुत किया जाता है जैसे यह गाथा व्यवहारनय को निश्चयनय के समान ही उपादेय प्रतिपादित कर रही हो। जबकि ऐसी कोई

बात नहीं है, यह गाथा तो निश्चय-व्यवहार की वास्तविक स्थिति को ही स्पष्ट करती है।

इसमें कहा गया है कि व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप हो जावेगा और निश्चय के बिना तत्त्व का लोप हो जायेगा अर्थात् तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। यहाँ 'तीर्थ' का अर्थ उपदेश और 'तत्त्व' का अर्थ शुद्धात्मा का अनुभव है। उपदेश की प्रक्रिया प्रतिपादन द्वारा सम्पन्न होती है, तथा प्रतिपादन करना व्यवहार का काम है, अतः व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने से तीर्थ का लोप हो जावेगा—ऐसा कहा है; शुद्धात्मा का अनुभव निश्चयनय के विषयभूत अर्थ में एकाग्र होने पर होता है; अतः निश्चयनय को छोड़ने पर तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होगा—ऐसा कहा है। द्वादशांग जिनवाणी में व्यवहार द्वारा जो भी उपदेश दिया गया है, उसका सार एकमात्र आत्मा का अनुभव ही है। आत्मानुभूति ही समस्त जिनशासन का सार है।

इसप्रकार इस गाथा में यही तो कहा गया है कि उपदेश की प्रक्रिया में व्यवहारनय प्रधान है और अनुभव की प्रक्रिया में निश्चयनय प्रधान है।

आत्मा के अनुभव में व्यवहारनय स्वतः गौण हो गया है। इसलिए आत्मानुभव के अभिलाषी आत्मार्थी निश्चयनय के समान ही व्यवहार को उपादेय कैसे मान सकते हैं? व्यवहार की जो उपयोगिता है, वे उसे भी अच्छी तरह जानते हैं। ज्ञानीजन जब व्यवहारनय को हेय या असत्यार्थ कहते हैं तो उसे गौण करके ही असत्यार्थ कहते हैं, अभाव करके नहीं—यह बात ध्यान में रखने योग्य है।

गाथा की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि यदि तुम जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार-निश्चय को मत छोड़ो। 'प्रवर्ताना' शब्द के दो भाव होते हैं। एक तो तीर्थ-प्रवर्तन और दूसरा आत्मानुभवन। 'तीर्थ-प्रवर्तन' का अर्थ जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है। अतः यदि जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है तो वह व्यवहार द्वारा ही संभव होगा, अनिर्वचनीय या 'न तथा' शब्द द्वारा वक्तव्य निश्चयनय से नहीं; किन्तु जिनमत का वास्तविक प्रवर्तन तो आत्मानुभवन ही है; अतः आत्मानुभूतिरूप जिनमत का प्रवर्तन तो निश्चयनय के विषयभूत अर्थ में मग्न होने पर ही संभव है। यहाँ उपदेश के विकल्परूप व्यवहारनय को कहाँ स्थान प्राप्त हो सकता है?

तीर्थंकर भगवान महावीर का तीर्थ आज भी प्रवर्तित है, क्योंकि उनकी वाणी में निरूपित शुद्धात्मवस्तु का अनुभव ज्ञानीजन आज भी करते हैं – यह व्यवहार और निश्चय की अद्भुत संधि है। अनुभव की प्रेरणा की देशनारूप व्यवहार और अनुभवरूप निश्चय की विद्यमानता ही व्यवहार-निश्चय को नहीं छोड़ने की प्रक्रिया है, जिसका आदेश उक्त गाथा में दिया गया है।

दूसरे प्रकार से विचार करें तो मोक्षमार्ग की पर्याय को तीर्थ कहा जाता है तथा जिस त्रिकाली ध्रुव निज शुद्धात्मवस्तु के आश्रय से मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट होती है, उसे तत्त्व कहते हैं; अतः व्यवहार को नहीं मानने से मोक्षमार्गरूप तीर्थ और निश्चय को नहीं मानने से निज शुद्धात्मतत्त्व के लोप का प्रसंग उपस्थित होगा।

इस संदर्भ में इस सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विचार द्रष्टव्य हैं :–

"जिनमत अर्थात् वीतराग अभिप्राय को प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। 'व्यवहार नहीं है' – ऐसा मत कहो। व्यवहार है, किन्तु गाथा ११ में जो असत्य कहा है, वह त्रिकाल ध्रुव निश्चय की विवक्षा में गौण करके असत्य कहा है, बाकी व्यवहार है, मोक्ष का मार्ग है। व्यवहारनय न मानो तो तीर्थ का नाश हो जायेगा। चौथे, पाँचवें, छठवें आदि चौदह गुणस्थान जो व्यवहार के विषय हैं, वे हैं। मोक्ष का उपाय जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं, वे व्यवहार हैं। चौदह गुणस्थान द्रव्य में नहीं हैं - यह तो ठीक, किन्तु पर्याय में भी नहीं है - ऐसा कहोगे तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा। तथा तीर्थ का फल जो मोक्ष और सिद्धपद है, उसका भी अभाव हो जायेगा। ऐसा होने पर जीव के संसारी और सिद्ध – ऐसे जो दो विभाग पड़ते हैं, वह व्यवहार भी नहीं रहेगा।

भाई ! बहुत गंभीर अर्थ है। भाषा तो देखो ! यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को 'तीर्थ' कहा और वस्तु को 'तत्त्व' कहा है। त्रिकाली ध्रुव चैतन्यघन वस्तु निश्चय है। उस वस्तु को जो नहीं मानेंगे तो तत्त्व का नाश हो जाएगा। और तत्त्व के अभाव में, तत्त्व के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो मोक्षमार्गरूप तीर्थ, वह भी नहीं रहेगा। इस निश्चयरूप वस्तु को नहीं मानने से तत्त्व का और तीर्थ का दोनों का नाश हो जायेगा, इसलिए वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ मानना।

जबतक पूर्णता नहीं हुई, तबतक निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं।

पूर्णता हो गई अर्थात् स्वयं में पूर्ण स्थिर हो गया, वहाँ सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये। उसमें तीर्थ व तीर्थफल सभी कुछ आ गया।[१]"

**(२) प्रश्न** :–अनुभव के काल में तो निश्चय और व्यवहार दोनों ही नहीं रहते हैं; अतः निश्चयनय को अनुभव से कैसे जोड़ा जा सकता है?

**उत्तर** :–हाँ, यह बात तो सही है कि अनुभव के काल में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों सम्बन्धी विकल्प नहीं रहते; पर व्यवहारनय के साथ-साथ व्यवहारनय के विषय का आश्रय भी छूट जाता है और निश्चयनय (शुद्धनय) का मात्र विकल्प छूटता है, विषय का आश्रय रहता है। निश्चय के विषय को भी निश्चय कहते हैं। इसी आधार पर कहा जाता है कि :–

**"णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।।**[२]

निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिराज निर्वाण को प्राप्त करते हैं।"

इसीकारण यह कहा जाता है कि निश्चयनय के छोड़ने पर तत्त्वोपलब्धि अर्थात् आत्मानुभव नहीं होगा। यही कारण है कि अनुभव नयातीत-विकल्पातीत होने पर भी निश्चयनय से जुड़ा हुआ है।

**(३) प्रश्नः**–समयसार में एक ओर तो अनुभव को नयपक्षातीत कहा है तथा दूसरी ओर यह भी कहा है कि निश्चयनय का आश्रय लेनेवाले मुनिराज ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं–इसका क्या कारण है?

**उत्तरः**–अनुभव को नयपक्षातीत कहने से आशय नय-विकल्प के अभाव से है। नयपक्षातीत अर्थात् नयविकल्पातीत। किन्तु जहाँ निश्चयनय के आश्रय से अनुभव होता है–यह कहा हो, वहाँ निश्चयनय का अर्थ निश्चयनय का विषयभूत अर्थ लेना चाहिए। आशय यह है कि अनुभव में निश्चयनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय तो रहता है-पर 'मैं शुद्ध हूँ'–इसप्रकार का निश्चयनय संबंधी विकल्प नहीं रहता है।

यह तो पहिले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि निश्चय के दो अर्थ होते हैं :– एक निश्चयनय सम्बन्धी विकल्प और दूसरा निश्चयनय का विषयभूत अर्थ।

**(४) प्रश्नः**–निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों में जाने की क्या आवश्यकता है? बस उनका सामान्य स्वरूप जान लें और निश्चयनय के

---

[१] प्रवचनरत्नाकर भाग १ पृष्ठ १६२–१६३

[२] समयसार, गाथा २७२

विषयभूत अर्थ में अपना उपयोग लगा दें, क्योंकि साध्यसिद्धि तो उससे ही होने वाली है, विकल्पजाल में उलझने से तो कुछ लाभ है नहीं?

**उत्तरः**—विकल्पजाल में उलझने से तो कोई लाभ नहीं है—बात तो ऐसी ही है; पर निश्चयनय और व्यवहारनय तो अनेक प्रकार के हैं, कौन से निश्चयनय के विषय में दृष्टि केन्द्रित करना है—इसका निर्णय लिये बिना किसमें दृष्टि केन्द्रित करोगे? दूसरी बात यह भी तो है कि जिनवाणी में जिस वस्तु को एक प्रसंग में निश्चयनय का विषय बताया जाता है, उसी वस्तु को अन्य प्रसंग में व्यवहारनय का विषय कह देते हैं। इसका सोदाहरण विशेष स्पष्टीकरण निश्चय और व्यवहार के भेद-प्रभेदों पर विचार करते समय विस्तार से करेंगे।

इसप्रकार जिनवाणी में प्रयुक्त नयचक्र अत्यन्त जटिल है, उसे गहराई से समझने के लिए उपयोग को थोड़ा सूक्ष्म बनाना होगा; अरुचि दिखाकर पिण्ड छुड़ाने से काम नहीं चलेगा। जब आत्मानुभव प्राप्त करने के लिए कमर कसी है, तो थोड़ा-सा पुरुषार्थ नय-कथनों के मर्म के समझने में लगाइये। जटिल नयचक्र को समझे बिना जिनवाणी के अवगाहन करने में कठिनाई तो होगी ही; साथ ही पद-पद पर शंकाएँ भी उपस्थित होंगी, जिनका निराकरण नय-विभाग के समझने पर ही संभव होगा।

समयसार की २६ वीं गाथा में, जब अप्रतिबुद्ध शिष्य देह के माध्यम से की जानेवाली तीर्थंकरों की स्तुतियों से आत्मा और देह की एकता संबंधी आशंका प्रकट करता है, तो आचार्य यही उत्तर देते हैं कि तू नय-विभाग से अनभिज्ञ है, इसलिए ऐसी बात करता है। उसकी शंका का समाधान भी नय-विभाग समझाकर ही करते हैं और अन्त में कहते हैं:—

"नय-विभाग के द्वारा अच्छी तरह समझाये जाने पर भी ऐसा कौन मूर्ख होगा कि जिसको आत्मबोध नहीं होगा अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होगा? नय-विभाग से समझाये जाने पर योग्य पात्र को बोध की प्राप्ति होती ही है।[१] "

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रंथराज 'नियमसार' की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका समाप्त करते हुए मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं:—

"जो लोग समस्त नयों के समूह से शोभित इस भागवत् शास्त्र को निश्चय और व्यवहारनय के अविरोध से जानते हैं, वे महापुरुष समस्त

---

१. समयसार, कलश २८

अध्यात्म-शास्त्रों के हृदय को जानने वाले और शाश्वत सुख के भोक्ता होते हैं।[1]"

समयसार, नियमसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार के अनेक भेद-प्रभेदों से कथन किया गया है। निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों को जाने बिना इन आध्यात्मिक ग्रंथों के मर्म को पा लेना आसान नहीं है। अतः इनके अध्ययन में रुचि उत्पन्न कर इन्हें समझने का यत्न करना चाहिए।

**(५) प्रश्नः**—तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि नयचक्र जानना समयसार से भी अधिक आवश्यक है? क्या नयचक्र समयसार से भी बड़ा है?

**उत्तरः**—नहीं; समयसार तो ग्रंथाधिराज है, उससे बड़ा नयचक्र नहीं है। नयचक्र का जानना समयसार से भी अधिक आवश्यक तो नहीं है, पर समयसार का मर्म जानने के लिए नयों का स्वरूप जानना उपयोगी अवश्य है। समयसार ही क्या, समस्त जिनवाणी नयों की परिभाषा में निबद्ध है। अतः जिनवाणी के मर्म को जानने के लिए नयों का जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने तो समयसार की प्रशंसा '**इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं**'[2] और '**न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति**'[3] -कहकर की है। उनका कहना यह है कि समयसार जगत का अक्षयचक्षु है और इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

नयचक्र इससे बढ़कर कैसे हो सकता है? नयचक्र तो आचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि ग्रंथों का सार लेकर ही बनाया गया है; जैसा कि माइल्लधवल ने ग्रंथ के आरम्भ में ही लिखा है। उनका कथन मूलतः इसप्रकार हैः—

"**श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कृतशास्त्रात् सारार्थं परिगृह्य स्वपरोपकाराय 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्रं...।**

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कृत शास्त्र से सारभूत अर्थ को ग्रहण करके अपने और दूसरों के उपकार के लिए 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' नामक ग्रन्थ ...।"

आचार्य देवसेन ने तो अपने नयचक्र का आरंभ ही समयसार की गाथाओं से किया है। निश्चय-व्यवहार का स्वरूप बताने वाली तीन गाथाओं को देकर वे अपना नयचक्र आरम्भ करते हुए लिखते हैं कि इन गाथाओं के

---

[1] नियमसार, गाथा १८७ की टीका

[2] समयसार कलश, २४५

[3] समयसार कलश, २४४

भावार्थ पर विचार करते हैं। इसप्रकार पूरा ग्रन्थ ही उन गाथाओं के विचार में समाप्त हो गया है।

जितने भी 'नयचक्र' नाम से अभिहित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, वे सभी समयसारादि ग्रन्थों में प्रयुक्त नयों के विश्लेषण में ही समर्पित हैं; अतः उन्हें समयसार से भी बड़ा कहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? उनकी रचना तो समयसार जैसे गूढ़ ग्रन्थों के रहस्योद्घाटन के लिए ही हुई है। वे तो समयसाररूपी महल के प्रवेशद्वार हैं, सीढ़ियाँ हैं; वे तो पंथ हैं, पथिक के पाथेय हैं; प्राप्तव्य नहीं; प्राप्तव्य तो एकमात्र समयसार की विषयवस्तु समयसाररूपी शुद्धात्मा ही है।

समयसारादि ग्रन्थों में पग-पग पर इसप्रकार के कथन आते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से ऐसा है और अशुद्धनिश्चयनय से ऐसा, सद्भूतव्यवहारनय से ऐसा है और असद्भूतव्यवहारनय से ऐसा, यह उपचरितकथन है और यह अनुपचरित। यदि आप निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों को नहीं जानेंगे तो यह सब कैसे समझ सकेंगे?

अतः हमारा अनुरोध है कि थोड़ा समय विषय-कषायों के पोषण से निकालकर निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों को समझने में लगाइये; बहाना न बनाइये; बुद्धि कम होने की बातें भी मत कीजिए, क्योंकि दुनियाँदारी में तो आप बहुत चतुर हैं; कुतर्कों द्वारा इनके अध्ययन का निषेध भी मत कीजिए। हम आपसे समयसार का अध्ययन छोड़कर इसे पढ़ने की नहीं कह रहे हैं, हम तो दुनियाँदारी के गोरख-धंधे से थोड़ा समय निकाल कर इसके अध्ययन में लगने की प्रेरणा दे रहे हैं।

इस पर भी यदि आप इनका परिज्ञान नहीं करना चाहते तो मत करिये; पर इनके अध्ययन को निरर्थक बताकर दूसरों को निरुत्साहित तो न कीजिए। जिनवाणी की इस अद्भुत कथन-शैली के प्रचार-प्रसार में आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा।

आप कह सकते हैं कि आपको इनका इतना अधिक रस क्यों है? पर भाईसाहब ! जब जो प्रकरण चलता हो, तब उसके अध्ययन की प्रेरणा देना तो लेखक तथा वक्ता का कर्त्तव्य है, इसमें अधिक रस होने की बात कहाँ है? हो भी तो समयसार का सार समझने-समझाने के लिए ही तो है। नयों का रस नयपक्षातीत होने के लिए है, नयों में उलझने-उलझाने के लिए नहीं।

अधिक क्या? समझनेवालों के लिए इतना ही पर्याप्त है।

अब यहाँ निश्चय-व्यवहार के भेद-प्रभेदों की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

# निश्चयनय : भेद-प्रभेद

निश्चय और व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों की विविधता और विस्तार के चक्रव्यूह में प्रवेश करने के पूर्व जिनेन्द्र भगवान के नयचक्र को चलाने में व समझने में रुचि रखनेवाले आत्मार्थी जिज्ञासुओं से अबतक प्रतिपादित विषय का एक बार पुनरावलोकन कर लेने का सानुरोध आग्रह है। इससे उन्हें भेद-प्रभेदों की बारीकियों को समझने में सरलता रहेगी। अब अवसर आ गया है कि हम सरलता और सरसता का व्यामोह छोड़, नयचक्र की चर्चा कुछ अधिक गहराई से करें।

निश्चयनय यद्यपि अभेद्य है, भेद-प्रभेदों में भेदा जाना उसे सह्य नहीं है; तथापि जिनागम में समझने-समझाने के लिए उसके भेद किये गए हैं।

निश्चयनय के भेद क्यों नहीं हो सकते, यदि नहीं हो सकते तो फिर जिनागम में उसके भेद क्यों किए गए, कहाँ किये गए, कितने किए गए हैं और सर्वज्ञ-कथित जिनागम में यह विभिन्नता क्यों है, आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनका समाधान विभिन्न कथनों के सकारण समन्वय के रूप में तथा जिनागम के परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित है।

इस षड्-द्रव्यात्मक लोक में अनन्त वस्तुएँ हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन छह द्रव्यों में जीवद्रव्य अनन्त हैं, जीवों से अनन्तगुणे अनन्त अर्थात् अनन्तानन्त पुद्गल हैं। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा कालद्रव्य असंख्यात हैं। छह तो द्रव्यों के प्रकार हैं, सब मिलाकर द्रव्य अनन्तानन्त हैं। वे अनन्तानन्त द्रव्य ही लोक की अनन्त वस्तुएँ हैं। वे सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जगत की प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

ये सामान्य-विशेषात्मक वस्तुएँ ही प्रमाण की विषय हैं अर्थात् प्रमेय हैं, ज्ञान की विषय अर्थात् ज्ञेय हैं।[१] इन्हें सम्यक् जाननेवाला ज्ञान ही प्रमाण है।[२] सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और नय प्रमाण का एकदेश है – यह बात स्पष्ट की ही जा चुकी है।

---

[१] 'सामान्य 'विशेषात्मा तदर्थो विषयः।'-परीक्षामुख, चतुर्थ परिच्छेद, सूत्र १

[२] 'सम्यग्ज्ञान प्रमाणं।'- न्यायदीपिका, प्रथम प्रकाश, पृष्ठ ९

इसप्रकार प्रमाण का विषय सम्पूर्णवस्तु है और नय का विषय वस्तु का एकदेश अर्थात् अंश है।

जब सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को सामान्य और विशेष - इन अंशों में विभाजित करके समझा जाता है, तो सामान्यांश को विषय करने वाला एक नय होता है और विशेषांश को विषय बनाने वाला दूसरा नय। प्रथम का नाम निश्चयनय है और दूसरे का नाम व्यवहारनय।

जिनागम में निश्चयनय को अनेक नामों से अभिहित किया गया है; जैसे :- शुद्धनय, परमशुद्धनय, परमार्थनय, भूतार्थनय; पर यह अनेक प्रकार का नहीं है। इसके विषयभूत सामान्य के स्वरूप में जो अनेक विशेषताएँ हैं, उनकी अपेक्षा ही इसे अनेक नाम दे दिये गए हैं। सामान्य को अभेद, निरुपाधि, द्रव्य, शक्ति, स्वभाव, शुद्धभाव, परमभाव, एक, परमार्थ, निश्चय, ध्रुव, त्रिकाली आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है।

सामान्य शुद्धभावरूप होता है, परमभावरूप होता है; अतः उसे विषय बनाने वाले नय को शुद्धनय, परमशुद्धनय कहा जाता है। सामान्य परम-अर्थ अर्थात् परमपदार्थ है; अतः उसे विषय बनाने वाले निश्चयनय को परमार्थनय भी कहा जाता है।

सामान्य ध्रुव द्रव्यांश है और विशेष पर्यायें हैं, इस कारण सामान्य-द्रव्य को विषय बनाने वाले नय को द्रव्यार्थिक एवं विशेष–पर्याय को विषय बनाने वाले नय को पर्यायार्थिकनय भी कहते हैं।

सामान्य एक होता है, अतः उसको विषय बनाने वाला निश्चयनय भी एक ही होता है, पर विशेष अनेक होते हैं, अनेक प्रकार के होते हैं, अतः उन्हें विषय बनाने वाले व्यवहारनय भी अनेक होते हैं, अनेक प्रकार के होते हैं।

विशेष के भी पर्याय, भेद, उपाधि, विभाव, विकार आदि अनेक नाम हैं। पर्यायें अनेक होती हैं, अनेक प्रकार की होती हैं; भेद अनेक होते हैं, अनेक प्रकार के होते हैं। इसीप्रकार उपाधि, विकार और विभाव भी अनेक और अनेक प्रकार के होते हैं। अतः उनको विषय बनाने वाला व्यवहारनय भी अनेक प्रकार का हो तो कोई आश्चर्य नहीं। पर एक, शुद्ध, त्रिकाली, परमपदार्थ, ध्रुवसामान्य को विषय बनाने वाला निश्चयनय अनेक प्रकार का कैसे हो सकता है? भले ही उसके अनेक नाम हों, पर वह मात्र एक सामान्यग्राही होने से एक ही है।

निश्चयनय एक प्रकार का ही होता है, अनेक प्रकार का नहीं – इस बात को सिद्ध करते हुए पंचाध्यायीकार लिखते हैं:–

"ननु च व्यवहारनयो भवति यथानेक एव सांशत्वात् ।
अपि निश्चयो नयः किल तद्वदनेकोऽथ चैकैकस्त्विति चेत् ।।
नैवं यतोऽस्त्यनेको नैकः प्रथमोऽप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो हि नानेकः ।।
संदृष्टिः कनकत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो यादृक् ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ।।
एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित् ।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ।।
शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ।।
इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
स हि मिथ्यादृष्टिः स्यात् सर्वज्ञावमानितो नियमात् ।।
इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्धयर्थम् ।।
अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलंकावमुक्तबोधात्मा ।।[1]

**शंका:**—जिसप्रकार व्यवहारनय अनेक हैं, क्योंकि वह सांश हैं; उसीप्रकार निश्चयनय भी एक-एक मिलकर अनेक ही हैं-यदि ऐसा माना जाए तो क्या आपत्ति है?

**समाधान:**—ऐसा नहीं है; क्योंकि अनन्त धर्म होने से व्यवहारनय अनेक हैं, एक नहीं। किन्तु निश्चयनय का लक्षण 'न तथा' है, इसलिए वह एक ही है, अनेक नहीं।

निश्चयनय के एकत्व में दृष्टान्त यह है कि ताम्ररूप उपाधि की निवृत्ति के कारण स्वर्णपना जिसप्रकार अन्य है, चाँदीरूप उपाधि की निवृत्ति के कारण भी वह वैसा ही अन्य है।

-इस कथन से उनका निराकरण हो गया, जो अपने ज्ञान के अपराध से निश्चयनय को अनेक प्रकार का मानते हैं।

एक शुद्धद्रव्यार्थिकनय है, उसी का नाम शुद्धनिश्चयनय है और दूसरा अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है, उसका नाम अशुद्धनिश्चयनय है, इत्यादि रूप से

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ६५६-६६३

जिनके मत में निश्चयनय के बहुत से भेद माने गये हैं, वे सब सर्वज्ञ की आज्ञा उल्लंघन करनेवाले होने से नियम से मिथ्यादृष्टि हैं।

आशय यह है कि जितने भी जीवादिक पदार्थ हैं, उनको व्यवहार और निश्चयनय के द्वारा अविरुद्ध रीति से उसीप्रकार समझना चाहिए; जिसप्रकार वे आत्मशुद्धि के लिए उपयोगी हो सकें।

यहाँ पर सामान्यमात्र वस्तु निश्चयनय का हेतु है और कर्मकलंक से रहित ज्ञानस्वरूप आत्मसिद्धि इसका फल है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि पंचाध्यायीकार के मतानुसार निश्चयनय के भेद संभव नहीं हैं, क्योंकि उसका विषय सामान्य है। जब सामान्य ही एक है तो उसका ग्राहक नय अनेक प्रकार का कैसे हो सकता है?

इस प्रकरण को आरम्भ करते हुए कुछ प्रश्न उपस्थित किये गये थे। उनमें से 'निश्चय के भेद क्यों नहीं हो सकते?'—इस प्रश्न पर विचार करने के बाद अब 'यदि नहीं हो सकते तो फिर जिनागम में उसके भेद क्यों किये गये, कहाँ किये गये, कितने किये गये और सर्वज्ञ-कथित आगम में यह विभिन्नता क्यों है?'—इन पर विचार अपेक्षित है।

सामान्यतः निश्चयनय के दो भेद किये जाते हैं; जैसा कि आलाप-पद्धति में कहा गया है:—

**"तत्र निश्चयो द्विविधः, शुद्धनिश्चयोऽशुद्धनिश्चयश्च।**

निश्चयनय दो प्रकार का है :— शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय।"

शुद्धनिश्चयनय की विषयवस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कथन प्राप्त होते हैं। उन कथनों के आधार पर उसके नाम के आगे अनेक प्रकार के विशेषण भी लगा दिए जाते हैं। जैसे:—परमशुद्धनिश्चयनय, साक्षात् शुद्धनिश्चयनय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय आदि। मुख्यतः शुद्धनिश्चयनय का कथन तीन रूपों में पाया जाता है। वे तीन रूप इसप्रकार हैं:—

(१) परमशुद्धनिश्चयनय
(२) शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय
(३) एकदेशशुद्धनिश्चयनय

ये तीन भेद तो शुद्धनिश्चयनय के हुए और एक अशुद्धनिश्चयनय है। इसप्रकार निश्चयनय कुल चार रूपों में पाया जाता है; जिसे आगे दर्शाये गये चार्ट द्वारा समझा जा सकता है:—

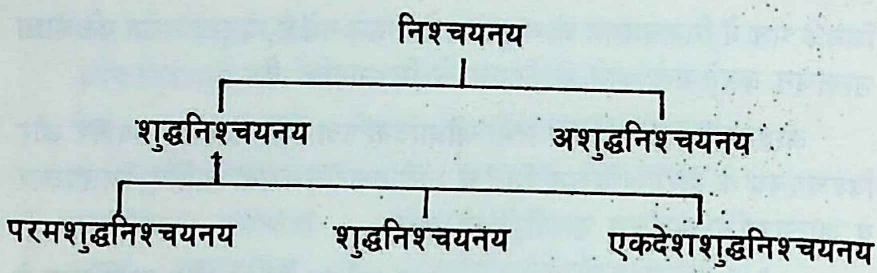

उक्त चार्ट में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि 'शुद्धनिश्चयनय' के तीन भेदों में एक का नाम तो 'शुद्धनिश्चयनय' ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'शुद्धनिश्चयनय' शब्द का प्रयोग कभी तो तीनों भेदों के समुदाय के रूप में होता है और कभी उनके एक भेदमात्र के रूप में। इस मर्म से अनभिज्ञ रहने से जिनवाणी के अध्ययन में अनेक विरोधाभास प्रतीत होने लगते हैं।

जैसे :–परमात्मप्रकाश, अध्याय १, दोहा ६४ की टीका में लिखा है:–

**''अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकवीतरागसौख्यात् प्रतिकूलंसांसारिक सुखदुःखं यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन जीवजनितं तथापिशुद्धनिश्चयनयेन कर्मजनितं भवति।**

अनाकुलता है लक्षण जिसका ऐसे पारमार्थिक वीतराग सुख से प्रतिकूल सांसारिक सुख-दुःख यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित हैं, तथापि शुद्धनिश्चयनय से कर्मजनित होते हैं।''

तथा वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४८ की टीका में इसप्रकार लिखा है:–

**''अत्राह शिष्य :– रागद्वेषादयः किं कर्मजनिताः किं जीवजनिताः इति?**

**तत्रोत्तरम्:–स्त्रीपुरुषसंयोगोत्पन्नपुत्र इव सुधाहरिद्रासंयोगोत्पन्न-वर्णविशेष इवोभयसंयोगजनिता इति। पश्चान्नयविवक्षावशेन विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्मजनिता भण्यन्ते। तथैवाशुद्धनिश्चयेन जीवजनिता इति। स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।**

**अथ मतम् :–साक्षाच्छुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयम्।**

**तत्रोत्तरम्:–साक्षाच्छुद्धनिश्चयेन स्त्रीपुरुषसंयोगरहितपुत्रस्येव, सुधाहरिद्रासंयोगरहितरंगविशेषस्येव तेषामुत्पत्तिरेव नास्ति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति।**

यहाँ शिष्य पूछता है:–रागद्वेष आदि कर्मजनित हैं अथवा जीवजनित?

उसका उत्तर:–स्त्री और पुरुष–इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र की भाँति, चूने और हल्दी के मिश्रण से उत्पन्न हुए वर्णविशेष की भाँति,

रागद्वेष आदि जीव और कर्म—इन दोनों के संयोगजनित हैं। नय की विवक्षा के अनुसार विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से रागद्वेष कर्मजनित कहलाते हैं और अशुद्धनिश्चयनय से जीवजनित कहलाते हैं। यह अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है।

**प्रश्नः**—साक्षात् शुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष किसके हैं—ऐसा हम पूछते हैं?

**उत्तरः**—साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से स्त्री और पुरुष के संयोग से रहित पुत्र की भाँति चूना और हल्दी के संयोगरहित रंगविशेष की भाँति उनकी (राग-द्वेष की) उत्पत्ति ही नहीं है; तो कैसे उत्तर दें?"

उक्त दोनों उद्धरणों में से, एक में सांसारिक सुख-दुःख राग-द्वेषादि औदयिक भावों को शुद्धनिश्चयनय से कर्मजनित बताया गया है और दूसरे में एकदेशशुद्धनिश्चयनय से; अतः ये दोनों कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं; परन्तु थोड़ी-सी गहराई में जाकर विचार करें तो इनमें कोई विरोध नहीं है; बात मात्र इतनी सी है कि परमात्मप्रकाश के कथन में 'शुद्धनिश्चयनय' शब्द का प्रयोग उस मूल अर्थ में हुआ है कि जिसमें शुद्धनिश्चयनय के तीनों भेद गर्भित हैं अर्थात् उन तीनों भेदों में से कोई भी एक भेद विवक्षित हो सकता है। तथा वृहद्द्रव्यसंग्रह में मूल शुद्धनिश्चयनय को न लेकर उसके प्रभेदों की अपेक्षा बात की है; अतः वहाँ एकदेशशुद्धनिश्चयनय से राग-द्वेष को कर्मजनित कहा है तथा साक्षात्शुद्धनिश्चयनय से उनकी उत्पत्ति से ही इन्कार कर दिया है। यदि कहीं यह कथन भी आ जावे कि शुद्धनिश्चयनय से वे (राग-द्वेष) हैं ही नहीं, तो भी घबड़ाने जैसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ यह समझ लेना कि यहाँ 'शुद्धनिश्चयनय' शब्द का प्रयोग परमशुद्धनिश्चयनय के अर्थ में किया गया है। 'वे नहीं हैं'— इसका अर्थ मात्र इतना ही है कि वे (राग-द्वेष) परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत आत्मा में नहीं हैं।

इसप्रकार की शंकाएँ उत्पन्न न हों—इसके लिए यह बात ध्यान में ले लेनी चाहिए कि जिनागम में शुद्धनिश्चयनय के तीनों भेदों के अर्थ में 'शुद्धनिश्चयनय' शब्द का प्रयोग तो हुआ ही है, साथ में मात्र 'शुद्धनय' शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। अतः जहाँ विशेष भेद का उल्लेख न हो, वहाँ हमें आगमानुसार अपने विवेक का प्रयोग करके ही यह निश्चय करना होगा कि यह कथन शुद्धनिश्चयनय के किस प्रभेद की अपेक्षा है।

तथा जहाँ अकेले 'निश्चयनय' शब्द का ही प्रयोग हो, तो उसकी सीमा में अशुद्धनिश्चयनय के भी आ जाने से, हमें उसका भी ध्यान रखना होगा।

उक्त उद्धरण में एक बात और भी महत्त्व की आ गई है। वह यह कि शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहारनय ही है। इससे यह भी जान लेना चाहिए कि यदि कहीं यह भी कथन मिल जावे कि रागादिभाव व्यवहारनय से जीव के हैं, तो भी आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि उन्हें यहाँ जीव के अशुद्धनिश्चयनय से कहा है। जहाँ अशुद्धनिश्चयनय को व्यवहार कहा जावेगा, वहाँ इन्हें भी व्यवहार से जीवकृत कहा जावेगा।

बात यहाँ तक ही समाप्त नहीं होती; क्योंकि जब शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार हो जाता है, तो शुद्धनिश्चयनय के प्रभेदों में भी ऐसा ही क्यों न हो? अर्थात् ऐसा होता ही है। परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा साक्षात्शुद्धनिश्चयनय एवं एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही कहे जाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के कथन का, 'निश्चयनय के भेद तो हो ही नहीं सकते, वह तो एक प्रकार का ही होता है'—इस कथन से कोई विरोध नहीं रहता है; क्योंकि वास्तविक निश्चयनय तो एक ही रहा, शेष को तो विवक्षानुसार कभी निश्चय और कभी व्यवहार कह दिया जाता है। एकमात्र परमभावग्राही—सामान्यग्राही परमशुद्धनिश्चयनय ही ऐसा है कि जो कभी भी व्यवहारपने को प्राप्त नहीं होता, उसके कोई भेद नहीं होते; अतः वास्तविक निश्चयनय तो अभेद्य ही रहा।

भाई! हमने पहले भी कहा था कि जिनेन्द्र भगवान का नयचक्र बड़ा ही जटिल है; उसे समझने में अतिरिक्त सावधानी बरतने की अत्यन्त आवश्यकता है।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि यद्यपि जिनागम का सम्पूर्ण कथन नयों के आधार पर ही होता है, पर सर्वत्र यह उल्लेख नहीं रहता कि यह किस नय का कथन है; अतः हमें यह तो अपनी बुद्धि से ही निर्णय करना होगा कि यह किस नय का कथन है; अतः जिनागम का मर्म जानने के लिए आगम के आधार के साथ-साथ जागृत विवेक की आवश्यकता भी कदम-कदम पर है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है और उसका यह अनेकान्त नयों की भाषा में ही व्यक्त हुआ है; अतः उसे समझने के लिए नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

यह भी तो अनेकान्त ही है कि निश्चयनय अभेद्य है, पर उसे भेदा जा रहा है; और निश्चयनय के भेद-प्रभेद बताये जा रहे हैं, फिर भी उसकी अभेद्यता कायम है।

अब यहाँ निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की विषयवस्तु के सम्बन्ध में विचार अपेक्षित है।

वैसे तो सामान्यविशेषात्मक प्रत्येक वस्तु का अंश—चाहे वह चेतन हो या जड़— नय का विषय बन सकता है, किन्तु यहाँ अध्यात्म का प्रकरण है अर्थात् मुख्यतः अध्यात्मनयों की चर्चा चल रही है, अतः यहाँ आत्मवस्तु एवं उसके अंशों को ही अध्ययन का—विवेचन का विषय बनाया गया है। नयों के विषय को आत्मा पर घटित करने के कारण यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नयों का प्रयोग आत्मवस्तु पर ही होता है। अध्यात्म में आत्मा को जानना ही मूल प्रयोजन रहता है, अतः उसे प्रधान करके ही सम्पूर्ण कथन किया जाता है। 'अध्यात्म' शब्द का अर्थ ही आत्मा को जानना होता है। अधि+आत्म=अध्यात्म; अधि=जानना, आत्म=आत्मा को; आत्मा को जानना ही अध्यात्म है।

आत्मा को जानने का अर्थ मात्र शब्दों से जान लेना मात्र नहीं है, अपितु आत्मानुभूति—सम्पन्न होने से है। वृहद्द्रव्यसंग्रह में अध्यात्म का अर्थ इसप्रकार किया गया है:—

"**अध्यात्मशब्दस्यार्थः कथ्यते :— मिथ्यात्वरागादिसमस्तविकल्पजालरूपपरिहारेण स्वशुद्धात्मन्यधि यदनुष्ठानं तदध्यात्ममिति**[1]

'अध्यात्म' शब्द का अर्थ कहते हैं:—मिथ्यात्व, राग आदि समस्त विकल्पजाल के त्याग से स्वशुद्धात्मा में जो अनुष्ठान होता है, उसे अध्यात्म कहते हैं।"

निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेदों में प्रत्येक द्रव्य की अपने गुण-पर्यायों से अभिन्नता (अभेद) को मुख्य आधार बनाया गया है।

प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न एवं पर तथा पर के गुण-पर्यायों से भिन्न है। इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का कर्त्ता स्वयं है। किसी भी द्रव्य के परिणमन में किसी अन्य द्रव्य का कोई हस्तक्षेप नहीं है। इस सत्य का ग्राहक—प्रतिपादक निश्चयनय है। इस बात को ध्यान में रखकर ही निश्चयनय के परमशुद्धनय को छोड़कर शेष तीन भेद किये गए

---

[1] वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ५७ की टीका

हैं, जो कि किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है, क्योंकि निश्चय-व्यवहार नयों की परिभाषा में यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि:–

"(१) एक ही द्रव्य के भाव को उस रूप ही कहना निश्चयनय है और उपचार से उक्त द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप कहना व्यवहारनय है।

(२) जिस द्रव्य की जो परिणति हो, उसे उसकी ही कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहनेवाला व्यवहारनय है।

(३) व्यवहारनय स्वद्रव्य को, परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है। तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता।[1]"

अपनी पर्यायों से अभिन्नता–तन्मयता एवं परपदार्थों से भिन्नता दिखाना ही निश्चयनय के उक्त तीन भेदों की मुख्य पहिचान है। तथा परमशुद्धनिश्चयनय का कार्य अपनी पर्यायों से भी भिन्नता दिखाना है।

इसप्रकार ये निश्चयनय के चारों भेद निजशुद्धात्मतत्त्व को पर और पर्याय से भिन्न अखण्ड त्रैकालिक स्थापित करते हैं। ये नय दृष्टि को पर और पर्याय से हटाकर किसप्रकार स्वभावसन्मुख ले जाते हैं–इसकी चर्चा इनके प्रयोजन पर विचार करते समय आगे करेंगे।

अब यहाँ निश्चयनय के भेदों के स्वरूप एवं उनकी विषयवस्तु पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं:–

(क) परमशुद्धनिश्चयनय में त्रिकाली शुद्ध परमपारिणामिक सामान्यभाव का ग्रहण होता है। इसके उदाहरणरूप कुछ शास्त्रीय कथन इस प्रकार हैं:–

(१) "**शुद्धनिश्चयेन सहजज्ञानादिपरमस्वभावगुणानामाधारभूतत्वात्कारणशुद्धजीवः।**[2]

शुद्धनिश्चयनय से सहजज्ञानादि परमस्वभावभूत गुणों का आधार होने से कारणशुद्धजीव है।"

---

[1] परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ६०-६१

[2] नियमसार, गाथा ९ की संस्कृत टीका

(२) "**आत्मा हि शुद्धनिश्चयेन सत्ताचैतन्यबोधादिशुद्ध प्राणैर्जीवति।**[1]

शुद्धनिश्चयनय से जीव सत्ता, चैतन्य व ज्ञानादि शुद्धप्राणों से जीता है।"

(ख) निरुपाधिक गुण-गुणी को अभेदरूप विषय करनेवाला शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय है। जैसे :– जीव को शुद्ध केवलज्ञानादिरूप कहना।[2] यह नय आत्मा को क्षायिकभावों से अभेद बताता है तथा उन्हीं का कर्त्ता-भोक्ता भी कहता है। इस विषय को स्पष्ट करनेवाले अनेक कथन उपलब्ध होते हैं। जैसे:–

(१) "**शुद्धनिश्चयेन केवलज्ञानादिशुद्धभावाः स्वभावा भण्यन्ते।**[3]

शुद्धनिश्चयनय से केवलज्ञानादि शुद्धभाव जीव के स्वभाव कहे जाते हैं।"

(२) "**शुद्धनिश्चयनयेन निरुपाधिस्फटिकवत् समस्तरागादि-विकल्पोपाधिरहितम्।**[4]

शुद्धनिश्चयनय से निरुपाधि स्फटिकमणि के समान आत्मा समस्त रागादि विकल्प की उपाधि से रहित है।"

(३) "**शुद्धनिश्चयनयात्पुनः शुद्धमखण्डं केवलज्ञानदर्शनद्वयं जीवलक्षणमिति।**[5]

शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध, अखण्ड केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों जीव के लक्षण हैं।"

(ग) एकदेशशुद्धता से तन्मय द्रव्यसामान्य को पूर्णशुद्ध देखना एकदेशशुद्धनिश्चयनय है। जैसे:–

(१) "**तस्मिन् ध्याने स्थितानां यद्वीतरागपरमानन्दसुखं प्रतिभाति, तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम्। .........तदेव शुद्धात्मस्वरूपं, तदेव परमात्मस्वरूपं तदेवैकदेशव्यक्तिरूप विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतजलसरोवरे रागादिमलरहितत्वेन**

---

[1] पंचास्तिकाय, गाथा २७ की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[2] 'तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति'–आलाप-पद्धति, अन्तिम पृष्ठ

[3] पंचास्तिकाय, गाथा ६१ की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[4] प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति टीका के परिशिष्ट

[5] वृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की टीका

**परमहंसस्वरूपम्। इदमेकदेशव्यक्तिरूपं शुद्धनयव्याख्यानमत्र परमात्मध्यानभावनाममालायां यथासंभवं सर्वत्र योजनीयमिति।** [1]

उस परमध्यान में स्थित जीव को जिस वीतराग परमानन्दरूप सुख का प्रतिभास होता है, वही निश्चयमोक्षमार्ग स्वरूप है।....वही शुद्धात्मस्वरूप है, वही परमात्मस्वरूप है, वही एकदेशप्रकटतारूप विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से स्वशुद्धात्म के संवेदन से उत्पन्न सुखामृतरूपी जल के सरोवर में रागादिमल रहित होने के कारण परमहंसस्वरूप है। इस एकदेशव्यक्तिरूप शुद्धनय के व्याख्यान को परमात्मध्यानभावना की नाममाला में जहाँ यह कथन है, वहाँ परमात्मध्यानभावना से परब्रह्म स्वरूप, परमविष्णुस्वरूप, परमशिवस्वरूप, परमबुद्धस्वरूप, परमजिनस्वरूप....आदि अनेक नाम गिनाए गए हैं। उन्हें परमात्मतत्त्व के ज्ञानियों द्वारा जानना चाहिए।''

(घ) सोपाधिक गुण-गुणी में अभेद दर्शानेवाला अशुद्धनिश्चयनय है। जैसे :—मतिज्ञानादि को जीव कहना।[2] रागद्वेषादि विकारीभावों को जीव कहनेवाले कथन भी इसी नय की सीमा में आते हैं। यह नय औदयिक और क्षायोपशमिक भावों को जीव के साथ अभेद बताता है, उनके कर्त्ता-कर्म आदि भी बताता है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की टीका में लिखा है:—

**''अशुद्धनिश्चयस्यार्थः कथ्यते :— कर्मोपाधिसमुत्पन्नत्वादशुद्ध, तत्काले तप्तायःपिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभयमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते।**

'अशुद्धनिश्चय' का अर्थ कहा जाता है :—कर्मोपाधि से उत्पन्न हुआ होने से 'अशुद्ध' कहलाता है और उससमय तपे हुए लोहखण्ड के गोले के समान तन्मय होने से 'निश्चय' कहलाता है। इसप्रकार 'अशुद्ध' और 'निश्चय' इन दोनों का मिलाप करके 'अशुद्धनिश्चय' कहा जाता है।

इसके कतिपय उदाहरण इसप्रकार हैं:—

(१) **''ते चेव भावरूवा जीवे भूदा खओवसमदो य ।**
**ते होंति भावपाणा असुद्धणिच्छयणयेण णायव्वा ।।** [3]

---

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा, ५६ की टीका

[2] 'सोपाधिकगुणगुण्यभेदविषयोऽशुद्धनिश्चयो यथा-मतिज्ञानादयो जीव इति'—आलाप पद्धति, अन्तिम पृष्ठ

[3] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ११३

जीव में कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जितने भाव हैं, वे जीव के भावप्राण होते हैं—ऐसा अशुद्धनिश्चयनय से जानना चाहिए।"

(२) "**आत्मा हि अशुद्धनिश्चयनयेन सकलमोहरागद्वेषादिभावकर्मणां कर्त्ता भोक्ता च।**[1]

अशुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेषादिरूप भावकर्मों का कर्त्ता और भोक्ता होता है।"

(३) **तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत् समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्।**[2]

वही आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से सोपाधिक स्फटिक की भाँति समस्त रागादि विकल्पों की उपाधि से सहित है।"

(४) "**अशुद्धनिश्चयनयेन क्षायोपशमिकौदयिकभावप्राणैर्जीवति।**[3]

अशुद्धनिश्चयनय से जीव क्षायोपशमिक व औदयिक भावप्राणों से जीता है।"

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की विषयवस्तु एवं कथनशैली स्पष्ट करने के लिए जो कतिपय उदाहरण—शास्त्रीय-उद्धरण यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं, उनका बारीकी से अध्ययन करने पर यद्यपि बहुत कुछ स्पष्ट हो जाएगा; तथापि पूर्ण स्पष्टता तो जिनागम के गहरे अध्ययन, मनन एवं चिन्तन से ही संभव है।

उक्त उद्धरणों में यद्यपि अधिकांश प्रयोगों को समेटने का प्रयास किया गया है, तथापि इसप्रकार का दावा किया जाना संभव नहीं है कि सभीप्रकार के प्रयोग उपस्थित कर दिये गए हैं। जिनागम में और भी अनेक प्रकार के प्रयोग प्राप्त होना संभव है, क्योंकि जिनागम अगाध है, उसका पार पाना सहज संभव नहीं है।

—०—

---

[1] नियमसार, गाथा १८ की टीका

[2] प्रवचनसार, 'तात्पर्यवृत्ति' का परिशिष्ट

[3] पंचास्तिकाय, गाथा २७ की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

# निश्चयनय : कुछ प्रश्नोत्तर

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा के उपरान्त भी कुछ सहज जिज्ञासाएँ शेष रह गईं हैं। उन्हें यहाँ प्रश्नोत्तरों के रूप में स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

**(१) प्रश्नः**—शुद्धनिश्चयनय एवं एकदेशशुद्धनिश्चयनय में क्या अन्तर है?

**उत्तरः**—शुद्धनिश्चयनय का विषय पूर्णशुद्धपर्याय में तन्मय अर्थात् क्षायिकभाव से तन्मय (अभेद) द्रव्य होता है और एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय आंशिकशुद्धपर्याय से तन्मय अर्थात् क्षयोपशमभाव के शुद्धांश से तन्मय (अभेद) द्रव्य होता है।

यहाँ यह बात ध्यान रखनी होगी कि यहाँ जो शुद्धनिश्चयनय लिया है, वह मूल शुद्धनिश्चयनय न होकर उसके तीन भेदों में जो 'शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय' आता है, वह है।

इन दोनों में अन्तर जानने के लिए बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका का निम्नलिखित अंश अधिक उपयोगी है:—

**"शुभाशुभयोगत्रयव्यापाररहितेन शुद्धबुद्धैकस्वभावेन यदा परिणमति तदानन्तज्ञानसुखादिशुद्धभावानां छद्मस्थावस्थायां भावनारूपेण विविक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता**, मुक्तावस्थायां तु शुद्धनयेनेति।

जब जीव शुभ-अशुभरूप तीन योग के व्यापार से रहित, शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभावरूप से परिणमन करता है, तब छद्मस्थ अवस्था में भावनारूप से विवक्षित अनन्तज्ञान-सुखादि शुद्धभावों का एकदेशशुद्धनिश्चयनय से कर्त्ता है और मुक्त-अवस्था में अनन्तज्ञान-सुखादिभावों का शुद्धनय से कर्त्ता है।"

इन उद्धरणों में ध्यान देने की बात यह है कि आत्मा को अनन्तज्ञान-सुख आदि पूर्णशुद्धभावों का कर्त्ता मुक्त-अवस्था में तो शुद्धनय से बताया है, पर उन्हीं पूर्णशुद्ध केवलज्ञानादि भावों का छद्मस्थ अवस्था में एकदेशशुद्धनिश्चय नय से कर्त्ता बताया है, जबकि वे केवलज्ञानादि उस समय हैं ही नहीं।

यहाँ एकदेशशुद्धनिश्चयनय से भावना की अपेक्षा से एकदेशशुद्धि से युक्त आत्मा को केवलज्ञानादि भावों का कर्त्ता अर्थात् पूर्णशुद्ध कहा है; अतः यह भी जान लेना चाहिए कि यह नय भावना की अपेक्षा एकदेशशुद्धता में पूर्णशुद्धता का कथन करता है।

(२) **प्रश्नः**—एकदेशशुद्धता के आधार पर सम्पूर्ण द्रव्य को शुद्ध कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता?

**उत्तरः**—इसमें क्या अनुचित है? प्रत्येक नय अपनी दृष्टि से जो भी कथन करता है, सम्पूर्ण द्रव्य के बारे में ही करता है। जब परमशुद्ध निश्चयनय पर्याय में अशुद्धता होने पर भी द्रव्य को शुद्ध कहता है; और इसीप्रकार जब द्रव्यांश में शुद्धता के रहते हुए भी पर्याय की अशुद्धता के आधार पर अशुद्धनिश्चयनय सम्पूर्ण द्रव्य को ही अशुद्ध कहता है; तब एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी एकदेशशुद्धि के आधार पर द्रव्य को शुद्ध कहे तो इसमें क्या अनुचित है?

(३) **प्रश्नः**—इसप्रकार तो एकदेश-अशुद्धता के आधार पर सम्पूर्ण द्रव्य को ही अशुद्ध भी कहा जा सकता है?

**उत्तरः**—क्यों नहीं? अवश्य कहा जा सकता है। कहा क्या जा सकता है, कहा ही जाता है। अशुद्धनिश्चयनय द्रव्य को अशुद्ध कहता ही है।

(४) **प्रश्नः**—अशुद्धनिश्चयनय नहीं, एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय कहो न?

**उत्तरः**—एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय भी कह सकते हैं, पर 'एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय' नामक किसी नय का कथन आगम में प्राप्त नहीं होता। उसके विषय को अशुद्धनिश्चयनय में ही गर्भित कर लिया गया है। आप मानना चाहें तो मान लें।

(५) **प्रश्नः**—क्या कहा? हम मानना चाहें तो मान लें। जब आगम में नहीं मिलता है तो हम क्यों मान लें? तथा जब आप हमें मान लेने की अनुमति देते हैं, तो फिर आगम में क्यों नहीं है?

**उत्तरः**—आगम में उसके पृथक् उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी, तो नहीं लिखा। आप आवश्यकता समझते हों तो मान लें, कोई आपत्ति नहीं है।

इस सम्बन्ध में क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी के विचार द्रष्टव्य हैं:—

"आगम में क्योंकि जीवों को ऊँचे उठाने की भावना प्रमुख है, अतः यहाँ एकदेशशुद्धनिश्चयनय का कथन तो आ जाता है; पर

एकदेशअशुद्धनिश्चयनय का कथन नहीं किया जाता। अपनी बुद्धि से हम एकदेश-अशुद्धनिश्चयनय को भी स्वीकार कर सकते हैं। जितनी कुछ नय आगम में लिखी हैं, उतनी ही हों—ऐसा नियम नहीं। वहाँ तो एक सामान्य नियम बता दिया है। उसके आधार पर अन्य नय भी यथायोग्यरूप से स्थापित की जा सकती हैं। जिसप्रकार साधक के क्षायोपशमिकभाव को एकदेशशुद्धनिश्चयनय से क्षायिकवत् पूर्णशुद्ध कहा जाता है; उसीप्रकार उसको एकदेश-अशुद्धनिश्चनय से औदयिकवत् पूर्ण-अशुद्ध भी कहा जा सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं।[१]

इस एकदेशदृष्टि में बारी-बारी भले शुद्धभाग को पृथक् ग्रहण करके जीव को पूर्ण-अशुद्ध कह लीजिए।....एकदेशदृष्टि में दोनों ही अपने-अपने स्थान पर पूरे-पूरे दिखाई देंगे। शुद्धांश को पृथक् ग्रहण करने वाली यह एकदेशदृष्टि ही एकदेश-शुद्धनिश्चयनय कहलाती है। इस दृष्टि से साधक-अवस्था में भी जीव सिद्धोंवत् पूर्णशुद्ध ही ग्रहण करने में आता है। अतः कहा जा सकता है कि यह साधक पूर्ण शुद्धोपयोग का कर्त्ता तथा अनन्त परमानन्द का भोक्ता है।[२]"

(६) **प्रश्नः**—प्रथम प्रश्न के उत्तर में क्षयोपशमभाव को एकदेश-शुद्धनिश्चयनय का विषय बताया गया है तथा अशुद्धनिश्चयनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए क्षायोपशमिक और औदयिक भावों के साथ जीव को तन्मय (अभेद) बताना अशुद्धनिश्चयनय का कथन बताया था; अतः प्रश्न यह है कि क्षयोपशमिक भावों के साथ अभिन्नता बताना अशुद्धनिश्चयनय का विषय है या एकदेशशुद्धनिश्चयनय का?

**उत्तरः**—दोनों ही कथन सही हैं, क्योंकि क्षयोपशमभाव में शुद्धता और अशुद्धता—दोनों भावों का मिश्रण रहता है। क्षयोपशमभाव में विद्यमान शुद्धता के अंश के साथ आत्मा की अभेदता एकदेशशुद्धनिश्चयनय के विषय में आती है और क्षयोपशमभाव में विद्यमान अशुद्धता के अंश के साथ अभेदता अशुद्धनिश्चयनय के विषय में आती है।

अतः जहाँ क्षयोपशमभाव को अशुद्धनिश्चयनय से जीव कहा गया हो, वहाँ समझना चाहिए कि यह क्षयोपशमभाव के अशुद्धांश की अपेक्षा किया गया कथन है और जहाँ एकदेशशुद्धनिश्चयनय से कहा गया हो, वहाँ

---

[१] नयदर्पण, पृष्ठ ६२४, पंक्ति १२ से २२

[२] वही, पृष्ठ ६२४, पंक्ति १ से ११

समझना चाहिए कि यह क्षयोपशमभाव के शुद्धांश की अपेक्षा किया गया कथन है।

ध्यान रहे एकदेशशुद्धनिश्चयनय का प्रयोग निर्मल परन्तु अपूर्ण पर्याय के साथ अभेदता में ही होता है। अपूर्णता की अपेक्षा इसे 'एकदेश', निर्मलता - शुद्धता की अपेक्षा 'शुद्ध' एवं अपनी पर्याय होने से 'निश्चय' कहा जाता है। इसप्रकार एकदेशशुद्धनिश्चयनय में अपनी निर्मल लेकिन अपूर्ण पर्याय के साथ द्रव्य की तन्मयता बताना इष्ट होता है। पर्याय की निर्मलता इसे अशुद्धनिश्चयनय से पृथक् रखती है एवं अपूर्णता शुद्धनिश्चयनय से पृथक् रखती है।

(७) **प्रश्नः**—निश्चयनय के चारों भेद किस-किस गुणस्थान में पाये जाते हैं?

**उत्तरः**—(अ) परमपारिणामिकभावरूप सामान्य-अंश का ग्राही होने से परमशुद्धनिश्चयनय तो मुक्त और संसारी समस्त जीवों के पाया जाता है। अतः वह तो चौदह गुणस्थानों और गुणस्थानातीत सिद्धों में भी पाया जाता है। इस नय की अपेक्षा संसारी और सिद्ध — ऐसे भेद ही संभव नहीं है। **'सर्व जीव हैं सिद्ध सम'** या **'मम स्वरूप है सिद्ध समान'** या **'सिद्ध समान सदा पद मेरो'** आदि कथन इसी नय के हैं।

'वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के सभी भाव जीव के नहीं हैं' — यह कथन भी इसी नय की अपेक्षा से किया जाता है।

**"वर्णाद्या वा राग-मोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः"**

**"जो निगोद में सो ही मुझमें, सो ही मोख मझार ।**
**निश्चय भेद कछु भी नाहीं, भेद गिनै संसार ।।"**

— ये सब कथन इसी नय के हैं।

एक यही निश्चयनय है जो द्रव्यस्वभाव को ग्रहण करता है; शेष नय तो पर्यायस्वभाव को ग्रहण करनेवाले हैं। यही कारण है कि वे इसकी अपेक्षा व्यवहार हो जाते हैं, निषेध्य हो जाते हैं।

यही वह नय है, जिसे पंचाध्यायीकार ने 'नयाधिपति' कहा है और एकमात्र इसे ही निश्चयनय स्वीकार किया है।

(ब) शुद्धनिश्चयनय पूर्णशुद्ध भावों अर्थात् क्षायिकभावरूप पर्यायों को द्रव्य में अभेदरूप से (ग्रहणकर) कथन करनेवाला होने से क्षायिकभाववालों में ही पाया जाता है। क्षायिकसम्यग्दर्शन की अपेक्षा यह चौथे गुणस्थान में भी

पाया जाता है और इसी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टी को दृष्टिमुक्त कहा जाता है। यह भी कहा जाता है कि दृष्टि-अपेक्षा वह सिद्ध ही हो गया।

'क्षायिकसम्यक्त्व की अपेक्षा सम्यग्दृष्टी को सिद्ध मानना'—यह शुद्धनिश्चयनय है और 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'—यह परमशुद्ध-निश्चयनय है; क्योंकि इसमें सिद्ध के समान सदा ही अपना पद बताया गया है। वह किसी पर्याय की अपेक्षा नहीं बताया गया है, अपितु स्वभाव की अपेक्षा किया गया कथन है।

अतः यह चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्धों तक घटित हो सकता है।

(स) मुक्तिमार्ग के साथ अभेदता स्थापित करने के कारण एकदेशशुद्धनिश्चयनय साधकजीव के ही पाया जाता है; अतः यह चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक ही समझना चाहिए।

इस सन्दर्भ में बृहद्द्रव्यसंग्रह का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है:—

**"कर्तृत्वविषये नयविभागः कथ्यते। मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायरूपाणामास्रवबंधपुण्यपापपदार्थानां कर्तृत्वमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां पुनरशुद्धनिश्चयनयेनेति। सम्यग्दृष्टेस्तु संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यरूपाणां यत्कर्तृत्वं तदप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण, जीवभावपर्यायरूपाणां तु विवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चयनयेनेति। परमशुद्धनिश्चयनयेन तु :—**

**"ण वि उप्पज्जइ, ण वि मरइ, बन्धु ण मोक्खु करेइ ।**
**जिउ परमत्थे जीइया, जिणवरू एउँ भणेई ।।"**

**—इति वचनाद् बन्धमोक्षौ न स्तः।**

**स च पूर्वोक्तविवक्षितैकदेशशुद्धनिश्चय आगमभाषया किं भण्यते। स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण भविष्यतीति भव्यः, एवं भूतस्य भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते।**

**अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा, शुद्धोपयोगादिकं चेति।**[1]

अब कर्तृत्व के विषय में नयविभाग का कथन करते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव का पुद्गलद्रव्य के पर्यायरूप आस्रव, बंध, पुण्य और पाप पदार्थों का कर्तृत्व अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से और जीवभावपर्यायरूप आस्रव, बंध पुण्य व पाप पदार्थों का कर्तृत्व अशुद्धनिश्चयनय से है। सम्यग्दृष्टी जीव

---

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह. पृष्ठ ९२

को भी द्रव्यरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थों का कर्तृत्व अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से है। और जीवभावपर्यायरूप संवर, निर्जरा व मोक्ष पदार्थों का कर्तृत्व विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय से है। परमशुद्धनिश्चयनय से तोः—

'हे योगी ! परमार्थ से यह जीव उत्पन्न नहीं होता है, मरता नहीं है, बंध और मोक्ष करता नहीं है—इसप्रकार जिनेन्द्र कहते हैं।'

—इस वचन से जीव को बन्ध और मोक्ष नहीं है।

पूर्वोक्त विवक्षित एकदेशशुद्धनिश्चयनय को आगमभाषा में क्या कहते हैं?

जो स्वशुद्धात्मा के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप होगा, वह 'भव्य', इसप्रकार के 'भव्यत्व' नामक पारिणामिकभाव के साथ संबंधित 'व्यक्ति' कही जाती है। (अर्थात् भव्यत्व पारिणामिकभाव की व्यक्तता अर्थात् प्रगटता कही जाती है) और अध्यात्मभाषा में उसे ही द्रव्यशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकभाव की भावना कहते हैं, अन्य नाम से उसे 'निर्विकल्पसमाधि' अथवा 'शुद्धोपयोग' आदि कहते हैं।

(द) अशुद्धनिश्चयनय प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक वर्तता है। जैसा कि बृहद्द्रव्यसंग्रह की ३४ वीं गाथा की टीका में कहा हैः—

**"मिथ्यादृष्टयादिक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरि मंदत्वात्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्तते।**

मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक ऊपर-ऊपर मंदपना होने से तारतम्य से अशुद्धनिश्चयनय वर्तता है।"

(८) **प्रश्नः**—साधक के शुद्धोपयोग में तो एकदेशशुद्धनिश्चयनय कहा था और यहाँ बारहवें गुणस्थान तक अशुद्धनिश्चयनय बताया जा रहा है। क्या शुद्धोपयोग में भी अशुद्धनिश्चयनय घटित होता है ?

**उत्तरः**—हाँ, होता है, क्योंकि साधक का शुद्धोपयोग क्षयोपशमभावरूप है। क्षयोपशमभाव में एकदेशशुद्धनिश्चयनय एवं अशुद्धनिश्चयनय ऊपर घटित कर ही आये हैं, अतः यहाँ विशेष कथन अपेक्षित नहीं है।

इसीप्रकार का प्रश्न बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३४ की टीका में भी उठाया गया है। वहाँ जो उत्तर दिया गया है, उसे उन्हीं की भाषा में देखियेः—

**अशुद्धनिश्चयमध्ये मिथ्यादृष्टयादिगुणस्थानेषूपयोगत्रयं व्याख्यातं, तत्राशुद्धनिश्चये शुद्धोपयोगः कथं घटते?**

**इति चेत्तत्रोत्तरं :— शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा**

**ध्येयस्तिष्ठति, तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वाच्छुद्धावलंबनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते।**

**स च संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूतमिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवद्शुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षणशुद्धपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति, किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्धपर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभुतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेकदेशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।**

**शंकाः**—अशुद्धनिश्चयनय में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में (अशुभ, शुभ और शुद्ध) तीन उपयोगों का व्याख्यान किया; वहाँ अशुद्धनिश्चयनय में शुद्धोपयोग किसप्रकार घटित होता है?

**समाधानः**—शुद्धोपयोग में शुद्ध, बुद्ध, एकस्वभावी निजात्मा ध्येय होता है। इसकारण शुद्धध्येयवाला होने से, शुद्ध-अवलंबनवाला होने से और शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से अशुद्धनिश्चयनय में शुद्धोपयोग घटित होता है।

'संवर' शब्द से वाच्य वह शुद्धोपयोग संसार के कारणभूत मिथ्यात्व-रागादि अशुद्धपर्याय की भाँति अशुद्ध नहीं होता, उसीप्रकार उसके फलभूत केवलज्ञानरूप शुद्धपर्याय के समान शुद्ध भी नहीं होता; परन्तु वह शुद्ध और अशुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक, मोक्ष का कारणभूत, एकदेशप्रगट, एकदेशनिरावरण—ऐसी तृतीय अवस्थारूप कहलाता है।''

(९) **प्रश्नः**—'निश्चयनय अभेद्य है, फिर भी प्रयोजनवश उसके भेद-प्रभेद किये गये हैं।'—इस संदर्भ में प्रश्न यह है कि वह कौनसा प्रयोजन था कि जिसके लिए अभेद्य निश्चयनय के भेद करने पड़े? आशय यह है कि निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेदों से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है?

**उत्तरः**—जगत के सम्पूर्ण जीव अनन्त आनन्द के कंद और ज्ञान के घनपिण्ड होने पर भी अपने-अपने ज्ञानानंदस्वभावी स्वरूप से अनभिज्ञ रहने के कारण पर और पर्याय में एकत्वबुद्धि धारणकर जन्म-मरण के अनन्त दुःख उठा रहे हैं। पर और पर्याय से पृथक् अपने आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण के अभाव के कारण ही अनन्त संसार बन रहा है। इसका अभाव निजशुद्धात्मस्वरूप के परिज्ञान बिना संभव नहीं है। पर और पर्याय से भिन्न निजशुद्धात्मस्वरूप के परिज्ञान के लिए ही निश्चयनय के ये भेद-प्रभेद किये गये हैं।

सर्वप्रथम परद्रव्य और उनकी पर्यायों से भिन्नता एवं अपने गुण-पर्यायों से अभिन्नता बताना अभीष्ट था; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य की इकाई स्थापित किए बिना — स्पष्ट किये बिना वस्तु की स्वतन्त्रता एवं स्वायत्तता स्पष्ट नहीं होती। प्रत्येक द्रव्य अपनी अच्छाई-बुराई का उत्तरदायी स्वयं है, अपना भला-बुरा करने में स्वयं समर्थ है और उसके लिए पूर्ण स्वतन्त्र है — यह स्पष्ट करना ही अशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन है। अपने इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह राग-द्वेष, सुख-दुःख जैसी अप्रिय अवस्थाओं को भी अपनी स्वीकार करता है उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व को भी स्वीकार करता है; उन्हें कर्मकृत या परकृत कहकर उनका उत्तरदायित्व दूसरों पर नहीं थोपता।

प्रत्येक जीव को यह समझाना ही इस नय का प्रयोजन है कि यद्यपि परपदार्थ और उसके भावों का कर्त्ता-भोक्ता या उत्तरदायी यह आत्मा नहीं है, तथापि रागादि विकारीभावरूप अपराध स्वयं की भूल से स्वयं में स्वयं हुए हैं; अतः उनका कर्त्ता-भोक्ता या उत्तरदायी यह आत्मा स्वयं है।

जब यह आत्मा परद्रव्यों से भिन्न और अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न अपने को जानने लगा, तब इसे क्रमशः पर्यायों से भी भिन्न त्रिकाली ध्रुव स्वभाव की ओर ले जाने के लक्ष्य से एकदेशशुद्धनिश्चयनय से यह कहा कि जो पर्याय पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुई, जिसकी उत्पत्ति में कर्मादिक परपदार्थ निमित्त हुए, जो पर्याय दुःखस्वरूप है; उसे तू अपनी क्यों मानता है? तेरा आत्मा तो ज्ञान और आनन्द पर्याय को उत्पन्न करे — ऐसा है। जो पर्याय स्व को विषय बनाये, स्व में लीन हो; वही अपनी हो सकती है। ज्ञानी तो उसी का कर्त्ता-भोक्ता हो सकता है। रागादि विकारी पर्यायों को अपना कहना तो स्वयं को विकारी बनाना है, अज्ञानी बनाना है; क्योंकि विकार का कर्त्ता-भोक्ता विकारी ही हो सकता है। ये तो अज्ञानमय भाव हैं, इनका कर्त्ता-भोक्ता-स्वामी तो अज्ञानी ही हो सकता है। भले ही ये अपने में पैदा हुए हों, पर ये अपने नहीं हो सकते। — इसप्रकार विकार से हटाने के लिए निर्मलपर्याय से अभेद स्थापित किया।

निर्मलपर्याय से भी अभेद स्थापित करना मूल प्रयोजन नहीं है, मूल प्रयोजन तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव तक ले जाना है, उसमें ही अहंबुद्धि स्थापित करना है; पर भाई ! एक साथ यह सब कैसे हो सकता है? अतः धीरेधीरे बात कही जाती है। 'तू तो निर्मलपर्याय का धनी है, कर्त्ता है, भोक्ता है; विकारी पर्याय का नहीं' — यह एकदेशशुद्धनिश्चयनय का कथन एक पड़ाव है, गन्तव्य नहीं। यह आत्मा एक बार राग को तो अपना मानना छोड़े, फिर

निर्मलपर्याय से भी आगे ले जायेंगे। राग तो निषेध करने योग्य है न? यदि राग निषेध करने योग्य है, तो वह अपना कैसे हो सकता है? जो निषेध्य है, वह मैं नहीं हो सकता, मैं तो प्रतिपाद्य हूँ। राग निषेध्य है, अतः व्यवहार है। निर्मलपर्याय करने योग्य है, प्राप्त करने योग्य है, इसलिए निश्चय है। निर्मलपर्यायरूप निश्चय विकाररूप व्यवहार का निषेध करता हुआ, उसका अभाव करता हुआ उदय को प्राप्त होता है।

इसप्रकार एकदेशशुद्धनिश्चयनय का प्रयोजन निर्मलपर्याय से त्रिकाली ध्रुव की एकता स्थापित कर, विकारीपर्याय से पृथक्ता स्थापित करना है।

विकारीपर्याय से पृथक्ता स्थापित हो जाने पर अब कहते हैं कि एकदेशशुद्धनिश्चयनय ने विकारीपर्याय से पृथक्ता बताने के लिए जिस निर्मलपर्याय के साथ अभेद स्थापित किया था, वह भी अपूर्ण होने से आत्मा के स्वभाव की सीमा में कैसे आ सकती है? आत्मा का स्वभाव तो परिपूर्ण है, उसके आश्रय से तो पर्याय में भी पूर्णता प्रगट होना चाहिए। यदि परिपूर्ण स्वभाव का परिपूर्ण आश्रय हो तो फिर अपूर्ण पर्याय क्यों प्रगटे? पर्याय की यह अपूर्णता परिपूर्ण स्वभाव के अनुरूप नहीं है, अनुकूल भी नहीं है। अतः इसे भी उसमें कैसे मिलाया जा सकता है, कैसे मिलाये रखा जा सकता है? एकदेशशुद्धनिश्चयनयरूप साधकदशा तो प्रस्थान है, पहुँचना नहीं; पथ है, गन्तव्य नहीं; साधन है, साध्य नहीं। तथा मैं तो परिपूर्ण केवलज्ञानस्वभावी हूँ, मैं तो अनन्त अतीन्द्रिय-आनन्द का कर्त्ता-भोक्ता हूँ, मैं तो अनन्तचतुष्टयलक्ष्मी का स्वामी हूँ, आखिर इस क्षयोपशमभाव से मुझे क्या लेना-देना? और इसका भरोसा ही क्या? आज का क्षयोपशमसम्यग्दृष्टी कल मिथ्यादृष्टी बन सकता है। आज का अच्छा-भला विद्वान कल स्मृति-भंग होने से अल्पज्ञ रह सकता है। आज का क्षयोपशमसंयमी कल असंयमी हो सकता है।

निर्मल हुई तो क्या, इस अपूर्ण एवं क्षणध्वंशी पर्याय से मुझे क्या? यह तो आनी-जानी है। मेरे जैसे स्थायीतत्त्व का एकत्व, स्वामित्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व तो क्षायिकभावरूप चिरस्थायी अनन्तचतुष्टयादि से ही हो सकता है।

इसप्रकार जब निर्मलपर्याय से भी पृथक्ता स्थापित कर पूर्णशुद्ध क्षायिकपर्याय से युक्त द्रव्यग्राही शुद्धनिश्चयनय प्रगट होता है, तब एकदेशशुद्धपर्याय निषिद्ध हो जाती है; निषिद्ध हो जाने से व्यवहार हो जाती है।

इसप्रकार अपने प्रयोजन की सिद्धि करता हुआ एकदेशशुद्धनिश्चयनय भी निषिद्ध होकर व्यवहारपने को प्राप्त हो जाता है; और साक्षात्शुद्धनिश्चयनय प्रगट होता है।

यद्यपि क्षायिकभाव स्थायी है, अनन्त है, तथापि अनादि का तो नहीं। मैं तो अनादि-अनन्त तत्त्व हूँ। इस क्षायिकपर्याय से भी क्या महिमा है मेरी? मैं तो ऐसा महिमावन्त पदार्थ हूँ कि जिसमें केवलज्ञान जैसी अनन्तपर्यायें निकल जावे तो भी मुझमें कोई खूट (कमी) आनेवाली नहीं। मैं तो अखूट-अटूट पदार्थ हूँ। केवलज्ञानादि क्षायिकभाव भी सन्तति की अपेक्षा भले ही अनन्तकाल तक रहनेवाले हों, पर वस्तुतः तो पर्याय होने से एकसमय मात्र के हैं। मैं क्षायिकभाव जितना तो नहीं, ये तो मुझमें उठनेवाली तरंगें मात्र हैं। सागर तरंगमात्र तो नहीं हो सकता। यद्यपि तरंगें सागर में ही उठती हैं, तथापि तरंगों को सागर नहीं कहा जा सकता। सागर की गंभीरता, सागर की विशालता इन लहरों में कहाँ? सागर सागर है और लहरें लहरें हैं। सागर लहरें नहीं और लहरें सागर नहीं। खरा सत्य तो यही है, परमार्थ तो यही है इसप्रकार परमभावग्राहीशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का भी निषेध करता हुआ उदित होता है और साक्षात्शुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार बनकर रह जाता है।

इसप्रकार निश्चयनय के ये भेद-प्रभेद परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत त्रिकाली ध्रुवतत्त्व तक ले जाते हैं। सभीप्रकार के निश्चयनयों का वास्तविक प्रयोजन तो यही है। इसी ध्येय के पूरक और भी अनेक प्रयोजन होते हैं, हो सकते हैं; पर मूल प्रयोजन तो यही है।

'न तथा' शब्द से सबका निषेध करनेवाला परमशुद्धनिश्चयनय कभी भी किसी भी नय द्वारा निषिद्ध नहीं होता, अतः वह कभी भी व्यवहारपने को प्राप्त नहीं होता; किन्तु वह सबका निषेध करके स्वयं निवृत्त हो जाता है और निर्विकल्प आत्मानुभूति का उदय होता है। वास्तव में यह आत्मानुभूति की प्राप्ति ही इस संपूर्ण प्रक्रिया का फल है।

**(१०) प्रश्नः**—यदि निश्चयनय के इन भेदों को स्वीकार न करें तो?

**उत्तरः**—निश्चयनय के इन भेद-प्रभेदों को यदि आप कथंचित् अस्वीकार करना चाहते हो तो कोई आपत्ति नहीं, हमें भी इष्ट है। उनका कथंचित् निषेध तो हम भी करते आए हैं, क्योंकि पूर्व के निषेध बिना आगे का नय बनता ही नहीं है। पर यदि आप उनका सर्वथा निषेध करना चाहते हैं तो अनेक आपत्तियाँ खड़ी हो जावेंगी।

अशुद्धनिश्चयनय के सर्वथा निषेध से आत्मा में रागादिभाव रहेंगे ही नहीं। ऐसा होने पर आस्रव, बंध, पुण्य और पापतत्त्व का अभाव हो जाने से संसार का ही अभाव हो जावेगा। संसार का अभाव होने से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि मोक्ष संसारपूर्वक ही तो होता है।

दूसरे रागादिभाव भी आत्मा से वैसे ही भिन्न सिद्ध होंगे, जैसे कि अन्य परद्रव्य, जो कि प्रत्यक्ष से विरुद्ध है। मृत्यु के बाद देहादि परपदार्थ यहाँ रह जाते हैं, पर राग-द्वेष साथ जाते हैं।

एकदेशशुद्धनिश्चयनय नहीं मानने से साधकदशा का ही अभाव मानना होगा। साधकदशा का नाम ही तो मोक्षमार्ग है, अतः मोक्षमार्ग ही न रहेगा। मोक्षमार्ग नहीं होगा तो मोक्ष कहाँ से होगा? मोक्ष और मोक्षमार्ग के अभाव में संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी।

इसीप्रकार शुद्धनिश्चयनय नहीं मानने पर क्षायिकभाव के अभाव होने से मोक्ष और मोक्षमार्ग का अभाव सिद्ध होगा, क्योंकि फिर तो एक मात्र परमभावग्राही शुद्धनय रहेगा और उसकी दृष्टि से तो बंध-मोक्ष है ही नहीं।

दूसरी बात यह है कि परमशुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली शुद्धात्मा के स्वरूप का निश्चय भी शुद्धनय के विषयभूत क्षायिकभावरूप प्रकट पर्यायों के आधार पर होता है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' मेंआत्मा के त्रिकाली स्वभाव को सिद्धपर्याय के समान परिपूर्ण ही तो बताया गया है। अतः यदि क्षायिकभाव को विषय बनानेवाले शुद्धनय को स्वीकार न करेंगे, तो फिर परमशुद्धनय के विषयभूत त्रिकाली द्रव्य का निर्णय कैसे होगा?

अतः यदि सर्वलोप की इस महान आपत्ति से बचना चाहते हो तो ऐसे एकान्त का हठ मत करो।

**(११) प्रश्नः**—यदि ऐसी बात है तो आप कथंचित् निषेध भी क्यों करते हो?

**उत्तरः**—यदि कथंचित् भी निषेध न करें तो अनादि का छिपा हुआ त्रिकाली परमतत्त्व छिपा ही रहेगा। वह हमारी दृष्टि का विषय नहीं बन पायेगा। जब वह दृष्टि का विषय नहीं बनेगा तो मोक्षमार्ग का आरंभ ही न होगा और जब मोक्षमार्ग का आरंभ नहीं होगा तो मोक्ष कैसे होगा?

इसप्रकार हम देखते हैं कि कथंचित् निषेध नहीं करने से भी वे ही आपत्तियाँ खड़ी हो जाती हैं, जो सर्वथा निषेध करने से होती थीं।

**(१२) प्रश्नः**—कथंचित् भी निषेध न करने से त्रिकालीतत्त्व दृष्टि का विषय क्यों नहीं बन पावेगा और सर्वथा निषेध से होनेवाली आपत्तियाँ कैसे

खड़ी हो जावेंगी?

**उत्तर:**—भाई! यह बात तो नौवें प्रश्न के उत्तर में विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है कि एकदेशशुद्धनिश्चयनय अशुद्धनिश्चयनय का तथा शुद्धनिश्चयनय एकदेशशुद्धनिश्चयनय का निषेध करता हुआ उदित होता है। इसीप्रकार परमशुद्धनिश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय का अभाव करता हुआ उदय को प्राप्त होता है और अन्त में स्वयं निवृत हो जाता है, तब आत्मसाक्षात्कार होता है, आत्मानुभूति प्रगट होती है।

अत: यदि हम उन्हें कथंचित् भी निषेध्य स्वीकार न करें तो फिर आत्मानुभूति कैसे प्रगट होगी? आत्मानुभूति प्रगट होने की प्रक्रिया तो उत्तरोत्तर निषेध की प्रक्रिया ही है।

दृष्टि का विषय त्रिकालीशुद्धात्मतत्त्व तो आत्मानुभूति में ही प्रगट होता है; अत: जब उत्तरोत्तर निषेध की प्रक्रिया से प्रगट होनेवाली आत्मानुभूति ही नहीं होगी तो फिर वह त्रिकालीपरमतत्त्व तो छिपा ही रहेगा।

तथा जब आत्मानुभूति ही प्रगट नहीं होगी तो मोक्षमार्ग भी नहीं बनेगा, क्योंकि मोक्षमार्ग का आरंभ तो आत्मानुभूति की दशा में ही होता है। जब मोक्षमार्ग ही नहीं बनेगा तो मोक्ष कहाँ से होगा?

इसप्रकार यह निश्चित है कि कथंचित् भी निषेध नहीं करने से वे सभी आपत्तियाँ खड़ी हो जावेंगी, जो सर्वथा निषेध करने से होती थीं।

निश्चयनय के उक्त भेद न तो सर्वथा निषेध्य हैं और न सर्वथा अनिषेध्य। प्रत्येक नय अपने-अपने प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला होने से स्वस्थान में निषेध करने योग्य नहीं है। प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है, अत: उसका निषेध करना अनिवार्य हो जाता है। यदि उसका निषेध न करें तो उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। अत: तत्संबंधी प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर, आगे बढ़ने के लिए—आगे के प्रयोजन की सिद्धि के लिए पूर्वकथित नय का निषेध एवं आगे के नय का प्रतिपादन इष्ट हो जाता है।

इसप्रकार स्याद्वाद ही शरण है, अन्य कोई रास्ता नहीं है; अधिक विकल्पों से कोई लाभ नहीं होगा। वस्तु बड़ी अद्भुत है, इसलिए उसकी बात भी अद्भुत है। अत: विकल्पों का शमन करके निर्विकल्प होने में ही सार है। वस्तु निर्विकल्प है; अत: उसकी प्राप्ति भी निर्विकल्प दशा में ही होती है।

यदि आप निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के संबंध में उक्त स्याद्वाद की शरण न लेंगे तो सात तत्त्वों की भी सिद्धि सम्भव न होगी।

**(१३) प्रश्न :**—निश्चयनय के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में उक्त स्याद्वाद को स्वीकार न करने पर सप्ततत्त्व की सिद्धि में क्या बाधा आवेगी? क्या सात तत्त्वों के निर्धारण में निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेदों का कोई हाथ है? यदि हाँ, तो क्या और कैसे? कृपया स्पष्ट करें।

**उत्तर:**—प्रत्येक द्रव्य परद्रव्यों एवं उनके गुण-पर्यायों से भिन्न तथा अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न है—सामान्यत: यह कथन निश्चयनय का है। किसी द्रव्य को अन्यद्रव्य और उनके भावों से अभिन्न कहना या अन्यद्रव्य के भावों का कर्त्ता-हर्त्ता कहना व्यवहारनय का वचन है।

निश्चयकथन भूतार्थ है और व्यवहारकथन प्रयोजनवश किया गया उपचरितकथन है। व्यवहारकथन प्रयोजनपुरत: ही भूतार्थ है, वस्तुत: तो वह अभूतार्थ ही है। इसप्रकार दो द्रव्यों के बीच अत्यन्ताभाव की मोटी दीवार है, कोई किसी का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। सभी द्रव्य अपनी-अपनी अच्छी-बुरी परिणति के उत्तरदायी स्वयं हैं।

—सब द्रव्यों के सम्बन्ध में यह महासत्य त्रिकाल अबाधित है, द्रव्यों की अनन्त स्वतन्त्रता का उद्घोषक है।

समयसार, गाथा ३ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इस महासत्य की घोषणा इसप्रकार की है:—

**"समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केचनांऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बंतोऽत्यंतप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टंकोत्कीर्ण इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णंतो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः।**

यहाँ, 'समय' शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं, क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभाव से (एकत्वपूर्वक) अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करता है, सो समय है। इसीलिए धर्म-अधर्म-आकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने पदार्थ हैं, वे सभी निश्चय से (वास्तव में) एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं; क्योंकि अन्य प्रकार से उनमें सर्वसंकरादि दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहने वाले अपने अनन्तधर्मों के

चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं–स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। पररूप परिणमन न करने से अनन्त-व्यक्तिता नष्ट नहीं होती, इसलिए वे टंकीत्कीर्ण की भाँति (शाश्वत) स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य तथा अविरुद्ध कार्य दोनों की हेतुता से वे सदा विश्व का उपकार करते हैं–टिकाये रखते हैं।"

आगम के इस महासत्य की ठोस दीवार को आधार बनाकर परमागम अर्थात् अध्यात्म, आत्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति के प्रयोजन से निश्चयनय की उक्त परिधि को भी भेदकर द्रव्यस्वभाव की सीमा से पर्याय को पृथक् कर, गुणभेद से भी भिन्न अभेद अखण्ड त्रिकाली आत्मतत्त्व को जीव कहता है; क्योंकि वही दृष्टि का विषय है, वही ध्यान का ध्येय है और वही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से रागादिभाव आत्मा की ही विकारी पर्यायें हैं, तथापि शुद्धनिश्चयनय उन्हें स्वीकार नहीं करता। उन्हें पुद्गलकर्म के उदय से उत्पन्न हुए होने के कारण निमित्त की अपेक्षा से पुद्गल कह दिया जाता है। किन्तु एक तो वे पुद्गल में होते देखे नहीं जाते हैं, दूसरे यदि उन्हें पुद्गल का माना जाएगा तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, एक द्रव्य दूसरे भावों का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं–इस महासिद्धान्त का लोप होने का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः न उन्हें जीवतत्त्व में ही सम्मिलित माना जा सकता है और न पुद्गलरूप अजीवतत्त्व में ही। यही कारण है कि उन्हें आस्रवादितत्त्व के रूप में दोनों से पृथक् ही रखा गया है। इसप्रकार जिनवाणी में रागादिभाव आस्रव, बन्ध, पुण्य व पापरूप स्वतन्त्रतत्त्व के रूप में उल्लिखित हुए हैं।

इसीप्रकार अपूर्णशुद्धपर्यायें संवर व निर्जरा तथा पूर्णशुद्धपर्याय मोक्ष स्वतन्त्रतत्त्व के रूप में उल्लिखित हुई हैं, क्योंकि पर्याय होने से इन्हें भी दृष्टि के विषय में शामिल नहीं किया जा सकता है।

द्रव्यास्रवादि और द्रव्यसंवरादि के सम्बन्ध में भी इसीप्रकार जानना चाहिए, क्योंकि यद्यपि वे वस्तुतः तो पुद्गल की हीं पर्यायें हैं, तथापि उनमें जीव के रागादि विभाव और वीतरागादि स्वभावभाव निमित्त होते हैं।

इसप्रकार भावास्रवादि व भावसंवरादिरूप जीव की पर्यायों एवं द्रव्यास्रवादि व द्रव्यसंवरादिरूप अजीव की पर्यायों को सम्मिलित कर पर्यायरूप आस्रवादि व संवरादि तत्त्वों को पृथक् रखना ही उचित है; क्योंकि न तो उन्हें परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत जीवद्रव्य में ही शामिल किया

जा सकता है और न उन्हें सर्वथा पुद्गल ही माना जा सकता है।

परजीवों, पुद्गलादि अजीवों तथा आस्रवादि पर्यायतत्त्वों से भी भिन्न निजशुद्धात्मतत्त्व ही वास्तविक निश्चय अर्थात् परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

नवतत्त्वों में छुपी हुई, परन्तु नवतत्त्वों से पृथक् आत्मज्योति ही शुद्धात्मतत्त्व है[1]। इस शुद्धात्मतत्त्व को दृष्टि, ज्ञान और ध्यान का विषय बनाना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, मोक्षमार्ग है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही अध्यात्मरूप परमागम निश्चयनय के उक्त भेद-प्रभेद करता है और फिर उन भेद-प्रभेदों में एक परमशुद्धनिश्चयनय को ही परमार्थ–निश्चय स्वीकार कर निश्चयनय के अन्य भेदों को व्यवहार कहकर अभूतार्थ कह देता है अर्थात् उनका निषेध कर देता है।

आत्मा के अनुभवरूप प्रयोजन की सिद्धि परमागम की उक्त प्रक्रिया से ही संभव है।

आगम में छह द्रव्यों की मुख्यता से और अध्यात्मरूप परमागम में आत्मद्रव्य की मुख्यता से कथन होता है।

**(१४) प्रश्नः**–आपने अभी-अभी अध्यात्म को परमागम कहा है, इसका उल्लेख कहीं आगम में भी है क्या?

**उत्तरः**–हाँ, है। आचार्य जयसेन प्रवचनसार, गाथा २३२ की टीका में **'णिच्छित्ती आगमदो'** पद की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:–

**"णिच्छित्ती आगमदो, सा च पदार्थनिश्चित्तिरागमतो भवति। तथाहि :– जीवभेदकर्मभेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति, न केवलमागमाभ्यासात्तथैवागमपदसारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्मतत्त्वप्रकाशकादध्यात्माभिधानात्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छित्तिर्भवति।**

'णिच्छित्ती आगमदो' अर्थात् पदार्थों का निश्चय आगम से होता है। इसी बात का विस्तार करते हैं कि जीवभेद और कर्मभेद के प्रतिपादक आगम के अभ्यास से पदार्थों का निश्चय होता है; परन्तु न केवल आगम के अभ्यास से, बल्कि समस्त आगम के सारभूत चिदानन्द एक परमात्मतत्त्व के प्रकाशक अध्यात्म नाम के परमागम से भी पदार्थों का ज्ञान होता है।"

**(१५) प्रश्नः**–आपने कहा कि इसीप्रकार द्रव्यास्रवादि को भी समझना चाहिए; तो क्या जिसप्रकार भावास्रवादिरूप राग-द्वेषादिभावों को पुद्गल

---

[1] नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति –समयसार, कलश ७

कहा जाता है, उसीप्रकार द्रव्यास्रवादि को जीव भी कहा जा सकता है? यदि हाँ, तो क्या कहीं आगम में भी ऐसा उल्लेख है? और यदि नहीं है तो क्यों नहीं है?

**उत्तर:**–जब पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले जीव के विकारी भावों को पुद्गल कहा जा सकता है तो फिर जीव के विकारी भावों के निमित्त से होनेवाले द्रव्यास्रवादि को जीव कहने में क्या आपत्ति हो सकती है?

यद्यपि दोंनों पक्षों में समान अपेक्षा है; तथापि परमागम में रागादिरूप भावास्रवादि को पुद्गल तो कहा गया है, किन्तु द्रव्यास्रवादिरूप से परिणमित कार्मणवर्गणाओं को आगम में जीव नहीं कहा गया है।

इसका कारण यह है कि आचार्यों की दृष्टि आत्महित की रही है। अतः आत्महित की दृष्टि से अध्यात्म नामक आगम के भेद परमागम में रागादि को पुद्गल तो कहा गया है; परन्तु पुद्गल के हित और अहित की कोई समस्या न होने से अधि+आत्म=अध्यात्म के समान कोई अधिपुद्गल नामक भेद आगम में नहीं है, जिसमें द्रव्यास्रवादि को जीव कहा जाता। यही कारण है कि द्रव्यास्रवादि को जीव कहनेवाले कथन उपलब्ध नहीं होते। इसप्रकार के कथनों का कोई प्रयोजन भी नहीं है और आवश्यकता भी नहीं है।

परमागम आगम का ही अंश है, जिसे अध्यात्म भी कहते हैं। अध्यात्म में रंग, राग और भेद से भी भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय व दृष्टि के विषयरूप एवं ध्यान के ध्येयरूप, परमपारिणामिकभावस्वरूप त्रैकालिक व अभेदस्वरूप निजशुद्धात्मा को ही जीव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सभी भावों को अनात्मा, अजीव, पुद्गल आदि नामों से कह दिया जाता है। इसका एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को पर, पर्याय व भेद से भी हटाकर निजशुद्धात्मतत्त्व पर लाना है, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता निजशुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से ही होती है। अध्यात्मरूप परमागम का समस्त कथन इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर होता है।

इस सन्दर्भ में समयसार, गाथा ३२० पर आचार्य जयसेन की टीका[१] के पश्चात् का निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य है:–

**"औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्याय-**

---

[१] इस टीका पर हुए पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन 'ज्ञानचक्षु' नामक पुस्तक के रूप में गुजराती में प्रकाशित हो चुके हैं।

रूपं भवति 'शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मा पदार्थो भण्यते। तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविध-पारिणामिकभावमध्ये 'शुद्धजीवत्वं 'शक्तिलक्षणं। यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं 'शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बंधमोक्षपर्यायपरिणतिर्रहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभाव-संज्ञमिति।

कथमशुद्धमिति चेत्?

संसारिणां 'शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति। तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभवं च सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिक भावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायरूपेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः 'शुद्धात्माभिमुखपरिणामः 'शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते।

स च पर्यायः 'शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्-भिन्नः। कस्मात्? भावनारूपत्वात्। 'शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्येकांतेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति, तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति 'शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति, न च तथा।

ततः स्थितं:—'शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन 'शुद्धोपादानकारण-त्वान्मोक्षकारणं भवति, न च 'शुद्धपारिणामिकः। यस्तु 'शक्तिरूपो मोक्षः स च 'शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति। अयं तु व्यक्तिरूप मोक्षविचारो वर्तते। तथा चोक्तं सिद्धान्ते :—'निष्क्रियः 'शुद्धपारिणामिकः'।

निष्क्रिय इति कोऽर्थः?

बंधकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति। मोक्षकारणभूता च क्रिया 'शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति।

ततो ज्ञायते 'शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न

भवति।

**कस्मात्?**

**ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तं :-**

**ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ, बंधु ण मोक्खु करेइ ।**
**जिउ परमत्थे जोइया, जिणवरु एउ भणेइ।।१।।**

**किं च विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति, तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति, न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः।**

**इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः।**

औपशमिकादि पाँच भावों में से किस भाव के द्वारा मोक्ष होता है—यह विचार करते हैं।

इन पाँच भावों में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक व औदयिकभाव तो पर्यायरूप हैं, एक शुद्धपारिणामिकभाव ही द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्परसापेक्षद्रव्य-पर्यायमय है। वहाँ जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व—इन तीन पारिणामिकभावों में शुद्धजीवत्वशक्तिलक्षणवाला पारिणामिकभाव शुद्धद्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है तथा शुद्धपारिणामिकभाव के नाम से जाना जाता है; वह बंधमोक्षरूपपर्याय से रहित है। तथा पर्यायार्थिकनय के आश्रित होने से दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व अशुद्धपारिणाकिभाव हैं।

**प्रश्नः**—ये तीनों भाव अशुद्ध क्यों हैं?

**उत्तरः**—संसारी जीवों के शुद्धनय से व सिद्ध जीवों के सर्वथा ही दशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व—इन तीनों में पर्यायार्थिकनय से भव्यत्वलक्षण पारिणामिकभाव के प्रच्छादक व यथासंभव सम्यक्त्वादि जीवगुणों के घातक देशघाति और सर्वघाति नाम के मोहादि कर्मसामान्य होते हैं। और जब कालादिलब्धि के वश से भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति अर्थात् प्रगटता होती है तब यह जीव सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप पर्याय से परिणमित होता है। उसी परिणमन को आगमभाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिकभाव और अध्यात्मभाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग

आदि नामान्तरों से अभिहित किया जाता है।

यह शुद्धोपयोगरूप पर्याय शुद्धपारिणामिकभावलक्षणवाले शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है, क्योंकि वह भावनारूप होती है और शुद्धपारिणामिकभाव भावनारूप नहीं होता। यदि उसे एकान्त से अशुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न मानेंगे तो भावनारूप एक मोक्षकारणभूत अशुद्धपारिणामिकभाव का मोक्ष-अवस्था में विनाश होने पर शुद्धपारिणामिकभाव के भी विनाश का प्रसंग प्राप्त होगा, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धपारिणामिकभावविषयक भावना अर्थात् जिस भावना या भाव का विषय शुद्धपारिणामिकभावरूप शुद्धात्मा है, वह भावना औपशमिकादि तीनों भावोंरूप होती है, वही भावना समस्त रागादिभावों से रहित शुद्ध-उपादानरूप होने से मोक्ष का कारण होती है, शुद्धपारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं होता और जो शक्तिरूप मोक्ष है, वह तो शुद्धपारिणामिकभाव में पहले से ही विद्यमान है। यहाँ तो व्यक्तिरूप अर्थात् पर्यायरूप मोक्ष का विचार किया जा रहा है। सिद्धान्त में भी ऐसा कहा है:—**'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः'** अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है।

'निष्क्रिय' शब्द से तात्पर्य है कि शुद्धपारिणामिकभाव बंध की कारणभूत रागादि परिणतिरूप क्रिया व मोक्ष की कारणभूत शुद्धभावनापरिणतिरूप क्रिया से तद्रूप या तन्मय नहीं होता।

इससे यह प्रतीत होता है कि शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता; क्योंकि ध्यान विनश्वर होता है।

योगीन्द्रदेव ने भी कहा है :—

हे योगी! परमार्थदृष्टि से तो यह जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है और न बन्धमोक्ष को करता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

दूसरी बात यह है कि विवक्षित-एकदेशशुद्धनिश्चयनय के आश्रित यह भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणवाले क्षायोपशमिकज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेशव्यक्तिरूप होती है, तथापि ध्यातापुरुष यही भावना करता है कि 'मैं तो सकलनिरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक, परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य ही हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ।'

उपर्युक्त सभी व्याख्यान आगम और अध्यात्म (परमागम)—दोनों प्रकार के नयों के परस्पर-सापेक्ष अभिप्राय के अविरोध से सिद्ध होता है—ऐसा

विवेकियों को समझना चाहिए।"

(१६) **प्रश्न:**—जब भावना एकदेशव्यक्तिरूप है तो ध्यातापुरुष ऐसी भावना क्यों करता है कि 'मैं सकलनिरावरण, अखण्ड, एक, प्रत्यक्षप्रतिभासमय, अविनश्वर, शुद्धपारिणामिक, परमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य हूँ, खण्डज्ञानरूप नहीं हूँ' ऐसी भावना तो सत्य नहीं हैं?

**उत्तर:**—इसमें क्या असत्य है? क्योंकि ध्यातापुरुष ने अपना अहं (एकत्व) परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य में ही स्थापित किया है। यह शुद्धात्मद्रव्य खण्डज्ञानरूप न होकर अखण्ड है, अविनश्वर है, शुद्ध है, सकलनिरावरण, प्रत्यक्षप्रतिभासमय और परमपारिणामिकभावलक्षणवाला है। अतः ध्यातापुरुष की उक्त भावना सर्वप्रकार से उचित है, सत्य है।

रही एकदेशव्यक्तिता की बात, सो वह एकदेशव्यक्तिता तो पर्याय में है, स्वभाव तो सदा परिपूर्ण ही है। स्वभाव में तो अपूर्णता की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

ध्यातापुरुष के ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय (दृष्टि का विषय) और परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेय तो पर और पर्यायों से भिन्न निजशुद्धात्मद्रव्य ही है, उसके आश्रय से ही निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप पर्याय उत्पन्न होती है।

इसप्रकार ध्येय, श्रद्धेय व परमज्ञेयरूप निजशुद्धात्मद्रव्य ही उक्त भावना का भाव्य है और निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही उक्त भाव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली भावना है।

यहाँ 'भावना' शब्द का अर्थ कोरी भावना नहीं है, अपितु आत्माभिमुख स्वसंवेदनरूप परिणमन है। निर्विकार स्वसंवेदनरूप होने से इस भावना का ही दूसरा नाम निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

यद्यपि यह भावना भी पवित्र है, तथापि ध्यातापुरुष इसमें एकत्व स्थापित नहीं करता; क्योंकि यह पवित्र तो है, पर पूर्णपवित्र नहीं, एकदेश पवित्र है। अपूर्णता के लक्ष्य से पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती। आत्मा तो परिपूर्ण पदार्थ है, पवित्र पदार्थ है, परिपूर्ण पवित्र पदार्थ है; तो वह अपूर्णता में, अपूर्ण पवित्रता में अहं कैसे स्थापित कर सकता है?

यही कारण है कि यद्यपि भावना एकदेशनिर्मलपर्यायरूप है, तथापि ध्यातापुरुष उसमें एकत्व स्थापित नहीं करता। ध्याता का एकत्व तो उस त्रिकाली ध्रुव के साथ होता है, जिसके आश्रय से भावनारूप उक्त पर्याय की

उत्पत्ति होती है।

**(१७) प्रश्नः**—एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय होने से उक्त भावना एकदेशव्यक्तिरूप है और एकदेशनिर्मल अर्थात् अपूर्ण पवित्र होने के कारण ही यदि ध्यातापुरुष इसमें अहं स्थापित नहीं करता है तो फिर उसे शुद्धनिश्चयनय के विषयरूप क्षायिक पर्याय में अहं स्थापित करना चाहिये; क्योंकि वह तो पूर्ण है, पवित्र है और पूर्ण पवित्र है?

**उत्तरः**—ध्यातापुरुष उसमें भी एकत्व स्थापित नहीं करता, क्योंकि वह भी पर्याय है। यद्यपि वह पूर्ण पवित्र है, तथापि परम पवित्र नहीं है। वह पूर्ण पावन है, पर पतित-पावन नहीं है। वह स्वयं तो पूर्ण पवित्र है, पर उसके आश्रय से पवित्रता उत्पन्न नहीं होती। वह पूर्ण पवित्र हुई है, है नहीं। स्वभाव पवित्र है, हुआ नहीं है। जो पवित्र होता है, उसके आश्रय से पवित्रता प्रगट नहीं होती। जो स्वयं स्वभाव से पवित्र है, जिसे पवित्र होने की आवश्यकता नहीं, जो सदा से ही पवित्र है; उसके आश्रय से ही पवित्रता प्रगट होती है। वही परमपवित्र होता है, वही पतित-पावन होता है; जिसके आश्रय में पवित्रता प्रगट होती है, पतितपना नष्ट होता है।

त्रिकाली ध्रुवतत्व पवित्र हुआ नहीं है, वह अनादि से पवित्र ही है, उसके आश्रय से ही पर्याय में पवित्रता, पूर्ण पवित्रता प्रगट होती है। वह परमपदार्थ ही परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है।

पवित्र पर्याय सोना है, पारस नहीं है। परमशुद्धनिश्चयनय का विषय त्रिकाली ध्रुव पारस है, जो सोना बनाता है, जिसके छूने मात्र से लोहा सोना बन जाता है। सोने को छूने से लोहा सोना नहीं बनता, पर पारस के छूने से वह सोना बन जाता है। पवित्र पर्याय के, पूर्ण पवित्र पर्याय के आश्रय से भी पर्याय में शुद्धता प्रगट नहीं होती। पर्याय में पवित्रता त्रिकाली शुद्धद्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है। अतः ध्यातापुरुष भावना भाता है कि मैं तो वह परमपदार्थ हूँ, जिसके आश्रय से पर्याय में पवित्रता प्रगट होती है। मैं प्रगट होनेवाली पवित्रता नहीं, अपितु नित्य प्रकट, परमपवित्र पदार्थ हूँ। मैं सम्यग्दर्शन नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है। मैं सम्यग्ज्ञान भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसके ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है। मैं चारित्र भी नहीं; मैं तो वह हूँ, जिसमें रमने का नाम सम्यक्चारित्र है।

ध्यातापुरुष अपना अहं ध्येय में स्थापित करता है; साधन में नहीं, साध्य में भी नहीं।

**(१८) प्रश्नः**—साधन, साध्य और ध्येय में क्या अन्तर है?

**उत्तरः**—परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत आत्मद्रव्य—त्रिकाली ध्रुवतत्त्व ध्येय है, और उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकदेशनिर्मलपर्याय मोक्षमार्ग अर्थात् साधन है तथा उसी ध्रुव के परिपूर्ण आश्रय से पूर्णशुद्धपर्याय का उत्पन्न होना मोक्ष है; यह मोक्ष ही साध्य है।

त्रिकालीद्रव्य अर्थात् निजशुद्धात्मतत्त्व परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है। परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप एकदेशनिर्मलपर्याय का उदय होना एकदेशशुद्धनिश्चयनय का उदय होना है अर्थात् एकदेशनिर्मलपर्याय से युक्त द्रव्य एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय है। तथा उसी निजशुद्धात्मद्रव्य के परिपूर्ण आश्रय से क्षायिकभावरूप मोक्षपर्याय का उत्पन्न होना शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय का उदय है अर्थात् मोक्षरूप क्षायिकभाव से युक्त आत्मद्रव्य शुद्धनिश्चयनय का विषय है।

इसी बात को संक्षेप में इसप्रकार कहा जा सकता है कि एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्गरूप पर्याय से परिणत आत्मा है, शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षरूप से परिणत आत्मा है तथा परमशुद्धनिश्चयनय का विषय बंध-मोक्ष से रहित शुद्धात्मा है। एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्गस्वरूप होने से साधन, शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षरूप होने से साध्य और परमशुद्धनिश्चयनय का विषय बंध और मोक्ष पर्याय से भी रहित होने से ध्येय है।

ध्यातापुरुष का अहं इसी ध्येय में होता है, मोक्षमार्गरूप साधन या मोक्षरूप साध्य में नहीं।

(१९) **प्रश्नः**—जब ध्यातापुरुष परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत ध्येय में ही अहं स्थापित करता है तो क्या एकमात्र वही उपादेय है?

**उत्तरः**—हाँ, आश्रय करने की अपेक्षा से तो एकमात्र परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत शुद्धात्मा ही उपादेय है, पर प्रगट करने की अपेक्षा शुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्ष और एकदेशशुद्धनिश्चयनय का विषय मोक्षमार्ग भी उपादेय है। अशुद्धनिश्चयनय के विषय मोहरागद्वेषादि हेय हैं।

(२०) **प्रश्नः**—संक्षेप में उक्त ऊहापोह का सार क्या है?

**उत्तरः**—उक्त सम्पूर्ण ऊहापोह का सार मात्र इतना है कि यदि यह भव्यजीव परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य को जानकर,

पहिचानकर उसी में जम जावे, रम जावे तो अशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत मोहादि विकारीभावों का अभाव होकर एकदेशशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत सम्यग्दर्शनादिरूप एकदेश पवित्रता प्रगट हो; तथा उसी में जमा रहे, रमा रहे तो कालान्तर में शुद्धनिश्चयनय की विषयभूत पूर्णपवित्र मोक्षपर्याय प्रगट हो जावे और स्वभाव से त्रिकालपरमात्मस्वरूप यह आत्मा प्रगट पर्याय में भी परमात्मा बन जावे तथा अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करता रहे।

यह दिन हम सबको अतिशीघ्र प्राप्त हो—इस पवित्र भावना के साथ निश्चयनयके भेद-प्रभेदों के प्रपंच (विस्तार) से विराम लेता हूँ।

—o—

## उपदेश ग्रहण करने की पद्धति

"शास्त्रों में कहीं निश्चयपोषक उपदेश है, कहीं व्यवहारपोषक उपदेश है। वहाँ अपने को व्यवहार का आधिक्य हो तो निश्चयपोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्त्ते और अपने को निश्चय का आधिक्य हो तो व्यवहारपोषक उपदेश का ग्रहण करके यथावत् प्रवर्त्ते।

तथा पहले तो व्यवहार श्रद्धान के कारण आत्मज्ञान से भ्रष्ट हो रहा था, पश्चात् व्यवहार उपदेश ही की मुख्यता करके आत्मज्ञान का उद्यम न करे; अथवा पहले तो निश्चय श्रद्धान के कारण वैराग्य से भ्रष्ट होकर स्वच्छन्दी हो रहा था, पश्चात् निश्चय उपदेश की ही मुख्यता करके विषय-कषाय का पोषण करता है।

इस प्रकार विपरीत उपदेश ग्रहण करने से बुरा ही होता है।

– मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६८

# व्यवहारनय : भेद-प्रभेद

निश्चय-व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट करते समय यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि व्यवहारनय का कार्य एक अखण्ड वस्तु में भेद करके तथा दो भिन्न वस्तुओं में अभेद करके वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करना है।

व्यवहारनय की इसी विशेषता को लक्ष्य में रखकर उसके दो भेद किये जाते हैं:—

१. सद्भूतव्यवहारनय और २. असद्भूतव्यवहारनय।

इस संदर्भ में 'आलाप-पद्धति' का निम्नकथन द्रष्टव्य है:—

"**व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।**[1]

व्यवहारनय के दो भेद हैं:—सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार। उनमें से एक ही वस्तु में भेदव्यवहार करनेवाला सद्भूतव्यवहारनय है और भिन्न वस्तुओं में अभेदव्यवहार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।"

सद्भूतव्यवहारनय अनन्तधर्मात्मक एक अखण्डवस्तु में गुणों, कर्मों, स्वभावों व पर्यायों के आधार पर भेद करता है अर्थात् भेद करके वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करता है। वे गुण-धर्म आदि सद्भूत हैं अर्थात् उस वस्तु में विद्यमान हैं; उस वस्तुके ही गुण-धर्म हैं,जिसमें कि यह नय बता रहा है—इसकारण तो इसे 'सद्भूत' कहा जाता है; अखण्डवस्तु में गुण, धर्मादि के आधार पर भेद उत्पन्न करता है—इसकारण 'व्यवहार' कहा जाता है; और भेदाभेदरूप वस्तु के भेदांश को ग्रहण करनेवाला होने से 'नय' कहा जाता है।

इसप्रकार इसकी 'सद्भूतव्यवहारनय' संज्ञा सार्थक है।

असद्भूतव्यवहारनय भिन्न द्रव्यों में संयोग-सम्बन्ध आदि के आधार पर अभेद बताकर वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करता है, जबकि वस्तुतः भिन्न द्रव्यों में अभेद वस्तुगत नहीं है, इसकारण इस नय को असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

आलापपद्धति में कहा है:–

"**अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः।**[१]

अन्यत्र (अन्य द्रव्य में) प्रसिद्ध धर्म का अन्यत्र (अन्य द्रव्य में) आरोप करने को असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।"

इसे असत्य आरोप करने के कारण 'असद्भूत', भिन्न द्रव्यों में सम्बन्ध जोड़ने के कारण 'व्यवहार' और संयोग का ज्ञान करानेवाले सम्यक्-श्रुतज्ञान का अंश होने से 'नय' कहा जाता है।

इसप्रकार इसका नाम 'असद्भूतव्यवहारनय' सार्थक है।

इस सन्दर्भ में क्षुल्लक श्री जैनेन्द्रवर्णी के विचार द्रष्टव्य हैं:–

"व्यवहारनय के दो प्रमुख लक्षणों पर से यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहारनय दो प्रकार का है। एक तो अखण्डवस्तु में भेद डालकर एक को अनेक भेदोंरूप देखनेवाला और दूसरा अनेक वस्तुओं में परस्पर एकत्व देखनेवाला। पहले प्रकार का व्यवहार सद्भूत कहलाता है, क्योंकि वस्तु के गुण-पर्याय सचमुच ही उस वस्तु के अंग हैं। दूसरे प्रकार का व्यवहार असद्भूत कहलाता है, क्योंकि अनेक वस्तुओं की एकता सिद्धान्तविरुद्ध व असत्य है।[२]"

सद्भूत और असद्भूतव्यवहारनय की विषयवस्तु स्पष्ट करते हुए आलापपद्धतिकार लिखते हैं:–

"**गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः स्वभावस्वभाविनोः कारककारकिणो भेदः सद्भूतव्यवहारस्यार्थः। द्रव्ये द्रव्योपचारः, पर्याये पर्यायोपचारः, गुणे गुणोपचारः, द्रव्ये गुणोपचारः, द्रव्ये पर्यायोपचारः, गुणे द्रव्योपचारः, गुणे पर्यायोपचारः, पर्याये द्रव्योपचारः, पर्याये गुणोपचारः, इति नवविधोऽसद्भूतव्यवहारस्यार्थो द्रष्टव्यः।**[३]

गुण-गुणी में, पर्याय-पर्यायी में, स्वभाव-स्वभाववान में और कारक-कारकवान में भेद करना अर्थात् वस्तुतः जो अभिन्न हैं, उनमें भेदव्यवहार करना सद्भूतव्यवहारनय का अर्थ (विषय) है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का उपचार, एक पर्याय में दूसरी पर्याय का उपचार, एक गुण में दूसरे गुण का उपचार; द्रव्य में गुण का उपचार, द्रव्य में पर्याय का उपचार; गुण में

---

१. आलापद्धति, पृष्ठ २२७

२. नयदर्पण, पृष्ठ ६६५

३. आलापद्धति, पृष्ठ २२७

द्रव्य का उपचार, गुण में पर्याय का उपचार; पर्याय में द्रव्य का उपचार और पर्याय में गुण का उपचार – इसप्रकार नौ प्रकार का असद्भूतव्यवहारनय का अर्थ जानना चाहिए।''

सद्भूत और असद्भूत – दोनों ही व्यवहारनय अनुपचरित और उपचरित के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इसप्रकार व्यवहारनय चार प्रकार का माना गया है। वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं:–

१. अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय,
२. उपचरितसद्भूतव्यवहारनय,
३. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय,
४. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय।

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय को शुद्धसद्भूतव्यवहारनय तथा उपचरितसद्भूतव्यवहारनय को अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय भी कहा जाता है।

उक्त सम्पूर्ण स्थिति को हम निम्नलिखित चार्ट द्वारा अच्छी तरह समझ सकते हैं:–

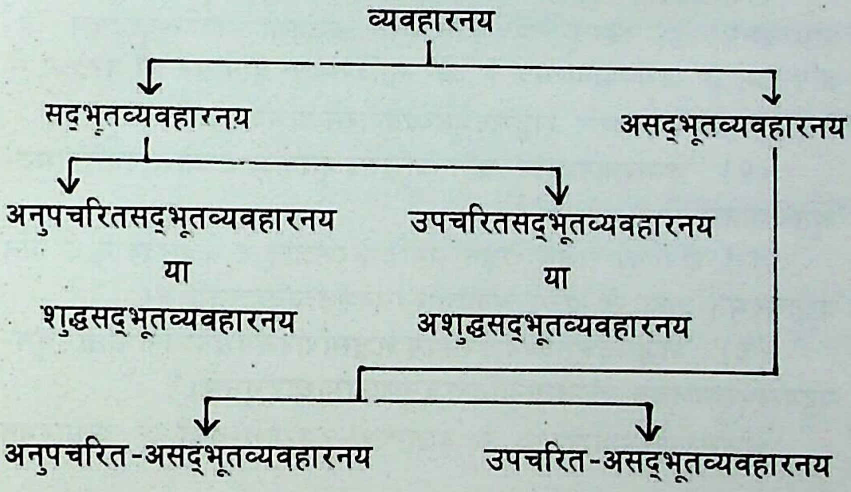
व्यवहारनय
सद्भूतव्यवहारनय
असद्भूतव्यवहारनय
अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय
या
शुद्धसद्भूतव्यवहारनय
उपचरितसद्भूतव्यवहारनय
या
अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय
अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय
उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

अब यहाँ व्यवहारनय के उक्त चारों भेदों के स्वरूप एवं उनकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में जिनागम के आलोक में विस्तृत विचार अपेक्षित है।

(क) निरुपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करनेवाले अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं:–

(१) **"निरुपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा:– जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः।**[१]

निरुपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करनेवाला अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे :– जीव के केवलज्ञानादिगुण हैं।"

(२) **"शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा:– शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायिणो भेदकथनम्।**[२]

शुद्धगुण व शुद्धगुणी में अथवा शुद्धपर्याय व शुद्धपर्यायी में भेद का कथन करना शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।"

(३) **"शुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतत्वात् कार्यशुद्धजीवः।**[३]

शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधार होने के कारण कार्यशुद्धजीव है।"

(४) **"परमाणुपर्यायः पुद्गलस्य शुद्धपर्यायः परमपारिणामिकभाव-लक्षणः वस्तुगतषट्प्रकारहानिवृद्धिरूपः अतिसूक्ष्मः अर्थपर्यायात्मकः सादिसनिधनोऽपि परद्रव्यनिरपेक्षत्वाच्छुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मकः।**[४]

परमाणुपर्याय पुद्गल की शुद्धपर्याय है, जो कि परमपारिणामिक भावस्वरूप है, वस्तु में होनेवाली षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप है, अतिसूक्ष्म है, अर्थपर्यायात्मक है और सादि-सान्त होने पर भी परद्रव्य से निरपेक्ष होने के कारण शुद्धसद्भूतव्यवहारनयात्मक है।"

(५) **"केवलज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्भूतशब्दवाच्योऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः।**[५]

यहाँ जीव का लक्षण कहते समय केवलज्ञान व केवलदर्शन के प्रति शुद्धसद्भूत शब्द से वाच्य अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।"

(६) **"शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगंधवर्णानामाधारभूत-पुद्गलपरमाणुवत् केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम्।**[६]

शुद्धसद्भूतव्यवहारनय से शुद्धस्पर्श-रस-गंध-वर्णों के आधारभूत

---

[१] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[२] वही, पृष्ठ २१७

[३] नियमसार, गाथा ९ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[४] नियमसार, गाथा २८ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[५] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की संस्कृत व्याख्या

[६] प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका का परिशिष्ट

पुद्गलपरमाणु के समान केवलज्ञानादि शुद्धगुणों का आधारभूत आत्मा है।"

(**ख**) सोपाधि गुण-गुणी में भेद को विषय करनेवाले उपचरित सद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप और विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं:-

(१) "**सोपाधिगुणगुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा :- जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः।**[1]

उपाधिसहित गुण व गुणी में भेद को विषय करनेवाला उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे:- जीव के मतिज्ञानादि गुण हैं।"

(२) "**अशुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा-अशुद्धगुणाशुद्धगुणिनोरशुद्धपर्यायाशुद्धपर्यायिणोर्भेदकथनम्।**[2]

अशुद्धगुण व अशुद्धगुणी में अथवा अशुद्धपर्याय व अशुद्धपर्यायी में भेद का कथन करना अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।"

(३) "**अशुद्धसद्भूतव्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतत्वादशुद्धजीवः।**[3]

अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय से मतिज्ञानादिविभावगुणों का आधार होने के कारण अशुद्धजीव है।"

(४) "**छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूर्णापेक्षया पुनरशुद्धसद्भूतशब्दवाच्य उपचरिसद्भूतव्यवहारः।**[4]

छद्मस्थ जीव के अपरिपूर्ण ज्ञान-दर्शन की अपेक्षा से 'अशुद्धसद्भूत' शब्द से वाच्य उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।"

(५) "**तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णाधारभूतद्व्यगुणकादिस्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम्।**[5]

अशुद्धभूतव्यवहारनय से अशुद्धस्पर्श-रस-गंध-वर्णों के आधारभूत द्वि-अणुकादि स्कन्ध के समान मतिज्ञानादि विभावगुणों का आधारभूत आत्मा है।"

(**ग**) भिन्नवस्तुओं के संश्लेषसहित सम्बन्ध को विषय करनेवाले अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[2] वही, पृष्ठ २१७

[3] नियमसार, गाथा ९ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[4] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ६ की संस्कृत व्याख्या

[5] प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका का परिशिष्ट

करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं:–

(१) "**संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा:–जीवस्य शरीरमिति।**[1]

संश्लेषसहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करनेवाला अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है। जैसे :– जीव का शरीर है।"

(२) "**आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्त्ता तत्फलरूपाणां सुखदुःखानां भोक्ता च.......।**

**......अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्त्ता।**[2]

आत्मा निकटवर्ती अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता है....।

...अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से नोकर्म अर्थात् शरीर का भी कर्त्ता है।"

(३) "**अनुपचरितासद्भूतव्यवहारान्मूर्तो।**[3]

अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से यह जीव मूर्त्त है।"

(४) "**अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन देहादभिन्नम्।**[4]

अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा देह से अभिन्न है।"

(५) "**अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यप्राणैश्च यथासंभवं जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वश्चेति जीवो।**[5]

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से जीव यथासंभव द्रव्यप्राणों के द्वारा जीता है, जीवेगा और पहले से जीता था।"

(६) "**जीवस्यौदयिकादिभावचतुष्टयमनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यकर्मकृतमिति।**[6]

जीव के औदयिक आदि चार भाव अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्मों द्वारा किए गए हैं।"

(७) "**अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्वचणुकादिस्कन्धेषु**

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[2] नियमसार, गाथा १८ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[3] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ७ की संस्कृत व्याख्या

[4] परमात्मप्रकाश, अध्याय १, गाथा १४ की संस्कृत टीका

[5] पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा २७ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[6] पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ५८ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

**संश्लेषान्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम्।**[१]

अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा द्वि-अणुक आदि स्कन्धों में संश्लेषबन्ध से स्थित पुद्गलपरमाणुओं की भाँति अथवा औदारिक आदि शरीरों में से विवक्षित किसी एक देह में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ के समान है।''

**(घ)** भिन्नवस्तुओं के संश्लेषरहित सम्बन्ध को विषय करनेवाले उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले कतिपय शास्त्रीय उद्धरण इसप्रकार हैं:–

**(१) ''संश्लेषरहितवस्तुसंबंधविषय उपचरितःसद्भूतव्यवहारो, यथाः– देवदत्तस्य धनमिति।**[२]

संश्लेषरहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करनेवाला उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे :– देवदत्त का धन है।''

**(२) ''असद्भूतव्यवहारः एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः।**[३]

असद्भूतव्यवहार ही उपचार है और उपचार में भी जो उपचार करता है, वह उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।''

**(३) ''उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घटपटशकटादीनां कर्त्ता।**[४]

उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से आत्मा घट, पट और रथ आदि का कर्त्ता है।''

**(४) ''उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठसनाद्युपविष्टदेवदत्तवत् समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम्।**[५]

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय में यह आत्मा, काष्ठासन्न आदि पर बैठे हुए देवदत्त की भाँति, अथवा समवशरण में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ की भाँति विवक्षित किसी एक ग्राम या घर में स्थित है।''

**(५) ''उपचरितासद्भूतव्यवहारेणेष्टानिष्टपंचेन्द्रियविषयजनित-सुख-दुःखं भुङ्क्ते।**[६]

---

[१] प्रवचनसार, जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका के परिशिष्ट

[२] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[३] वही, पृष्ठ २२७

[४] नियमसार, गाथा १८ की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

[५] प्रवचनसार की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका का परिशिष्ट

[६] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ९ की संस्कृत व्याख्या

उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से यह जीव पंचेन्द्रियों के इष्टानिष्ट विषयों से उत्पन्न सुख-दुःख को भोगता है।"

(६) "**योऽसौ बहिर्विषये पंचेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण।**[1]

बाह्यविषयों में पंचेन्द्रिय के विषयों का परित्याग भी उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से है।

व्यवहारनय के उक्त भेद-प्रभेदों के स्वरूप और विषयवस्तु के विशेष स्पष्टीकरण के लिए, विशेष विस्तार और गहराई में जाने के पूर्व, नयप्रयोगों में प्रवीणता प्राप्त करने एवं उनके मर्म को समझने के इच्छुक आत्मार्थिजनों से अनुरोध है कि उक्त नयों के स्वरूप व विषयवस्तु को स्पष्ट करनेवाले उल्लिखित शास्त्रीय उद्धरणों का गहराई से अध्ययन कर लें।

उक्त उद्धरणों में प्रतिपादित विषयवस्तु के हृदयंगम कर लेने के बाद तत्संबंधी गंभीर और विस्तृत चर्चा सहज बोधगम्य होगी।

यह दावा करना तो संभव नहीं है कि उक्त उद्धरणों के रूप में जिनवाणी में समागत सभी प्रयोगों को प्रस्तुत कर दिया गया है, पर यह बात अवश्य है कि यहाँ पंचाध्यायी के वर्णित व्यवहारनयों के स्वरूप और विषयवस्तु को छोड़कर अधिकांश प्रयोगों को समेटने का प्रयास अवश्य किया गया है।

पंचाध्यायी में समागत प्रयोग उक्त धारा से कुछ हटकर हैं; अतः उन पर यथास्थान अलग से विचार किया जायगा। प्रश्नोत्तरों के माध्यम से तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जायगा।

व्यवहारनय के पूर्वोक्त भेद-प्रभेदों के स्वरूप और विषयवस्तु को हम निम्नलिखित उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

जिसप्रकार सर्वप्रभुतासम्पन्न अनेक देशों के समुदायरूप यह लौकिक विश्व है। पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त अनेक देश इसकी इकाइयाँ हैं। प्रत्येक इकाई अपने में परिपूर्ण है, अखण्ड है, पूर्ण स्वतन्त्र है।

उसीप्रकार सर्वप्रभुतासम्पन्न, अखण्ड, अनन्तानन्त द्रव्यों के समुदायरूप यह अलौकिक विश्व है। अनन्तानन्त द्रव्य इसकी इकाइयाँ हैं। प्रत्येक इकाई अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने में परिपूर्ण हैं, अखण्ड हैं, पूर्ण स्वतन्त्र हैं।

जिसप्रकार देश के भीतर अनेक प्रदेश होने पर भी वह खण्डित नहीं

---

[1] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५ की संस्कृत व्याख्या

होता; उसीप्रकार द्रव्यरूपी देश के भीतर भी अनेक प्रदेश हो सकते हैं, होते हैं, पर उनसे वह खण्डित नहीं होता।

जिसप्रकार प्रत्येक देश की अपनी शक्तियाँ और अपनी व्यवस्थायें होती हैं, पर उन शक्तियों और व्यवस्थाओं के कारण देश की अखण्डता खण्डित नहीं होती, प्रभुसम्पन्नता प्रभावित नहीं होती। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ होती हैं और उनकी अनन्तानन्त अवस्थायें भी होती हैं, पर उन शक्तियों और अवस्थाओं के कारण द्रव्य की अखण्डता खण्डित नहीं होती, प्रभुसम्पन्नता प्रभावित नहीं होती।

किसी देश की अखण्डता या प्रभुसम्पन्नता तब प्रभावित होती है, जब कोई दूसरा देश उसकी सीमा का उल्लंघन करता है, उसकी निजी व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप करता है। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की अखण्डता और प्रभुसम्पन्नता तभी प्रभावित होती है कि जब कोई अन्य द्रव्य उसकी सीमा में प्रवेश करे या उसकी अवस्थाओं में हस्तक्षेप करे।

जिसप्रकार देश अपनी अखण्डता और एकता कायम रखकर शासन, प्रशासन और व्यवस्थाओं की दृष्टि से अनेक प्रदेशों, जिलों, नगरों, ग्रामों आदि में तथा भागों-विभागों में भेदा जाता है; उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य भी अपनी अखण्डता और एकता कायम रखकर समझने-समझाने आदि की दृष्टि से गुण-गुणी, प्रदेश-प्रदेशवान, पर्याय-पर्यायवान आदि से भेदा जाता है।

यद्यपि एक देश की मर्यादा में किए जानेवाले ये प्रदेशों के भेद वैसे नहीं होते, जैसे कि दो देशों के बीच होते हैं; तथापि ये भेद सर्वथा काल्पनिक भी नहीं होते। उसीप्रकार एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर किये गये गुणभेदादि भेद दो द्रव्यों के बीच होनेवाले भेद के समान अभावरूप न होकर अतद्भावरूप होते हैं।

दो देशों के बीच जो विभाजन रेखा होती है, वह अत्यन्ताभावस्वरूप होती है। उन दोनों के सुख-दुःख, लाभ-हानि सम्मिलित नहीं होते। प्रत्येक के अपने सुख-दुःख, लाभ-हानि, अपनी समृद्धि, अपनी सुरक्षा-व्यवस्था, अपने हिताहित पृथक्-पृथक् होते हैं। किन्तु एक देश के विभिन्न प्रदेशों, जिलों, नगरों, ग्रामों, विभागों के सुख-दुःख, समृद्धि, सुरक्षा, हिताहित, लाभहानि सम्मिलित होते हैं;यही कारण है कि ये भेद वास्तविक नहीं, व्यवस्था के लिए किए गए काल्पनिक भेद हैं; पर हैं अवश्य, इनसे सर्वथा इन्कार करना भी वास्तविक नहीं है।

उसीप्रकार दो द्रव्यों के बीच जो विभाजन रेखा होती है, वह

अत्यन्ताभावस्वरूप होती है; क्योंकि उन दोनों के सुख-दुःख, लाभ-हानि सम्मिलित नहीं होते। प्रत्येक के अपने सुख-दुःख, लाभ-हानि, अपनी समृद्धि, अपनी सुरक्षा-व्यवस्था, अपने हिताहित पृथक-पृथक् होते हैं। किन्तु एक द्रव्य के प्रदेशों, गुणों और पर्यायों के सुख-दुःख, समृद्धि, सुरक्षा और हिताहित सम्मिलित होते हैं; यही कारण है कि द्रव्य की मर्यादा के भीतर समझने-समझाने की दृष्टि से किये गये भेद वास्तविक नहीं हैं; पर हैं अवश्य, इनसे सर्वथा इन्कार करना भी वास्तविक न होगा।

इसप्रकार के भेद को शास्त्रीय भाषा में अतद्भावरूप भेद कहते हैं।

यद्यपि प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्र प्रभुसम्पन्न सत्ता का स्वामी है, किसी देश का हस्तक्षेप उसे स्वीकार नहीं है; तथापि विश्व के अनेक देशों के बीच किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध सर्वथा न हो – ऐसी बात भी नहीं है, एक दूसरे के बीच कुछ व्यावहारिक सम्बन्ध पाये ही जाते हैं। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपनी स्वतन्त्र प्रभुसम्पन्न सत्ता का स्वामी है, किसी अन्य द्रव्य का हस्तक्षेप उसे स्वीकार नहीं है; तथापि अनेक द्रव्यों के बीच किसीप्रकार का कोई सम्बन्ध सर्वथा ही न हो – ऐसी बात भी नहीं है, एक दूसरे के बीच कुछ व्यावहारिक सम्बन्ध पाये ही जाते हैं।

देश की आन्तरिक व्यवस्था में जितना बल राष्ट्रीयता पर दिया जाता है, उतना प्रान्तीयता पर नहीं। राष्ट्रीय भावना उदात्त मानी जाती है और प्रान्तीय भावना या प्रान्तीयता को हेयदृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि राष्ट्रीयता देश की एकता को मजबूत करती है और अखण्डता की पोषक होती है, जबकि प्रान्तीयता अखण्डता की विरोधी होने से देश की एकता को कमजोर करती है।

उसीप्रकार द्रव्य की आन्तरिक व्यवस्था में जितना बल अभेद पर दिया जाता है, उतना बल भेद पर नहीं। अभेदग्राही निश्चयनय को भूतार्थ और सत्यार्थ कहकर उपादेय बताया जाता है और भेदग्राही व्यवहारनय को अभूतार्थ और असत्यार्थ कहकर हेय कहा जाता है; क्योंकि अभेदग्राही निश्चयनय द्रव्य की अखण्डता का पोषक होने से एकता को मजबूत करता है, अनेकता के विकल्पों का शमन करता है और आत्मानुभूति की प्राप्ति का साक्षात् हेतु बनता है, जबकि भेदग्राही व्यवहारनय विकल्पों में ही उलझाये रखता है।

प्रत्येक देश की सर्वोच्चसत्ता का मूलकार्य देश की आन्तरिक अखण्डता कायम रखकर, अन्य देशों से अपने देश की सीमा को सुरक्षित रखना होता

है। देश की सुरक्षा का अर्थ ही यह होता है कि अन्य देशों का हस्तक्षेप अपने देश में नहीं होने देना तथा अपने देश की अखण्डता कायम रखना। सर्वोच्चसत्ताधारी, चाहे वह प्रधानमंत्री हो या राष्ट्रपति, उनका यह कर्त्तव्य है कि वे इस मर्यादा की सुरक्षा करें।

प्रत्येक द्रव्य की सर्वोच्चसत्ता भी वही है, जो द्रव्य की आन्तरिक अखण्डता कायम रखकर अन्य द्रव्यों से उसकी पृथक्ता स्थापित रखे। निज द्रव्य में अन्य द्रव्यों के हस्तक्षेप का निषेध एवं अपनी आन्तरिक अखण्डता (गुणभेदादि का निषेध) ही जिसका कार्य है, वह निश्चयनय ही वस्तुतः नयाधिराज है। यह नयाधिराज ही द्रव्य को सच्ची सुरक्षा और स्वतन्त्रता प्रदान करता है।

प्रत्येक देश की परदेश से भिन्नता और अपने से अभिन्नता, अभेदता, अखण्डता ही सच्ची सुरक्षा है। उसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर से भिन्नता और अपने से अभिन्नता, अखण्डता, अभेदता ही सच्ची सुरक्षा है, शुद्धता है।

जिसप्रकार किसी देश की उक्त सुरक्षा को कायम रखते हुए भी अभेद, अखण्ड देश की सुव्यवस्थित-व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से अनेक खण्डों में विभाजित करना पड़ता है तथा अन्य देशों से भी आवश्यक सम्बन्ध बनाने पड़ते हैं। तदर्थ सर्वोच्चसत्ता प्रशासन चलाने के लिए प्रशासनिक विभाग बनाती है। जैसेः—गृहविभाग और विदेशविभाग आदि। गृहविभाग आन्तरिक अभेद में भेद डालकर अपनी व्यवस्था बनाता है और विदेशविभाग जिनसे देश का कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं, उन देशों से भी व्यवहारिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

उसीप्रकार मूलस्वरूप अर्थात् पर से भिन्नता और अपने से अभिन्नता—अखण्डता को क़ायम रखकर विश्वव्यवस्था को समझने-समझाने के लिए अभेद एकद्रव्य की आन्तरिक संरचना के स्पष्टीकरण के लिए अभेद में भेद किये जाते हैं और विभिन्न द्रव्यों के बीच पारमार्थिक सम्बन्ध न होने पर भी वे सब इस विश्व में एक साथ किसप्रकार रहते हैं, उनमें मात्र एकक्षेत्र में रहने मात्र का ही सम्बन्ध है या अन्यप्रकार से भी वे किसीप्रकार सम्बन्धित हैं, मात्र संयोग है या संश्लेष भी है—आदि प्रश्नों का समाधान करता है व्यवहारनय।

जिसप्रकार एक अखण्ड देश की आन्तरिक व्यवस्था को स्वराष्ट्रमंत्री—गृहमंत्री सँभालता है और दूसरे देशों के सम्बन्धित कार्य को परराष्ट्रमंत्री—विदेशमंत्री देखता है; उसीप्रकार अखण्ड एक द्रव्य में भेद

डालकर समझने-समझाने का कार्य करता है सद्भूतव्यवहारनय और दो भिन्न द्रव्यों के बीच सम्बन्ध बताने का कार्य असद्भूतव्यवहारनय का है।

अखण्डद्रव्य में गुण-गुणी आदि के आधार पर जो भेद बताया जाता है, उसमें भी इसप्रकार का भेद किया जाता है कि यह भेद शुद्धगुण-गुणी आदि में है या अशुद्धगुणगुणी आदि में। यदि शुद्धगुण-गुणी आदि में हुआ तो उसे विषय बनानेवाला नय शुद्धसद्भूतव्यवहारनय कहा जाएगा और यदि अशुद्ध गुण-गुणी आदि में हुआ तो उसे अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय कहा जाएगा।

इसप्रकार सद्भूतव्यवहारनय भी शुद्धसद्भूतव्यवहारनय और अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के भेद से दो प्रकार का हो जाता है, जिन्हें अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और उपचरितसद्भूतव्यवहारनय के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

इसीप्रकार दो द्रव्यों के बीच जो सम्बन्ध बताया जा रहा है, वह संश्लेषसहित है या संश्लेषरहित है? यदि वह संश्लेषसहित हुआ तो अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय होगा और यदि संश्लेषरहित हुआ तो उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की विषय-सीमा में आयेगा।

इसप्रकार अनुपचरित और उपचरित के भेद से असद्भूतव्यवहारनय भी दो प्रकार का हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अलौकिक विश्व की संरचना एवं स्वचालित पूर्णव्यवस्थित-व्यवस्था समझाने के लिये व्यवहारनय और उसके उक्त भेद-प्रभेद सार्थक ही नहीं, आवश्यक भी हैं।

इन नयों की सत्यता-असत्यता वस्तुस्वरूप में विद्यमान व्यवस्था के अनुपात में है और उपयोगिता उक्त वस्तुस्वरूप को समझने-समझाने में है। जितना भेदाभेद वस्तुस्वरूप में है अर्थात् जिस भेदाभेद का वस्तुस्वरूप में जितना वजन है, उतनी ही सत्यता उसे विषय बनानेवाले नय में है। प्रत्येक नयकथन के वजन का अनुपात अर्थात् उसकी विवक्षा जबतक हमारी समझ में स्पष्ट नहीं होगी, तबतक वस्तुस्वरूप भी हमारी समझ से परे ही रहेगा।

उक्त सम्पूर्ण कथन भेद-अभेद की दृष्टि से किया गया है। इसीप्रकार कर्त्ता-कर्म आदि की दृष्टि से भी घटित कर लेना चाहिए।

वजन या बल की बात को हम इसप्रकार समझ सकते हैं:—

जैसे:—किसी भी संस्थान में कार्यरत सभी कर्मचारी यद्यपि कर्मचारी ही हैं, तथापि उनमें चार श्रेणियाँ पायी जाती हैं। उनमें उच्च-अधिकारी प्रथम

श्रेणी में, सामान्य-अधिकारी द्वितीय श्रेणी में, लिपिकवर्ग तृतीय श्रेणी में तथा भृत्यवर्ग चतुर्थ श्रेणी में आते हैं।

यद्यपि वे सभी कर्मचारी एक ही कार्यालय में काम करते हैं, तथापि वे अपनी-अपनी अधिकार-सीमा में ही अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। अपने-अपने अधिकार की सीमा में सभी की बात में वजन होता है, तो भी सभी की बात एक-सी वजनदार नहीं होती। प्रत्येक की बात का वजन उसके अधिकार के वजन के अनुपात में होता है।

भृत्य की बात में भी वजन होता है, पर लिपिक की बात के बराबर नहीं। भृत्य की बात का निषेध लिपिक कर सकता है, पर लिपिक की बात का निषेध भृत्य नहीं कर सकता है। इसीप्रकार लिपिक की बात को सामान्य-अधिकारी काट सकता है, पर अधिकारी की बात को लिपिक नहीं काट सकता। सामान्य-अधिकारी के आदेश को भी उच्च-अधिकारी निरस्त कर सकता है, पर उच्चाधिकारी के आदेश को निरस्त करने का अधिकार उसके अन्तर्गत कार्य करनेवाले किसी भी कर्मचारी को नहीं है; पर मालिक या सर्वोच्च अधिकारी उसकी भी बात को निरस्त कर सकता है। वह सभी की बात को निरस्त कर सकता है, किन्तु उसकी बात को कोई भी व्यक्ति निरस्त नहीं कर सकता। 'उसकी बात को कोई निरस्त नहीं कर सकता है' – इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए, उसकी बात निरस्त नहीं हो सकती। उसकी बात भी निरस्त हो सकती है; पर अपने आप, किसी अन्य के द्वारा नहीं।

यही स्थिति उक्त चार व्यवहारनयों व उनका निषेध करनेवाले निश्चयनय के बारे में भी है। व्यवहारनयों कें संदर्भ में उक्त उदाहरण को वजन की विभिन्नता तक ही सीमित रखना चाहिए, निषेध की सीमा तक नहीं ले जाना चाहिए। निषेध की बात निश्चयनय की सीमा में आती है। यहाँ तो निषेध की बात मात्र वजन का अनुपात समझाने के लिए दी है।

चारों ही व्यवहारनय अपनी-अपनी सीमा में अभेद-अखण्ड वस्तु में भेद करते हैं या भिन्न वस्तुओं में अभेद का उपचार करते हैं। प्रत्येक की बात में वजन भी है, पर सभी की बात एक-सी वजनदार नहीं होती। आशय यह है कि प्रत्येक का कथन अपने-अपने प्रयोजनों की सिद्धि की अपेक्षा सत्यार्थ होता है, तो भी सभी का कथन एक-सा सत्यार्थ नहीं होता। प्रत्येक नयकथन की सत्यार्थता उसके द्वारा प्रतिपादित विषय की सत्यार्थता के अनुपात में ही होती है।

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की बात में भी सत्यार्थता है, वजन है;

असत्यार्थ मानकर उसे ऐसे ही नहीं उड़ाया जा सकता है।

"यह मकान देवदत्त का है। कुम्हार ने घड़ा बनाया है। तीर्थंकर भगवान समवशरण में विराजमान हैं। अज्ञानी पंचेन्द्रियों के विषयों को भोगता है और ज्ञानी मुनिराज उनका त्याग करते हैं।"

उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के उक्त कथनों का भी आधार है। ये सभी कथन सर्वथा असत्य नहीं हैं। लौकिकदृष्टि से देवदत्त मकान का मालिक है ही और कुम्हार का योग और उपयोग घड़ा बनने में निमित्त हुआ ही है। भगवान के समवशरण में विराजमान होने की बात को तो धार्मिक जगत में भी असत्य नहीं माना जाता, क्योंकि उनकी वहाँ उपस्थिति होती ही है। इसीप्रकार पंचेन्द्रिय के विषयों के ग्रहण-त्याग की चर्चा आध्यात्मिक गोष्ठियों में ही हल्के-फुल्के रूप में नहीं, बल्कि बड़ी गम्भीरता से होती है।

ये बातें भी वजनदार हैं, पर उतनी वजनदार नहीं, जितनी अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय की बात होती है। देवदत्त का मकान और देवदत्त का शरीर—इन दो कथनों में वजन का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। मकान और शरीर—दोनों को ही देवदत्त का बताया जा रहा है; पर देवदत्त कहीं जाता है तो मकान साथ नहीं जावेगा, किन्तु शरीर जावेगा। मकान के गिर जाने पर देवदत्त का गिरना अनिवार्य नहीं है, पर शरीर गिरा तो देवदत्त भी गिरा ही समझिये। इस जगत को भी देवदत्त और मकान की भिन्नता जैसी स्पष्ट प्रतिभासित होती है, वैसी देह और देवदत्त में दिखाई नहीं देती। देवदत्त देहमय और देह देवदत्तमय दिखाई देती है।

यद्यपि देवदत्त से देह और मकान दोनों ही भिन्न हैं, पर देवदत्त की जैसी भिन्नता मकान से है, वैसी देह से नहीं। देह संश्लेषसहित संयोग है और मकान संश्लेषरहित संयोग।

इसी अन्तर के आधार पर ही जगत कहता है:— 'मकान गया तो जाने दो, देह है तो मकान तो अनेक हो जायेंगे। 'जान बची तो लाखों पाये' वाली कहावत में 'जान' माने 'देह' ही होता है। 'जान बची' माने देह का संयोग बना रहा तो सब-कुछ हो जावेगा।

इसीलिए 'देहवाला जीव, दश प्राणों से जीवे सो जीव, मूर्तिक जीव, द्रव्यकर्मों व शरीरादि नोकर्मों का कर्त्ता जीव'—ये सभी कथन अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के हैं।

इन दोनों असद्भूतनयों से भी वजनदार बात होतीं है उपचरितसद्भूतव्यवहारनय की, क्योंकि उसमें एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में

सम्बन्धादि व एक द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता दूसरे द्रव्यों को न बताकर एक द्रव्य में ही भेद किया जाता है। जैसे :—मतिज्ञानादि व रागादि को आत्मा का कहना।

मतिज्ञान और रागादि आत्मा की ही अल्पविकसित और विकारी पर्यायें हैं। ये आत्मा में हैं अर्थात् सद्भूत हैं। सद्भूत होने पर भी अविकसित हैं, विकारी हैं, अशुद्ध हैं—इसकारण उपचरित कही गई हैं।

इनकी सत्ता स्वद्रव्य की मर्यादा के भीतर ही है। अतः इनका वजन असद्भूत के दोनों भेदों से अधिक है, पर ये अनुपचरितसद्भूत से कम वजनदार हैं, क्योंकि अनुपचरितसद्भूत में पूर्ण निर्विकारी पर्याय या गुण लिये जाते हैं। जैसे :— केवलज्ञान आत्मा की शुद्ध पर्याय है या ज्ञान आत्मा का गुण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार की बात में भी वजन है और नयकथनों के उक्त क्रम में उत्तरोत्तर अधिक वजन है। इसी का उल्टा प्रयोग करें तो यह भी कहा जा सकता है कि उत्तरोत्तर वजन कम है।

उक्त चारों व्यवहारों से भी अधिक वजन निश्चयनय में होता है। यही कारण है कि उसके सामने इनका वजन काम नहीं करता है और वह इनका निषेध कर देता है।

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है कि एक देश में प्रदेश और विभागों के भेद तो व्यवस्था के लिए किये गये हैं तथा दो देशों के बीच सम्बन्ध भी प्रयोजनवश स्थापित किये गये हैं। बस उनकी मर्यादा इतनी ही है। यदि उन पर अधिक बल दे दिया गया तो देश की एकता व स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है।

उसीप्रकार एक द्रव्य में गुणभेदादि भेद जिस प्रयोजन से किये गये हैं, उसी मर्यादा में उनकी सार्थकता है, वजन है। यदि उन पर आवश्यकता से अधिक बल दिया गया तो द्रव्य की एकता व स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है।

अतः यह सावधानी अपेक्षित है कि उन पर आवश्यकता से अधिक बल न पड़े।

इस बात को अधिक स्पष्टता से इसप्रकार समझ सकते हैं:—

भारत एक सर्वप्रभुता सम्पन्न स्वतन्त्र देश है। प्रशासनिक दृष्टि से अथवा क्षेत्र की दृष्टि से उसका विभाजन उत्तरप्रदेश, गुजरात आदि प्रदेशों में किया गया है तथा कार्यों की दृष्टि से उसे गृहविभाग, सुरक्षाविभाग,

खाद्यविभाग, यातायातविभाग आदि विभागों में भी बाँटा गया है। इसीप्रकार हमारा आत्मा सर्वप्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र द्रव्य है। क्षेत्र की दृष्टि से वह असंख्यातप्रदेशी है तथा गुणधर्मों या शक्तियों की दृष्टि से वह ज्ञानादि अनन्त गुणोंवाला अर्थात् अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है।

उक्त विभाजनों से न तो देश विभक्त होता है और न द्रव्य, क्योंकि विशेष दृष्टिकोण से किया गया उक्त विभाजन एकत्व का विरोधी नहीं होता।

यद्यपि यह बात सत्य है कि राजस्थान गुजरात नहीं है और गुजरात राजस्थान नहीं है, तथापि दोनों भारत अवश्य हैं। भारत सरकार के गृहविभाग, यातायातविभाग, खाद्यविभाग आदि विभागों का कार्यक्षेत्र राजस्थान, गुजरात आदि प्रदेशों सहित सम्पूर्ण भारत है। वे भारत के सभी प्रदेशों में निर्बाधरूप से कार्य कर सकते हैं। इसीप्रकार यद्यपि सभी विभाग स्वतन्त्ररूप से अपना कार्य करते हैं, पर वह स्वतन्त्रता विभाजक नहीं बनती। यह नहीं हो सकता है कि रेलविभाग अनाज न ढोवे और कोई प्रदेश भारतीय रेलों को अपने में प्रवेश ही न करने दें, क्योंकि स्वतन्त्र होते हुए भी वे एक-दूसरे से संयुक्त रहते हैं। इसीप्रकार आत्मद्रव्य के ज्ञानादि अनन्तगुण असंख्यप्रदेशों में सदा सर्वत्र विद्यमान रहते है तथा एक गुण का रूप दूसरे गुण में पाया जाता है।

यद्यपि देश का उक्त विभाजन देश के कर्णधारों के द्वारा ही किया जाता है, तथापि जब प्रान्तीयता सिर उठाने लगती है या कोई विभाग निरंकुश होने लगता है, तो वे ही कर्णधार निर्दयता से उसका निषेध करने लगते हैं। वे पुकार-पुकार कर कहते हैं कि भाई! आप गुजराती या महाराष्ट्री नहीं, आप तो भारतीय हैं भारतीय। यह प्रान्त का भेद व्यवस्था के लिए है; अव्यवस्था के लिए नहीं, लड़ने के लिए नहीं। इस भेद की अपेक्षा तो तबतक ही है, जबतक यह व्यवस्था में सहयोगी हो तथा सीमा के बाहर होने से पूर्व ही इसका निषेध भी आवश्यक है।

इसीप्रकार द्रव्य में प्रदेशभेद या गुणभेद, मुक्तिपथ के कर्णधार तीर्थंकरों, आचार्यों के द्वारा ही द्रव्य की आन्तरिक संरचना समझाने के लिए किए जाते हैं। और जब वह भेद-विवरण अपना काम कर चुकता है, तब वे ही तीर्थंकर या आचार्य उसका निर्दयता से निषेध करने लगते हैं। उनके इन निषेधवचनों या विकल्पों का नाम ही निश्चयनय है। सब विकल्पों का निषेध करनेवाला सर्वाधिक वजनदार यह नयाधिराज निश्चयनय ही है, जो समस्त भेद-विकल्पों का निषेध कर, स्वयं निषिद्ध हो जाता है निरस्त हो जाता है।

निश्चयनय के भेद-प्रभेदों और उनके निषेध की प्रक्रिया तथा नयाधिराज की चर्चा निश्चयनय के प्रकरण में पहले की ही जा चुकी है, अतः वहाँ से जानना चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया में प्रत्येक नयवचन का वजन जानना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। इसे जाने बिना नयकथनों का मर्म समझ पाना संभव नहीं है।

–o–

## देख ! देख !! देख !!!

यदि तुझे अतीन्द्रिय आनन्द एवं अन्तर की सच्ची शान्ति चाहिए तो मेरी ओर क्या देखता है? अपनी ओर देख ! तू स्वयं अनन्त ज्ञान एवं अनन्त आनन्द का पिण्ड परमात्मा है। आज तक तूने ज्ञान और आनन्द की खोज पर में ही की है, पर की खोज में इतना व्यस्त रहा है कि मैं कौन हूं? मैं क्या हूँ?—जानने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। मेरी ओर आँखें फाड़-फाड़कर क्या देख रहा है? अपनी ओर देख। जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है।

यह आत्मा शब्दों से नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्दजाल और वाग्विलास से परे है, यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है। यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है। अतः समस्त पर पदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठने वाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झांक। अन्तर में ही देख ! देख !! देख !!!

**—तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७५-७६**

# व्यवहारनय : कुछ प्रश्नोत्तर

व्यवहारनय और उसके भेद-प्रभेदों की विस्तृत चर्चा के उपरान्त भी कुछ सहज जिज्ञासाएँ शेष रह जाती हैं, जिन्हें यहाँ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से स्पष्ट कर देना समीचीन होगा।

**(१) प्रश्नः**–''एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर किये गये गुणभेदादि भेद दो द्रव्यों के बीच होने वाले भेद के समान अभावरूप न होकर अतद्भावरूप होते हैं।''

–उक्त कथन में समागत अतद्भावरूप अभाव की चर्चा कहीं आगम में भी आती है क्या?

**उत्तरः**–हाँ, हाँ, आती है। प्रवचनसार में इस विषय को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। वहाँ अभाव को स्पष्टरूप से दो प्रकार का बताया गया है:– पृथक्त्वलक्षण और अन्यत्वलक्षण।

इन दोनों प्रकार के अभावों के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाली गाथा इसप्रकार है:–

**''पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।**
**अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ।।**[1]

विभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व है और अतद्भाव अन्यत्व है, क्योंकि जो उस रूप न हो, वह एक कैसे हो सकता है?–ऐसा भगवान महावीर का उपदेश है।''

इस गाथा की संस्कृत टीका में इस बात को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। तथा आगे-पीछे की गाथाओं में भी इससे सम्बन्धित चर्चाएँ हैं, जो मूलतः पठनीय हैं। सबको यहाँ देना सम्भव नहीं है। जिज्ञासु पाठकों से अनुरोध है कि वे उक्त विषय का अध्ययन मूल ग्रंथ में से अवश्य करें।

विषय की स्पष्टता की दृष्टि से सामान्य पाठकों की जानकारी के लिए उक्त गाथा का भावार्थ यहाँ दे देना उचित प्रतीत होता है।

''भिन्नप्रदेशत्व वह पृथक्त्व का लक्षण है और अतद्भाव वह अन्यत्व

---

[1] प्रवचनसार गाथा १०६

का लक्षण है। द्रव्य में और गुण में पृथक्त्व नहीं है, फिर भी अन्यत्व है।

**प्रश्नः–** जो अपृथक् होते हैं, उनमें अन्यत्व कैसे हो सकता है?

उत्तरः–उनमें वस्त्र और शुभ्रता (सफेदी) की भाँति अन्यत्व हो सकता है। वस्त्र के और उसकी शुभ्रता के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं, इसलिए उनमें पृथक्त्व नहीं है। ऐसा होने पर भी शुभ्रता तो मात्र आँखों से ही दिखाई देती है; जीभ, नाक आदि शेष चार इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होती और वस्त्र पाँचों इन्द्रियों से ज्ञात होता है। इसलिए (कथंचित्) वस्त्र वह शुभ्रता नहीं है और शुभ्रता वह वस्त्र नहीं है। यदि ऐसा नहीं हो तो वस्त्र की भाँति शुभ्रता भी जीभ, नाक इत्यादि सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए वस्त्र और शुभ्रता में अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है।

इसीप्रकार द्रव्य में और सत्ता आदि गुणों में अपृथक्त्व होने पर भी अन्यत्व है, क्योंकि द्रव्य के और गुण के प्रदेश अभिन्न होने पर भी द्रव्य में और गुण में संज्ञा-संख्या-लक्षणादि भेद होने से (कथंचित्) द्रव्य गुणरूप नहीं है और गुण द्रव्यरूप नहीं है।[1]"

'अतद्भाव सर्वथा अभावरूप नहीं होता'–इस बात को प्रवचनसार, गाथा १०८ में स्पष्ट किया गया है; जो इसप्रकार है:–

**"जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।**
**एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ।।**

स्वरूप-अपेक्षा से जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह द्रव्य नहीं है–यह अतद्भाव है। सर्वथा अभाव वह अतद्भाव नहीं है–ऐसा वीर भगवान द्वारा कहा गया है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि एक द्रव्य के भीतर किये गये गुण-गुणी आदि भेद दो द्रव्यों के बीच होनेवाले भेद के समान अभावरूप न होकर अतद्भावरूप होते हैं–यह कथन आगमानुसार ही है।

दो द्रव्यों के बीच जो अभाव है, उसे भिन्नत्व या पृथक्त्व कहते हैं तथा एक द्रव्य की मर्यादा के भीतर गुण का गुणी में अभाव या गुणी का गुण में अभाव अथवा एक गुण का दूसरे गुण में अभाव, इत्यादिरूप जो अभाव होता है, उसे अन्यत्व कहते हैं।

अन्य-अन्य होना अन्यत्व है और पृथक्-पृथक् होना पृथक्त्व है। अन्यत्व का विलोम अनन्यत्व है और पृथक्त्व का विलोम अपृथक्त्व है।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा १०६ का भावार्थ

दो द्रव्य परस्पर पृथक्-पृथक् होते हैं, पर एक द्रव्य के दो गुण या गुण-गुणी आदि अन्य-अन्य होते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं, क्योंकि एकद्रव्यरूप होने से वे हैं तो अपृथक् ही।

दो द्रव्य कभी भी अपृथक् नहीं हो सकते। संयोगादि देखकर उनके बीच जो अपृथक्ता (एकता) बताई जाती है, वह आरोपित होती है। अतः उसे विषय बनानेवाले नय भी असद्भूत कहलाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक द्रव्य की पर से पृथक्ता (भिन्नता) और अपने से अपृथक्ता (अभिन्नता, एकता) ही वास्तविक है, वस्तुस्वरूप के अधिक निकट है।

यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द समयसार के आरम्भ में ही एकत्व-विभक्त आत्मा की दुर्लभता बताते हुए अपने सम्पूर्ण वैभव से उसे ही दिखाने ही प्रतिज्ञा करते हैं :–

**"तं एयत्तविहत्त दाएहं अप्पणो सविहवेण।**[1]

मैं उस एकत्व-विभक्त आत्मा को अपने निजवैभव से दिखाता हूँ।"

पर से विभक्त और निज में एकत्व को प्राप्त आत्मा ही परमपदार्थ है, परमार्थ है। आत्मा का पर से एकत्व असद्भूतव्यवहारनय का विषय है, अपने में ही अन्यत्व सद्भूतव्यवहारनय की सीमा में आता है। अतः निज से एकत्व और पर से विभक्त आत्मा निश्चयनय का विषय है।

सद्भूत और असद्भूत दोनों ही व्यवहारनय हेय हैं, क्योंकि सद्भूतव्यवहारनय अतद्भाव के आधार पर द्रव्य की एकता को खण्डित करता प्रतीत होता है और असद्भूतव्यवहारनय उपचार के सहारे विभक्तता को भंजित करता दिखाई देता है।

यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द समयसार की पाँचवी गाथा में एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा करने के तत्काल बाद ही छठवीं और सातवीं गाथा में चारों ही प्रकार के व्यवहार का निषेध करते दिखाई देते हैं।

**(२) प्रश्नः–**'पर से विभक्त और निज में एकत्व को प्राप्त आत्मा ही परमपदार्थ है, परमार्थ है; वही निश्चयनय का विषय भी है। उसे ही बताने की प्रतिज्ञा सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द समयसार के आरम्भ में करते हैं। वह ही एक सार है और सब असार है।

---

[1] समयसार, गाथा ५

इस एक आत्मा के ही अवलोकन का नाम सम्यग्दर्शन है, इसे ही जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और इसी में जम जाने, रम जाने का नाम सम्यकचारित्र है।"

—एक ओर तो आप ऐसा कहते हैं और दूसरी ओर यह बावदूक व्यवहारनय आत्मा के इसी एकत्व-विभक्त स्वरूप के विरुद्ध बात करता है, फिर भी उसे इतना विस्तार क्यों दिया जा रहा है? उसे बताया ही क्यों जा रहा है? जिस रास्ते जाना नहीं, उसे जानने से भी क्या लाभ है?

**उत्तर:**—भाई ! जिस रास्ते जाना नहीं है, उस रास्ते को भी जानना आवश्यक है; क्योंकि उस रास्ते पर जाने से आनेवाली विपत्तियों के सम्यग्ज्ञान बिना उधर को भटक जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। उस खतरनाक रास्ते पर कहीं हम चले न जावें—इसके लिए उसके सम्यक् स्वरूप को जानना अति आवश्यक है।

सम्यक् स्थिति जान लेने के बाद एक तो हम उधर जावेंगे ही नहीं; कदाचित् प्रयोजनवशात् जाना भी पड़ा, तो भटकेंगे नहीं। यह दुनियाँ व्यवहार में कहीं भटक न जाय, व्यवहार में ही उलझकर न रह जाय-इसके लिए व्यवहारनय का वास्तविक स्वरूप जान लेना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

दूसरे व्यवहारनय का विषय भी सर्वथा अभावरूप नहीं है। वह है तो अवश्य, पर बात मात्र इतनी ही है कि वह जमने लायक नहीं है, रमने लायक नहीं। व्यवहार का विषय श्रद्धेय नहीं है, ध्येय नहीं है, पर ज्ञेय तो है ही। तुम उसे जानने से ही क्यों इन्कार करना चाहते हो? जाना तो गुणों और दोषों-दोनों को ही जाता है।

क्योंकि—

**"बिन जाने तैं दोष-गुणनि कौ कैसे तजिये गहिये।[१]"**

यद्यपि व्यवहारनय की स्थिति पर अबतक युक्ति, आगम और उदाहरणों के माध्यम से पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, तथापि उक्त प्रश्न के सन्दर्भ में व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों के कथन की उपयोगिता पर कुछ भी न कहना ठीक न होगा।

निश्चयनय के विषयभूत जिस अभेद अखण्ड आत्मा में आप रमना चाहते हैं; जबतक उसका आन्तरिक वैभव आपकी समझ में नहीं आएगा, तबतक आप उसके प्रति महिमावंत भी कैसे होंगे, उसके प्रति सर्वस्व समर्पण के लिए कमर कस के तैयार भी कैसे होंगे?

एक आत्मा...आत्मा...कहते रहने से तो किसी की समझ में कुछ आ नहीं पाता। अतः उसकी प्रभुता का परिचय विस्तार से दिया जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

"आत्मा अनन्त सामर्थ्य का धनी है, अनन्तान्त गुणों का गोदाम है, अनन्तसामर्थ्यवाली अनन्त-अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है, शान्ति का सागर है, आनन्द का कन्द है, ज्ञान का घनपिण्ड है, प्रभु है, परमात्मा है, एकसमय में लोकालोक को देखे-जाने—ऐसी सामर्थ्य का धनी है अर्थात् सर्वदर्शी और सर्वज्ञस्वभावी है।"

—इसप्रकार शुद्धसद्भूतव्यवहारनय आत्मा में अनुपचरितरूप से विद्यमान शक्तियों और पूर्णपावन व्यक्तियों का ही तो परिचय कराता है। आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि गुण और केवलज्ञानादि पर्यायें कोई उपचरित नहीं हैं; वास्तविक हैं, शुद्ध हैं। बस बात इतनी सी ही तो है कि कथन में जिसप्रकार का भेद प्रदर्शित होता है, वे उसप्रकार भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अपितु अभेद-अखण्डरूप से विद्यमान है। उनमें परस्पर भेद का सर्वथा अभाव हो-ऐसी भी बात नहीं है। अतद्भावरूप भेद तो उनमें भी है ही; परन्तु उनमें वैसा भेद नहीं है, जैसा कि दो द्रव्यों के बीच पाया जाता है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि इन भेदों में ही उलझे रहने से अभेद अखण्ड आत्मा का अनुभव नहीं होता, अतः इनका निषेध भी आवश्यक है; इसलिए प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर उसका निषेध भी निर्दयता से कर दिया जाता है।

लोक में भी तो हम जबतक किसी वस्तु की वास्तविक विशेषताओं को नहीं जान लेते, तबतक उसके प्रति आकर्षित नहीं होते। हमारी रुचि का ढलान आत्मा की ओर हो—इसके लिए आवश्यक है कि हम उसकी वास्तविक विशेषताओं से परिचित हों। परिचय की प्राप्ति के लिए प्रतिपादन आवश्यक है और प्रतिपादन करना व्यवहारनय का कार्य है।

इसीप्रकार अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय आत्मा की अपूर्ण और विकृत पर्यायों का ज्ञान कराता है। आत्मा की वर्तमान अवस्था में रागादि विकार और मतिज्ञानादिरूप ज्ञान की अपूर्ण—अल्पविकसित दशा भी है ही, उसे जानना भी आवश्यक है। यदि उसे जानेंगे नहीं तो उसका अभाव करने का यत्न ही क्यों करेंगे?

इसप्रकार शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत—इन दोनों ही व्यवहारनयों का प्रयोजन स्वभाव की सामर्थ्य और वर्तमान पर्याय की पामरता का ज्ञान कराकर, दृष्टि को पर और पर्याय से हटाकर स्वभाव की ओर ले जाना है।

(३) **प्रश्नः**—शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत व्यवहारनयों की बात तो ठीक है, क्योंकि वे तो आत्मा के अंतरंग वैभव का ही परिचय कराते हैं, आत्मा के ही गीत गा-गाकर आत्मा की ओर आकर्षित करते हैं, आत्मा की रुचि उत्पन्न कराते हैं। स्वभाव एवं स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली स्वभावपर्यायों की सामर्थ्य से परिचित कराकर, जहाँ एक ओर शुद्धसद्भूतव्यवहारनय हीन-भावना से मुक्ति दिलाकर आत्मगौरव उत्पन्न कराता है, वहीं दूसरी ओर अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय अपनी वर्तमान पर्यायगत कमजोरी का ज्ञान कराके उससे मुक्त होने की प्रेरणा देता है।

अतः उनकी चर्चा तो ठीक है; परन्तु शरीर, मकानादि जैसे परपदार्थों से भी आत्मा को अभेद बताने वाले असद्भूतव्यवहारनय व उसके भेद-प्रभेदों में उलझने से क्या लाभ है?

**उत्तरः**—उलझना तो किसी भी व्यवहार में नहीं है। बात उलझने की नहीं, समझने की है। उलझने के नाम पर समझने से भी इन्कार करना तो उचित प्रतीत नहीं होता।

विश्व में जो अनन्तानन्त पदार्थ हैं, उनमें से एकमात्र निज को छोड़कर सभी जड़ और चेतन पदार्थ पर ही हैं। उन सभी परपदार्थों में ज्ञानी आत्मा का व्यवहार और अज्ञानी आत्मा का अहं और ममत्व एक-सा देखने में नहीं आता। विभिन्न परपदार्थों के साथ यह आत्मा विभिन्न प्रकार के संबंध स्थापित करता दिखाई देता है।

उक्त संबंधों की निकटता और दूरी के आधार पर अनुपचरित और उपचरित के रूप में असद्भूतव्यवहारनय का वर्गीकरण किया जाता है।

संयोगी परपदार्थों में जो अत्यन्त समीप हैं अर्थात् जिनका आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहसंबंध है, ऐसे शरीरादि का संयोग अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है; तथा शरीरादि की अपेक्षा जो दूरवर्ती हैं, ऐसे मकानादि के संयोगों को विषय बनाना उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का काम है।

यदि ज्ञेय-ज्ञायकसंबंध को भी लें तो लोकालोक को जानना भी अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का विषय बन जायगा।

इसप्रकार ये नय भी सर्वथा अनुपयोगी नहीं हैं, इनसे भी कुछ न कुछ वस्तुस्थिति स्पष्ट होती ही है। ये नय आत्मा का परपदार्थों के साथ किसप्रकार का संबंध है, इस सत्य का उद्घाटन करते हैं।

इन नयों से सर्वथा इन्कार करने पर भी अनेक आपत्तियाँ खड़ी हो

जावेंगी। जैसे :–

१. अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत देही (शरीरस्थ आत्मा) को जीव नहीं मानने से त्रस-स्थावर जीवों को भी भस्म के समान मसल देने पर भी हिंसा नहीं होगी। ऐसा होने पर त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के त्यागरूप अहिंसाणुव्रत और अहिंसामहाव्रत भी काल्पनिक ठहरेंगे।

इसीप्रकार तीर्थंकर भगवान की सर्वज्ञता भी संकट में पड़ जावेगी, क्योंकि केवली भगवान पर को अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से ही जानते हैं।

२. उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से इन्कार करने पर जिन-मन्दिर और शिव-मन्दिर का भेद संभव नहीं हो सकेगा तथा माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि एवं नगर व देशादि को अपना कहने का व्यवहार भी संभव न होगा। ऐसी स्थिति में स्वस्त्री-परस्त्री, स्वगृह-परगृह एवं स्वदेश-परदेश के विभाग के बिना लौकिक मर्यादायें कैसे निभेंगी?

३. उपचरित और अनुपचरित–दोनों ही प्रकार के असद्भूत-व्यवहारनयों से इन्कार करने पर समस्त जिनवाणी के व्याघात का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि जिनवाणी में तो उनका कथन सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश के रूप में आया है।

अतः इनकी सत्ता, उपयोगिता और सम्यक्पने से इन्कार किया जाना संभव नहीं है।

**(४) प्रश्नः**–असद्भूतव्यवहारनय के सम्यक्पने से सर्वथा इन्कार करने पर समस्त जिनवाणी के व्याघात का प्रसंग उपस्थित होगा, अणुव्रत-महाव्रत काल्पनिक ठहरेंगे और सदाचार सम्बन्धी समस्त लौकिक मर्यादाएँ संकट में पड़ जायेंगी–यह बात जरा विस्तार से समझाइये।

**उत्तरः**–स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा, कुटुम्ब-परिवार, जाति व समाज तथा ग्राम, नगर व देश को अपना कहनेवाला उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय सदाचार की सिद्धि करनेवाला नय है और शरीरधारी प्राणियों को ही जीव कहनेवाला अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय अहिंसात्मक आचरण की सिद्धि करनेवाला नय है।

उक्त दोनों ही नय भेदविज्ञान की सिद्धि का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। क्यों और कैसे?

इस लोक में अनन्तानन्त पदार्थ हैं। उक्त अनन्तानन्त पदार्थों में से जो परपदार्थ हमारे पुण्य-पापरूप कर्मोदय के निमित्त से हमें संयोगरूप से प्राप्त

होते हैं, उन्हें नोकर्म कहा जाता है। उक्त नोकर्मों मे से कुछ पदार्थ अपने आत्मा से एकक्षेत्रावगाह रूप से संश्लिष्ट होते हैं:—जैसे शरीर; और कुछ अपने आत्मा से असंश्लिष्ट होते हैं:—जैसे स्त्री-पुत्र, मकान-जायदाद, रुपया-पैसा, देश व समाज आदि।

असंश्लिष्ट पदार्थों को अपना कहनेवाला नय उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय है और संश्लिष्ट पदार्थों को अपना कहनेवाला नय अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है।

इसप्रकार यह असद्भूतव्यवहारनय लोक के अनन्तानन्त पदार्थों में से मात्र उन्हीं परपदार्थों को अपना कहता है, जो नोकर्म रूप से जीव से संबंधित होते हैं; शेष पदार्थों को स्पष्ट रूप से पर घोषित करता है। शेष पदार्थों से आत्मा को भिन्न बतानेवाला होने से यह नय भेदविज्ञान की सिद्धि करनेवाला है, क्योंकि अनन्तानन्त समस्त पदार्थों में से अपने आत्मा को खोज निकालने के कार्य में इसने इतना तो बता ही दिया है कि जो आत्मा से नोकर्म रूप से भी संबंधित नहीं हैं, उन परपदार्थों में आत्मा को खोजने की आवश्यकता नहीं है; अतः आत्मा के शोधार्थी को उन पर से तो दृष्टि हटा ही लेनी चाहिए।

नोकर्म में भी देह को ही अपना कहनेवाला अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय तो आत्मा की खोज को देह तक ही सीमित कर देनेवाला होने से आत्मार्थियों के, आत्मशोधार्थियों के काम को और भी अधिक सुगम कर देता है, क्योंकि अब तो उसे आत्मा की खोज के लिए दुनिया में अन्यत्र कहीं भी न भटकना होगा। बस, अब तो देहदेवल में विराजमान निज भगवान आत्मा की खोज के लिए देह के भीतर ही झाँकना है।

किसी के यह पूछने पर कि हीरा कहाँ उपलब्ध होगा, यदि उत्तर दिया जाय कि पृथ्वी के भीतर, तो उत्तर सही होने पर भी हीरे की प्राप्ति असंभव है, क्योंकि हीरे की प्राप्ति के लिए समस्त पृथ्वी का खोदना तो संभव नहीं है; पर यदि पृथ्वी के उस भाग का संकेत कर दिया जाय, जहाँ हीरा विद्यमान हो तो काम बहुत कुछ सरल हो जाता है; उसीप्रकार आत्मा कहाँ उपलब्ध होगा? इसके उत्तर में यह कहा जाय कि लोक में, तो उत्तर सही होने पर भी आत्मा की प्राप्ति संभव नहीं है, पर जब यह असद्भूतव्यवहारनय यह बता देता है कि नोकर्म में या देह में ही भगवान आत्मा विद्यमान है, तो काम बहुत कुछ सरल हो जाता है, सहज हो जाता है।

इसप्रकार नोकर्म या देह में आत्मा की सत्ता बतानेवाला यह नय भेदविज्ञान का साधक ही है, बाधक नहीं; आत्मखोजियों के लिए उपयोगी ही

है, निरर्थक नहीं।

लोक में अपने आत्मा से भिन्न जितने भी परपदार्थ हैं, उनमें अपने और पराये का भेद डालनेवाले इन नयों के आधार पर ही स्वस्त्री-परस्त्री, स्वधन-परधन, स्वगृह-परगृह, स्वजाति-परजाति, स्वदेश-परदेश एवं स्वदेह-परदेह आदि के भेद पड़ते हैं। यदि इन नयों की सत्यता से सर्वथा इन्कार किया जायगा तो फिर परपदार्थों में इसप्रकार के भेद डालना संभव नहीं होगा।

इसप्रकार के भेद डाले बिना सदाचार-दुराचार एवं द्रव्यहिंसा को परिभाषित करना संभव न होगा; क्योंकि परस्त्री की लंपटता ही व्यभिचार है, बिना अनुमति के परधन का ग्रहण ही चोरी है तथा देहरूप प्राणों का घात ही द्रव्यहिंसा है। जब परपदार्थों में स्व-पर का विभाग ही नहीं होगा, ऐसी स्थिति में गृहस्थधर्म और अणुव्रतों की व्यवस्था कैसे बनेगी? क्योंकि अणुव्रतों के पालन में गृहस्थ धर्मानुकूल—विवाहित स्वस्त्री को छोड़कर अन्य समस्त परस्त्रियों के सेवन का त्यागी होता है, न्यायोपात्त धन को परिमाणपूर्वक रखकर शेष धन का त्यागी होता है एवं त्रस जीवों की हिंसा का भी त्यागी होता है।

इसीप्रकार ईर्यासमिति आदि समितियों में भी जीवों के प्राणों की रक्षा ही विवक्षित होती है। शरीरधारी प्राणियों के शरीरादि के घात को जीवहिंसा कहनेवाले अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को कथंचित् भी सत्यार्थ स्वीकार नहीं किया जाएगा तो फिर मुनिधर्म के सन्दर्भ में प्रतिपादित ईर्यादि समितियों की चर्चा भी असंगत हो जावेगी।

अणुव्रतादि रूप गृहस्थधर्म एवं महाव्रतादिरूप मुनिधर्म के प्रतिपादक चरणानुयोग का मूल आधार एकप्रकार से यह असद्भूत व्यवहारनय ही है।

यद्यपि परमार्थ तो यही कहता है कि स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद, नगर और देश अपने नहीं हैं; शरीर भी अपना नहीं है। गहराई से विचार करने पर यह बात पूर्णतः सत्य भी प्रतीत होती है, तथापि प्रथमानुयोग के शास्त्रों में तीर्थंकरों के भी स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद एवं नगर-देशादि बताये गये हैं। चक्रवर्तियों को छहखण्ड की विभूति का स्वामी जिनागम में बताया गया है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को अयोध्यापति राजा नाभिराय एवं मरुदेवी का पुत्र, नन्दा-सुनन्दा का पति, भरत-चक्रवर्ती और बाहुबली आदि का पिता तथा अयोध्या का अधिपति कहना उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का ही

प्रतिपादन है।

इसीतरह उन्हें पाँच सौ धनुष की कंचनवर्णी कायावाला वज्रवृषभनाराचसंहनन एवं समचतुरस्रसंस्थानवाला कहना अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का कथन है।

इन दोनों ही प्रकार के असद्भूतव्यवहारनयों को सर्वथा अस्वीकार करने पर प्रथमानुयोग के सभी कथनों पर पानी फिर जायगा; एकप्रकार से हमारा पौराणिक इतिहास ही समाप्त हो जायगा।

इसीप्रकार संयोग और संयोगीभावों (मोह-राग-द्वेष) का कथन करनेवाले करणानुयोग के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए; क्योंकि संयोग और संयोगीभावों का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता यह भगवान आत्मा व्यवहारनय से ही कहा जाता है। असद्भूतव्यवहारनय से संयोगों का और उपचरित सद्भूतव्यवहारनय से संयोगीभावों का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता कहा गया है।

इसप्रकार इन नयों को सर्वथा अस्वीकार करने से समस्त जिनागम के व्याघात का प्रसंग उपस्थित होगा, अणुव्रत-महाव्रत काल्पनिक ठहरेंगे और समस्त लौकिक मर्यादायें संकट में पड़ जावेंगी।

(५) **प्रश्नः**—जिनागम के व्याघात की बात एवं अणुव्रत-महाव्रत. काल्पनिक ठहरने की बात तो ठीक, पर लौकिक मर्यादायें किसप्रकार संकट में पड़ेंगी?

**उत्तरः**—जब स्वस्त्री और परस्त्री का भेद नहीं रहेगा तब या तो हम सभी से स्वस्त्री के समान व्यवहार करेंगे या फिर परस्त्री के समान। दोनों ही स्थितियों में व्यावहारिक मर्यादायें संभव न रह पावेंगी; क्योंकि सभी स्त्रियों में स्वस्त्रीवत् व्यवहार करने पर हमारी स्थिति पशुवत् हो जावेगी; माँ, बहिन, पुत्री और पत्नी का भेद ही समाप्त हो जावेगा — ऐसी स्थिति में कौन किसकी संतान है — यह निश्चय न हो पाने के कारण पिता-पुत्र का व्यवहार असंभव हो जावेगा। इसप्रकार कुल, गोत्र, जाति आदि सभी व्यावहारिक मर्यादाएँ लुप्त हो जावेंगी, जो शायद लोक में किसी को भी इष्ट न होगा।

इससे बचने के लिए यदि आप यह कहें कि हम सब से स्वस्त्रीवत् व्यवहार न करके, सभी से परस्त्रीवत् ही व्यवहार करेंगे, क्योंकि वे पर ही तो हैं। पर इससे भी समस्या का समाधान नहीं होगा, फिर तो सभी को पूर्ण ब्रह्मचारी ही हो जाना होगा, क्योंकि स्वस्त्री तो कोई होगी नहीं और परस्त्री-सेवन आगमसंमत नहीं, नैतिक भी नहीं है। यदि आप कहें कि इसमें क्या आपत्ति है? सभी ब्रह्मचारी हो जावें-इसमें क्या दिक्कत है?

दिक्कत तो कुछ नहीं, पर असंभव अवश्य है। दूसरी बात यह भी तो है कि फिर तीर्थंकरों का भी जन्म कैसे होगा? इसमें तो लौकिक मर्यादायें ही नहीं, लोक का क्रम संकटग्रस्त हो जावेगा।

इसीप्रकार स्वधन-परधन के विभाग के अस्त हो जाने पर सभ्यता का विकासक्रम ही समाप्त हो जावेगा; क्योंकि जब कोई मकान-जायदाद हमारी होगी ही नहीं तो हम उसका निर्माण ही क्यों करेंगे? पशुओं के समान ही छीनाझपटी आरंभ हो जावेगी। स्वगृह के समान ही सभी घरों में निःशंक प्रवेश करने पर, स्वजेब के समान ही परजेब में निःशंक हाथ डालने पर हमारी जो दशा होगी, उसकी कल्पना भी आसानी से की जा सकती है।

स्वघर और परघर, स्वस्त्री और परस्त्री का भेद मात्र लौकिक ही नहीं है; अपितु इसका धार्मिक आधार भी है, नैतिक आधार भी है। अतः धार्मिक और नैतिक जीवन के लिए परपदार्थों में भी अपने-पराये का भेद डालनेवाले इन नयों को स्वीकार करना न्यायसंगत है, आगमसंमत है।

बिना नैतिक और धार्मिक जीवन के आध्यात्मिक साधना संभव नहीं है, यही कारण है कि आध्यात्मिक नयों में असद्भूतव्यवहारनय को भी स्थान प्राप्त है।

समयसार में भी शिष्य ने इसीप्रकार का प्रश्न उठाया है, जिसका उत्तर आचार्यदेव ने यही दिया है कि तुम नयविभाग को भी नहीं जानते, इसीलिए इसप्रकार का प्रश्न करते हो।

'यह आत्मा कबतक अज्ञानी रहेगा'—इसप्रकार के प्रश्न उपस्थित होने पर आचार्यदेव ने कहा कि 'जबतक यह आत्मा कर्म और नोकर्म को अपना मानता रहेगा, तबतक अज्ञानी रहेगा'।

नोकर्म का अर्थ स्पष्ट किया ही जा चुका है कि कर्म के उदय में प्राप्त होनेवाले देहादि व स्त्री-पुत्रादि संयोगों को नोकर्म कहते हैं। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि जबतक यह आत्मा देहादि व स्त्री-पुत्रादि को अपना मानता रहेगा, तबतक अज्ञानी रहेगा।

ऐसी स्थिति में शिष्य प्रश्न करता है कि यदि देह को आत्मा नहीं मानेंगे तो तीर्थंकरों की देहादि की विशेषता को आधार बनाकर ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा जो स्तुति की जाती है, वह सभी मिथ्या सिद्ध होगी; अतः यही मानना उचित है कि देह ही आत्मा है। इसी का उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि

---

१. समयसार, गाथा १३ से ३०, एवं इनकी आत्मख्याति टीका।

तुम नयविभाग को नहीं जानते हो, इसलिए ऐसी बात करते हो। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय से देह और आत्मा के संयोग को जीव कहा जाता है, उसी के आधार पर तीर्थंकरों की स्तुति देहादिक गुणों को आधार बनाकर की जाती है, अतः वह स्तुति सर्वथा मिथ्या नहीं है; जिस व्यवहारनय से देह और आत्मा एक हैं, उसी से वह स्तुति भी सत्य है, उचित है।

तीर्थंकरों की देह के गुणों को आधार बनाकर की गई स्तुति अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से एवं उनकी बाह्य समवशरणादि विभूति के आधार पर की गई स्तुति उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय से की गई स्तुति है। इसप्रकार की स्तुतियों से जिनागम भरा पड़ा है। भगवान की स्तुति में जो अष्ट प्रतिहार्यों का वर्णन होता है, वह सभी उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का ही विषय है।

अतः यदि इन नयों को कथंचित् भी सत्यार्थ स्वीकार नहीं करेंगे तो फिर समन्तभद्रादि एवं मानतुंगादि आचार्यों द्वारा रचित स्तुति-साहित्य पर भी प्रश्नचिह्न लग जावेगा।

अतः यह ठीक है कि इन उपचरित और अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनयों की सत्ता और सम्यक्पने से इन्कार किया जाना संभव नहीं है, उचित भी नहीं है, पर इनमें ही उलझे रहना भी ठीक नहीं है, इसीलिए इनका स्थान-स्थान पर निषेध भी किया गया है।

(६) **प्रश्नः**—यदि ये नय भी सम्यक् हैं तो फिर इनमें उलझना भी क्यों नहीं?

**उत्तरः**—उलझना तो कहीं भी अच्छा नहीं होता; न मिथ्या में, न सम्यक् में। जिसप्रकार लोक में यह कहावत है कि 'सुनना सबकी, करना मनकी', उसीप्रकार अध्यात्म का मार्ग है कि 'समझना सब, जमना स्वभाव में'। अतः व्यवहारनय और उसका विषय जानने के लिए प्रयोजनवान है; जमने के लिए नहीं, रमने के लिए भी नहीं।

सम्यक् तो निज और पर सभी हो सकते हैं; पर सभी ध्येय तो नहीं हो सकते, श्रद्धेय तो नहीं हो सकते। श्रद्धेय और ध्येय तो निजस्वभाव ही होगा। उसे छोड़कर सम्पूर्ण जगत ज्ञेय है, मात्र ज्ञेय; ध्येय नहीं, श्रद्धेय नहीं। आत्मा ज्ञेय भी है, ध्येय भी है, श्रद्धेय भी है। अतः मात्र वही निश्चय है, निश्चयनय का विषय है, उपादेय है। शेष सब व्यवहार हैं, व्यवहारनय के विषय हैं; अतः ज्ञेय हैं, पर उपादेय नहीं।

उक्त सम्पूर्ण कथन का निष्कर्ष मात्र इतना ही है कि व्यवहारनय और

उसका विषय जैसा है, वैसा मात्र जान लेना चाहिए; क्योंकि उसकी भी जगत में सत्ता है, उससे इन्कार करना उचित नहीं है, सत्य भी नहीं है।

इससे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यवहारनयों ने भी आत्मा का ही विशेष विस्तार से कथन किया है, आत्मा के ही विशेषों का कथन किया है, किसी अन्य का नहीं।

यद्यपि रत्नत्रयरूप धर्म की प्राप्ति सामान्य के आश्रय से ही होती है, विशेष के आश्रय से नहीं; तथापि–

"**सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।**

सामान्य प्रतिपादन से विशेष प्रतिपादन बलवान होता है।"

पर यह सब जानने के लिए ही है। व्यवहार द्वारा प्रतिपादित विशेषों को जानकर, पश्चात् उन्हें गौणकर निश्चयनय के विषयभूत सामान्य में अहं स्थापित करना, स्थिर होना इष्ट है, परम इष्ट है। यही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं।

(७) **प्रश्न** :–शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत व्यवहारनयों के प्रयोग भी विभिन्नता के लिए होते हैं क्या?

**उत्तर**:– हाँ, हाँ, क्यों नहीं? कभी गुण-गुणी के भेद को लेकर, कभी पर्याय-पर्यायी के भेद को लेकर आदि अनेक प्रकार के प्रयोग आगम में पाये जाते हैं, इन सबका बारीकी से अध्ययन किया जाना आवश्यक है. अन्यथा कुछ समझ में नहीं आवेगा।

अधिक स्पष्टता के लिए नयदर्पण का निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य है:–

"सामान्यद्रव्य में अथवा शुद्धद्रव्य में गुण-गुणी व पर्याय-पर्यायी का भेदकथन करनेवाला शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है। वहाँ गुण तो त्रिकालीसामान्यभाव होने के कारण शुद्धता व अशुद्धता से निरपेक्ष शुद्ध ही होता है, जैसे ज्ञानगुणसामान्य। परन्तु पर्याय शुद्ध व अशुद्ध – दोनों प्रकार की होती है। इन दोनों में से यहाँ शुद्धसद्भूतव्यवहार के द्वारा केवल शुद्धपर्याय का ही ग्रहण किया जाता है। अशुद्धपर्याय का ग्रहण करना अशुद्धसद्भूतव्यवहार का काम है।

शुद्धपर्याय भी दो प्रकार की है:– सामान्य व विशेष। प्रतिक्षणवर्ती षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप सूक्ष्म-अर्थपर्याय तो सामान्यशुद्धपर्याय है और क्षायिकभाव विशेषशुद्धपर्याय है, जैसे केवलज्ञान।

सामान्यद्रव्य में तो सामान्यगुण व गुणी का अथवा सामान्यशुद्धपर्याय व पर्यायी का अथवा विशेषशुद्धपर्याय व पर्यायी का – ये तीनों ही भेद देखे जाने

संभव हैं। परन्तु शुद्धद्रव्य में अर्थात् शुद्धद्रव्यपर्याय में केवल विशेषशुद्धपर्याय व पर्यायी का ही भेद देखा जा सकता है, क्योंकि शुद्धद्रव्यपर्याय में त्रिकालीसामान्यद्रव्य के अथवा सामान्यपर्याय के दर्शन असंभव हैं।

जीव ज्ञानवान है या षट्गुणी हानिवृद्धिरूप स्वाभाविक सामान्यपर्यायवाला है—ऐसा कहना द्रव्यसामान्य में गुण-गुणी व पर्याय-पर्यायी का भेदकथन है।

जीव केवलज्ञानदर्शनवाला है या वीतरागतावाला है-यह द्रव्यसामान्य में शुद्धगुण-शुद्धगुणी व शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायी का भेदकथन है।

सिद्धभगवान केवलज्ञान व केवलदर्शनवाले हैं या वीतरागतावाले हैं यह शुद्धद्रव्य या शुद्धद्रव्यपर्यायी में शुद्धगुण-शुद्धगुणी व शुद्धपर्याय-शुद्धपर्यायी का भेदकथन है।

ये सभी शुद्धसद्भूतव्यवहारनय के उदाहरण हैं। इसे अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय भी कहते हैं, क्योंकि गुणसामान्य तो परसंयोग से रहित होने के कारण तथा क्षायिकभाव संयोग के अभावपूर्वक होने के कारण अथवा स्वभाव के अनुरूप होने के कारण अनुपचरित कहे जाने युक्त हैं।[1]

शुद्धसद्भूतव्यवहारनयवत् ही अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय भी समझना। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ सामान्यगुण व पर्यायरूप स्वभावों की अपेक्षा भेद डाला जाना संभव नहीं है, क्योंकि वे अशुद्ध नहीं होते।

द्रव्यसामान्य में अथवा अशुद्धद्रव्यपर्यायरूप अशुद्धद्रव्य में अशुद्धगुणों व अशुद्धपर्यायों के आधार पर भेदोपचार द्वारा गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी लक्षण-लक्ष्य आदिरूप द्वैत उत्पन्न करना अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

अशुद्धगुण व पर्यायें औदयिक भावरूप होते हैं। जैसेः—ज्ञानगुण की मतिज्ञानादि पर्यायें, चारित्रगुण की राग-द्वेषादि पर्यायें तथा वेदनगुण की विषयजनित सुख-दुख आदि पर्यायें।

'जीवसामान्य मतिज्ञानवाला है या राग-द्वेषादिवाला है।'—ये द्रव्यसामान्य की अपेक्षा अशुद्धसद्भूतव्यवहार के उदाहरण हैं।

'संसारी जीव मतिज्ञानवाला है या राग-द्वेषादिवाला है।'—ये द्रव्यपर्याय की अपेक्षा अशुद्धसद्भूतव्यवहार के उदाहरण हैं।

इसे उपचरितसद्भूत भी कहते हैं, क्योंकि परसंयोगी वैभाविक

---

[1] नयदर्पण पृष्ठ [illegible]

औदयिक अशुद्धभावों का द्रव्य के साथ स्थायी संबंध नहीं है, न उसके स्वभाव से उनका मेल खाता है; अतः वे उपचरितभाव कहे जाने योग्य हैं।[1]

इसप्रकार हम देखते हैं कि शुद्धसद्भूत और अशुद्धसद्भूत व्यवहारनयों के विविध प्रयोग जिनवाणी में मिलते हैं। पंचाध्यायी में समागत प्रयोगों की तो अभी चर्चा ही नहीं की गई है।

(८) **प्रश्नः**—सद्भूतव्यवहारनय के समान असद्भूतव्यवहारनय के प्रयोगों में भी विभिन्नता पाई जाती होगी?

**उत्तरः**—असद्भूतव्यवहारनय के प्रयोगों में तो और भी अधिक विविधता और विचित्रता पायी जाती है। इस विषय को दृष्टि में रखकर जिनागम का जितनी गहराई से अध्ययन करो, नयचक्र की गंभीरता उतनी ही अधिक भासित होती है। जितना ज्ञान में आता है, उतना कहने में नहीं आता और जितना कहने में आता है, लिखने में उतना भी नहीं आता। कहीं विषय की जटिलता और कहीं विस्तार का भय लेखनी को अवरुद्ध करता है।

नयप्रयोगों की विविधता और विचित्रता की सर्वांगीण जानकारी के लिए तो आपको परमागमरूपी सागर का ही मंथन करना होगा, तथापि यहाँ असद्भूतव्यवहारनय के सन्दर्भ में कुछ भी न कहना संगत न होगा।

असद्भूतव्यवहारनय का क्षेत्र बहुत बड़ा है, क्योंकि उसका विषय विभिन्न द्रव्यों के बीच विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर एकत्व का उपचार करना है। एक तो द्रव्य ही अनन्तानन्त हैं, और उनमें जिन सम्बन्धों के आधार पर एकत्व या कर्तृत्वादि का उपचार किया जाता है, वे सम्बन्ध भी अनेक प्रकार के होते हैं। यही कारण है कि इसका विषय असीमित है।

जब विश्व के अनन्तानन्त द्रव्यों में से किन्हीं दो या दो से भी अधिक द्रव्यों के बीच होनेवाले सम्बन्धों के बारे में विचार करते हैं, तो अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। जैसे कि वे द्रव्य एक ही जाति के हैं या भिन्नभिन्न जाति के? तथा जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, वह निकटवर्ती (संश्लेषसहित) है या दूरवर्ती (संश्लेषरहित)? ज्ञाताज्ञेय है या स्वस्वामी? आदि अनेक विकल्प खड़े हो जाते हैं।

इन सभी बातों को ध्यान में रखकर इन उपचारों को पहले तो नौ भागों में विभाजित किया गया है, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे नौ विभाग द्रव्य, गुण और पर्याय के आधार पर किये गये हैं।

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ ६७२-६७३

सजाति, विजाति और उभय के भेद से द्रव्यों का वर्गीकरण भी तीन प्रकार से किया जाता है। इन सजाति, विजाति और उभय द्रव्यों में विभिन्न सम्बन्धों के आधार पर उक्त नौ प्रकार का उपचार करना ही असद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

यद्यपि 'उपचार' शब्द का प्रयोग सद्भूतव्यवहारनय के साथ भी है। जैसेः—एक द्रव्य में भेदोपचार करना सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है और भिन्न-भिन्न द्रव्यों में अभेदोपचार करना असद्भूतव्यवहारनय का कार्य है। इसी के आधार पर सद्भूतव्यवहारनय के उपचरितसद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय—ऐसे भेद भी किये जाते हैं, तथापि वास्तविक उपचार तो असद्भूतव्यवहारनय में ही होता है, क्योंकि द्रव्य में गुणभेदादि भेद उपचरित नहीं, वास्तविक हैं।

सद्भूतव्यवहारनय के अनुपचरित और उपचरित भेदों के स्थान पर जो शुद्ध और अशुद्ध नाम प्राप्त होते हैं, उनसे सद्भूतव्यवहारनय को उपचरित कहने में संभावित संकोच स्पष्ट हो जाता है।

अतः मुख्यरूप से भेदव्यवहार को सद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार को असद्भूतव्यवहार करना ही श्रेयस्कर है। जैसा कि कहा भी गया हैः—

**"असद्भूतव्यवहारः एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः।**[1]

असद्भूतव्यवहार ही उपचार है, और उपचार का भी जो उपचार करता है, वह उपचरितअसद्भूतव्यवहार है।"

इसका वास्तविक अर्थ यह हुआ कि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय भी वस्तुतः उपचरित ही है। उसके नाम के साथ जो 'अनुपचरित' शब्द का प्रयोग है, वह तो उपचार में भी उपचार के निषेध के लिए है, उपचार के निषेध के लिए नहीं।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि जिसमें मात्र उपचार हो, वह अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है और जिसमें उपचार में भी उपचार हो, वह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है।

**"उपनयोपजनितो व्यवहारः। प्रमाणनयनिक्षेपात्मकः भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः।**

---

१. आलापपद्धति, पृष्ठ २२७

**कथमुपनयस्तस्य जनक इति चेत्।**

**सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तूपचारोत्पादकत्वात् उपचरितासद्भूतस्तूपचारादप्युपचारोत्पादकत्वात्।**[1]

व्यवहार उपनय से उपजनित होता है। प्रमाणनयनिक्षेपात्मक भेद और उपचार के द्वारा जो वस्तु का प्रतिपादन करता है, वह व्यवहारनय है।

प्रश्नः—व्यवहार का जनक उपनय कैसे है?

उत्तरः—सद्भूतव्यवहारनय भेद का उत्पादक होने से, असद्भूत व्यवहारनय उपचार का उत्पादक होने से और उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय उपचार में भी उपचार का उत्पादक होने से उपनयजनित है।''

—नयचक्र के इस कथन से यह बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि सद्भूतव्यवहारनय भेद का उत्पादक है और असद्भूतव्यवहारनय उपचार का उत्पादक है।

उपचार में भी उपचार का उत्पादक होने से उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय असद्भूतव्यवहारनय का ही एक भेद है। जिस असद्भूतव्यवहारनय में मात्र उपचार ही प्रवर्तित होता है, उपचार में भी उपचार नहीं; उस असद्भूतव्यवहारनय को उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से पृथक् बताने के लिए अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

(९) **प्रश्नः**—नयचक्र के उक्त कथन में व्यवहारनय को उपनय से उपजनित कहा गया है? अभी तक तो उपनय की बात आई ही नहीं।

**उत्तरः**—एकप्रकार से व्यवहारनय ही उपनय है, क्योंकि उपनयों के जो भेद गिनाए गये हैं, वे सब एकप्रकार से व्यवहारनय के ही भेद-प्रभेद हैं।

नयों के भेद-प्रभेदों की चर्चा करते समय 'नयचक्र'[2] में पहले तो नयों के नय और उपनय—ऐसे दो भेद किए हैं। फिर नय के नौ प्रकार एवं उपनय के तीन प्रकार बताये गये हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो तो मूलनय एवं नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत—ये सात उत्तरनय; इसप्रकार कुल मिलाकर ये नौ नय बताये गये हैं, जिनकी चर्चा आगे विस्तार से की जावेगी।

---

[1] श्रुतभवनदीपकनयचक्र, पृष्ठ २९

[2] देवसेनाचार्यकृत श्रुतभवनदीपकनयचक्र एवं माइल्लधवलकृत द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र—इन दोनों में ही उक्त कथन पाये जाते हैं।

सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार तथा उपचरितअसद्भूतव्यवहार – ये तीन भेद उपनय के बताये गये हैं।

तथा सद्भूतव्यवहारनय के शुद्ध और अशुद्ध – ऐसे दो भेद किये गये हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहारनय के जो चार भेद बताये गये थे, उनमें और इनमें (उपनयों द्वारा किए गए भेदों में) कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

सद्भूतव्यवहारनय के तो जिसप्रकार दो भेद वहाँ बताये गये थे, वैसे ही यहाँ भी बताये गये हैं। असद्भूतव्यवहारनय के वहाँ अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय एवं उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय – इस प्रकार दो भेद किये गये थे और यहाँ उन दोनों को स्वतन्त्ररूप से स्वीकार कर लिया गया है। बस, मात्र इतना ही अन्तर है।

इसे निम्नलिखित चार्टों द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है:–

**चार्ट १**

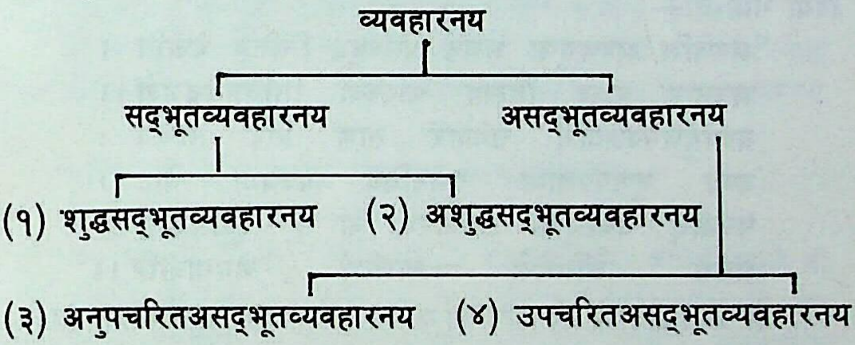
व्यवहारनय
सद्भूतव्यवहारनय
असद्भूतव्यवहारनय
(१) शुद्धसद्भूतव्यवहारनय
(२) अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय
(३) अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय
(४) उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय

**चार्ट २**

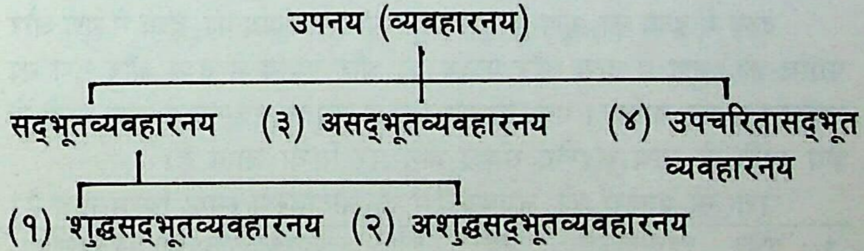
उपनय (व्यवहारनय)
सद्भूतव्यवहारनय
(३) असद्भूतव्यवहारनय
(४) उपचरितासद्भूत व्यवहारनय
(१) शुद्धसद्भूतव्यवहारनय
(२) अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय

उक्त चार्टों में व्यवहारनयों के प्रभेदों में जो क्रमांक दिये गये हैं, वे परस्पर एक-दूसरे के स्थानापन्न हैं। अतः दोनों प्रकार के वर्गीकरणों में कोई

मौलिक भेद नहीं है। दोनों प्रकार के वर्गीकरण को देखकर भ्रमित होने की आवश्यकता भी नहीं है, किन्तु उन्हें जान लेने की आवश्यकता अवश्य है।

असद्भूतव्यवहारनय (अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय) और उपचरितअसद्भूतव्यवहारनयों के स्वजातीय, विजातीय और मिश्र (स्वजातिविजातीय) के भेद से तीन-तीन भेद किये गए हैं।

यहाँ असद्भूतव्यवहारनय (जिसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय भी कहा जाता है) द्रव्य में द्रव्य का उपचार आदि नौ प्रकार के उपचारों में प्रवृत्ति करता है।

तथा यही असद्भूतव्यवहारनय भिन्न द्रव्यों, उनके गुणों और पर्यायों के बीच पाये जानेवाले अविनाभावसंबंध, संश्लेषसंबंध, परिणाम-परिणामीसंबंध, श्रद्धा-श्रद्धेयसंबंध, ज्ञान-ज्ञेयसंबंध, चारित्र-चर्यासंबंध आदि को अपना विषय बनाता है।[1]

असद्भूतव्यवहारनय के भेद-प्रभेदों का कथन 'नयचक्र' में इसप्रकार दिया गया है:–

**"अण्णेसिं अण्णगुणा भणइ असब्भूय तिविह भेदोवि ।**
**सज्जाइ इअर मिस्सो णायव्वो तिविहभेदजुदो ।।**
**दव्वगुणपज्जयाणं उपयारं ताण होइ तत्थेव ।**
**दव्वे गुणपज्जाया गुणदवियं पज्जया णेया ।।**
**पज्जाए दव्वगुणा उवयरियं वा हु बंधसंजुत्ता ।**
**संबंधे संसिलेसे णाणीणं णेयमादीहिं ।।**[2]

जो अन्य के गुणों को अन्य का कहता है, वह असद्भूतव्यवहारनय है। उसके तीन भेद हैं:–सजाति, विजाति और मिश्र। तथा उनमें भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं।

द्रव्य में द्रव्य का, गुण में गुण का, पर्याय में पर्याय का, द्रव्य में गुण और पर्याय का, गुण में द्रव्य और पर्याय का और पर्याय में द्रव्य और गुण का उपचार करना चाहिए। यह उपचार बंध से संयुक्त अवस्था में तथा ज्ञानी के ज्ञेय आदि के साथ संश्लेष संबंध होने पर किया जाता है।"

उक्त नौ प्रकारों को 'नयचक्र'[3] में ही सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

---

[1] "सोऽपि संबंधाविनाभावः, संश्लेषः संबंधः, परिणामपरिणामिसंबंधः, श्रद्धाश्रद्धेयसंबंधः, ज्ञानज्ञेयसंबंधः, चारित्रचर्यासंबंधश्चेत्यादिः।" –आलापपद्धति, पृष्ठ २२७

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २२२ से २२४

[3] वही, गाथा २२५ से २३३

उन्हीं में सजाति-विजाति आदि विशेषणों को भी यथासंभव स्पष्ट कर दिया गया है।

उक्त स्पष्टीकरण मूलतः पठनीय है, जो इसप्रकार है:–

**"एयंदियाइदेहा णिव्वत्ता जे वि पोग्गले काए ।**
**ते जो भणेई जीवा ववहारो सो विजाईओ।।२२५।।**

पौद्‌गलिक काय में जो एकेन्द्रिय आदि के शरीर बनते हैं, उन्हें जो जीव कहता है, वह विजातीय **द्रव्य में** विजातीय **द्रव्य का** आरोपण करने वाला असद्‌भूतव्यवहारनय है।

**मुत्तं इह मइणाणं मुत्तिमदव्वेण जण्णिओ जह्मा ।**
**जइ णहु मुत्तं णाण तो किं खलिओ हु मुत्तेण।।२२६।।**

मतिज्ञान मर्तिक है, क्योंकि वह मर्तिकद्रव्य से पैदा होता है। यदि वह मूर्त्त न होता तो मूर्त्त द्वारा स्खलित क्यों होता?–यह विजातीय **गुण में**। विजातीय **गुण का** आरोप करनेवाला असद्‌भूतव्यवहारनय है।

**दठ्ठूणं पडिबिंबं लवदि हु तं चेव पज्जाओ ।**
**सज्जाइ असब्भूओ उवयरिओ णियज्जाइपज्जाओ।।२२७।।**

प्रतिबिंब को देखकर 'वह यही पर्याय है'–ऐसा कहा जाता है।–यह **स्वजातिपर्याय में** स्वजातिपर्याय **का** उपचार करनेवाला असद्‌भूतव्यवहारनय है।

**णेयं जीवमजीवं तं पिय णाणं खु तस्स विसयादो ।**
**जो भणइ एरिसत्थं ववहारो सो असब्भूदो।।२२८।।**

ज्ञेय जीव भी है और अजीव भी है। ज्ञान के विषय होने से उन्हें जो 'ज्ञान' (जीव का ज्ञान, अजीव का ज्ञान-इस रूप में) कहता है, वह स्वजाति-विजाति**द्रव्य में** स्वजाति-विजातिगुण **का** उपचार करनेवाला असद्‌भूतव्यवहारनय है।

**परमाणु एयदेशी बहुयपदेसी पयंपए जो हु ।**
**सो ववहारो णेओ दव्वे पज्जायउवयारो।।२२९।।**

जो एकप्रदेशी परमाणु को बहुप्रदेशी कहता है, उसे स्वजाति**द्रव्य में** स्वजातिविभाव**पर्याय** का उपचार करनेवाला असद्‌भूतव्यवहारनय कहते हैं।

**रूवं पि भणइ दव्वं ववहारो अण्णअत्थसंभूदो ।**
**सेओ जह पासाओ गुणेसु दव्वाण उवयारो।।२३०।।**

अन्य अर्थ में होनेवाला व्यवहार रूप को भी द्रव्य कहता है। जैसे:–सफेद पत्थर। यह स्वजातिगुण में स्वजाति**द्रव्य का** उपचार करनेवाला असद्‌भूतव्यवहारनय है।

**णाणं पि हु पज्जायं परिणममाणो दु गिह्णए जह्मा ।**
**ववहारो खलु जंपइ गुणेसु उवयरियपज्जाओ ।।२३१।।**

परिणमनशील ज्ञान को पर्यायरूप से कहा जाता है, वह स्वजाति **गुणमें** स्वजाति **पर्याय का** आरोप करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

**दठ्ठूण थूलखंधं पुग्गलदव्वेत्ति जंपए लोए ।**
**उवयारो पज्जाए पुग्गलदव्वस्स भणइ ववहारो ।।२३२।।**

स्थूलस्कंध को देखकर लोक में उसे 'यह पुद्गलद्रव्य है'—ऐसा कहते हैं। यह स्वजातिविभाव **पर्याय में** स्वजाति **द्रव्य का** उपचार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

**दठ्ठूण देहठाणं वण्णंतो होइ उत्तमं रूवं ।**
**गुणे उवयारो भणियो पज्जाए णत्थि संदेहो ।।२३३।।**

शरीर के आकार को देखकर उसका वर्णन करते हुए कहना कि कैसा उत्तमरूप है। यह स्वजाति **पर्याय में** स्वजाति **गुण का** आरोप करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।''

उक्त सम्पूर्ण उदाहरण अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के हैं; क्योंकि इनमें मात्र उपचार किया गया है, उपचार में उपचार नहीं। जहाँ उपचार में उपचार किया जाता है, वहाँ उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय होता है।

उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के स्वरूप और भेद-प्रभेदों का स्पष्टीकरण 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' में इसप्रकार किया गया है:—

**''उवयारा उवयारं सच्चासच्चेसु उहयअत्थेसु ।**
**वज्जाइइयरमिस्सो उवयरिओ कुणइ ववहारो ।।२४२।।**

सत्य, असत्य और सत्यासत्य पदार्थों में तथा स्वजातीय, विजातीय और स्वजाति-विजातीय पदार्थों में जो एक उपचार के द्वारा दूसरे उपचार का विधान किया जाता है, उसे उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

**देसवई देसत्थो अत्थवणिज्जो तहेव जंपंतो ।**
**मे देसं मे दव्वं सच्चासच्चंपि उहयत्थं ।।२४३।।**

'देश का स्वामी कहता है कि यह देश मेरा है'—यह सत्य उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है, 'देश में स्थित व्यक्ति कहता है कि देश मेरा है'—यह असत्य उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है और 'व्यापारी अर्थ का व्यापार करते हुए कहता है कि धन मेरा है'—यह सत्यासत्य उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है।

**पुत्ताइबंधुवग्गं अहं च मम संपयाइ जप्पंतो ।**
**उवयारासब्भूओ सजाइदव्वेसु णायव्वो ।।२४४।।**

'पुत्रादि बन्धुवर्गरूप मैं हूँ या यह मेरी संपदा है' – इसप्रकार का कथन करना स्वजाति-उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है।

**आहरणहेमरयणं वच्छादीया ममेदि जप्पंतो ।**
**उवयरिय असब्भूओ विजाइदव्वेसु णायव्वो ।।२४५।।**

'आभरण, सोना, रत्न और वस्त्रादि मेरे हैं' – यह कथन विजाति-उपचरितअसद्बूतव्यवहारनय है।

**देसंव रज्जदुग्गं मिस्सं अण्णं च भणइ मम दव्वं ।**
**उहयत्थे उवयरिओ होइ असब्भूदववहारो ।।२४६।।**

जो देश के समान राज्य व दुर्ग आदि मिश्र अन्यद्रव्यों को अपना कहता है, वह उभय अर्थात् स्वजाति-विजाति-उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय है।"

उक्त सम्पूर्ण कथन का गहराई से मंथन करने पर यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि जिन भिन्नपदार्थों में निकट का अर्थात् सीधा संबंध होता है, वे तो अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के अन्तर्गत आते हैं तथा जिनका संबंध दूर का होता है अर्थात् जो संबंधी के भी संबंधी होने से परस्पर संबंधित होते हैं, उनको उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय अपना विषय बनाता है।

जैसे :– शरीर तो आत्मा से सीधा संबंधित है, पर माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि, मकान आदि शरीर के माध्यम से संबधित हैं। अतः आत्मा और शरीर का संबंध अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है, तथा आत्मा और स्त्री-पुत्रादि व मकानादि का संबंध उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

इसीप्रकार स्वजातीय और विजातीय संबंधों को भी समझ लेना चाहिए। जब आत्मा और शरीर का संबंध बताया जाता है, तब आत्मा चेतनजाति का और शरीर अचेतनजाति का होने से दोनों का संबंध विजातीय कहा जाता है। जब पिता-पुत्र का संबंध बताया जाता है, तब पिता व पुत्र दोनों के चेतन होने से वह संबंध सजातीय कहा जाता है।

इसीप्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिए।

**(१०) प्रश्नः**– ज्ञाता-ज्ञेय संबंध को संश्लेषसंबंध अर्थात् निकट का संबंध मानकर अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय में रखा गया है; जबकि उनमें अत्यधिक दूरी पाई जा सकती है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवान का ज्ञेय तो अलोकाकाश भी होता है। तथा मकान व पुत्रादि को दूर का संबंधी मानकर

उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय में डाला गया है, जबकि वे निकट के संबंधी प्रतीत होते हैं। लोक में भी जैसा एकत्व या ममत्व पुत्रादि व मकानादि में देखा जाता है, वैसा ज्ञेयों में नहीं।

—इस कथन में क्या विशेष हेतु है? कृपया स्पष्ट करें।

**उत्तर:**—संबंधों की निकटता न तो क्षेत्र के आधार पर निश्चित होती है और न एकत्व या ममत्वबुद्धि के आधार पर।

जिन दो पदार्थों में सीधा (डायरेक्ट) संबंध पाया जाता है, उन्हें निकटवर्ती या संश्लिष्ट कहते हैं तथा जिनमें वे दोनों पदार्थ किसी तीसरे माध्यम से (इन-डायरेक्ट) संबंधित होते हैं, उन्हें दूरवर्ती या असंश्लिष्ट कहा जाता है। संश्लिष्ट पदार्थों में मात्र उपचार करने से काम चल जाता है, पर असंश्लिष्ट पदार्थों में उपचार में भी उपचार करना होता है।

जिसप्रकार साले और बहनोई परस्पर संबंधी हैं और साले का साला और बहनोई का बहनोई परस्पर संबंधी नहीं, संबंधी के भी संबधी हैं। लोक में भी जो व्यवहार संबंधियों के बीच पाया जाता है, वह व्यवहार सम्बन्धियों के सम्बन्धियों में परस्पर नहीं पाया जाता।

संबंधियों के बीच अनुपचरित उपचार होता है और संबंधियों के भी संबंधियों के साथ उपचार भी उपचरित ही होता है।

ज्ञान और ज्ञेय के बीच सीधा संबंध है, अतः उनमें अनुपचरित उपचार का अर्थात् अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का प्रयोग होता है और स्त्री-पुत्रादि व मकानादि के साथ जो आत्मा का संबंध है, वह देह के माध्यम से होता है, अतः वह उपचरित-उपचार अर्थात् उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

(११) **प्रश्न:**—इन सबके जानने से लाभ क्या है?

**उत्तर:**—जिनवाणी में विविधप्रकार से आत्मा का स्वरूप समझाते हुए सभी प्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं। व्यवहारनय के उक्तप्रकारों के कथन भी जिनागम में पद-पद पर प्राप्त होते हैं। व्यवहारनयों के सम्यग्ज्ञान बिना उक्त कथनों का मर्म समझ पाना संभव नहीं है, अपितु भ्रमित हो जाना संभव है। अतः इनका जानना भी आवश्यक है। तथा इन नयों के जानने का सम्यक्फल इन सब संबंधों और उपचारों को जानकर, इनकी निस्सारता जानकर एवं इन नयकथनों को वास्तविक न जान, मात्र उपचरितकथन मानकर पर से विभक्त और निज में एकत्व को प्राप्त निजपरमात्मतत्त्व में ही अहं स्थापित करना है।

समयसारादि ग्रंथराजों में भी सर्वत्र इन नयकथनों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराकर एकत्व-विभक्त आत्मा में जमने-रमने की प्रेरणा दी गई है।

समयसार की 'आत्मख्याति टीका' के कलश २४२ में तो यहाँ तक कहा गया है कि:–

"**व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थ कलंयति नो जनाः ।**
**तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलम् ।।**

जिसप्रकार जगत में जिनकी बुद्धि तुषज्ञान में ही मोहित हैं, वे तुष को ही जानते हैं, तन्दुल को नहीं। उसीप्रकार जिनकी दृष्टि व्यवहार में ही मोहित है, वे जीव परमार्थ को नहीं जानते हैं।"

उक्त कथन में व्यवहार में मोहित होने का निषेध किया गया है, जानने का नहीं। व्यवहार को जानना तो है, पर उसमें मोहित नहीं होना है। मोहित होने लायक, अहं स्थापित करने लायक तो एक परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत निजशुद्धात्मद्रव्य ही है।

—o—

केई नर निश्चय से आतमा को शुद्ध मान,
हुए हैं स्वच्छंद न पिछानें निज शुद्धता ।

केई व्यवहार दान, तप, शीलभाव को ही,
आतमा का हित मान छाड़ें नहीं मुद्धता ।।

केई व्यवहारनय-निश्चय के मारग को,
भिन्न-भिन्न जानकर करत निज उद्धता ।

जाने जब निश्चय के भेद व्यवहार सब,
कारण को उपचार माने तब बुद्धता ।।५।।

– आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी

# 'पंचाध्यायी' के अनुसार व्यवहारनय के भेद-प्रभेद

अब समय आ गया है कि हम पंचाध्यायी में समागत व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों के स्वरूप पर विस्तार से चर्चा करें।

पंचाध्यायी में सद्भूत और असद्भूत व्यवहारनयों की जो चर्चा प्राप्त होती है, उसमें सद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप इसप्रकार दिया गया है:—

**व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः ।**
**सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ।।**
**अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात् ।**
**अविवक्षितोऽथवापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ।।**
**अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात् ।**
**इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ।।**[1]

व्यवहारनय के दो भेद हैं:—सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय। जिस वस्तु का जो गुण है, उसकी सद्भूत संज्ञा है, और उन गुणों की प्रवृत्तिमात्र का नाम व्यवहार है।

इसका खुलासा इसप्रकार है कि इस नय में वस्तु का असाधारणगुण ही विवक्षित होता है अथवा साधारणगुण अविवक्षित रहता है। इस नय की प्रवृत्ति इसीप्रकार होती है, अन्य प्रकार से नहीं।

इस नय का फल यह है कि इससे विवक्षित वस्तु के सिवा अन्य वस्तु में 'यह वह नहीं है'-इसप्रकार निषेधबुद्धि हो जाती है; क्योंकि परवस्तु से भेदबुद्धि का होना ही नय है, नय कुछ भेद का अभिव्यंजक नहीं है।"

पंचाध्यायी के अनुसार असद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप इसप्रकार है:—

**"अपि चासद्भूतादिव्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा ।**
**अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र ।।**
**स यथा वर्णादिमतो मूर्त्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्त्तम् ।**
**तत्संयोगत्वादिह मूर्त्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ।।**

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५२५ से ५२७

**कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात् ।**
**सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ।।**
**फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।**
**शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ।।**
**अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।**
**हित्वा परगुणयोगं स एक शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ।।**[1]

अन्यद्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना असद्भूतव्यवहारनय है।

उदाहरणार्थ वर्णादिवाले मूर्त्तद्रव्य का कर्म एक भेद है, अतः वह भी मूर्त्त है। उसके संयोग से क्रोधादि यद्यपि मूर्त्त हैं, तो भी उन्हें जीव में हुए कहना असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है।

इस नय की प्रतीति का फल यह है कि जितने भी आगन्तुक भाव हैं, उनमें से उपाधि का त्याग कर देने पर जो शेष बचता है, वही उस वस्तु का शुद्धगुण है। ऐसा माननेवाला पुरुष ही सम्यग्दृष्टि है।

उदाहरणार्थ सोना दूसरे पदार्थ के गुण के संबंध से कुछ सफेद-सा प्रतीत होता है, परन्तु जब उसमें से परवस्तु के गुणों का संबंध छूट जाता है, तब वही सोना शुद्धरूप से अनुभव में आने लगता है।''

उक्त कथन में पंचाध्यायीकार ने सद्भूत और असद्भूत व्यवहारनयों के स्वरूप एवं विषयवस्तु का जिसप्रकार स्पष्टीकरण किया है, उससे यह बात स्पष्ट होती है कि उनके मतानुसार सद्भूतव्यवहारनय वस्तु के असाधारणगुण के आधार पर वस्तु को परवस्तु से भिन्न स्थापित करता है। उनके अनुसार इस नय का प्रयोजन भी परवस्तु से भिन्नता की प्रतीतिमात्र है। उनका स्पष्ट कहना है कि यह नय अखण्डवस्तु में भेद करके वस्तुरूप को स्पष्ट करनेवाले भेद का अभिव्यंजक नहीं है, अपितु पर से भिन्नता बतानेवाला ही है।

यद्यपि असद्भूतव्यवहारनय की परिभाषा तो यहाँ भी बहुत-कुछ अन्य ग्रंथों के अनुसार ही दी गई है, तथापि यहाँ क्रोधादि को जीव का कहना – यह असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताया गया है, जबकि अन्यत्र क्रोधादि को जीव का बताना, सद्भूतव्यवहारनय के भेदों में लिया जाता है।

पंचाध्यायीकार को अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए इसमें कुछ

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५२९ से ५३३

खींचतान भी करनी पड़ी है। क्रोधादिभाव, जो कि जीव के ही विकारी भाव हैं, उन्हें पहले तो पुद्गलकर्मों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण मूर्त्त कहा गया और फिर उन्हें अमूर्त्तजीव का कहकर असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताया गया। उन्हें यहाँ **'अन्यद्रव्यस्य गुणाः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र'** की संपूर्त्ति इसप्रकार करनी पड़ी।

इस संबंध में विशेष चर्चा व्यवहारनय के उपचरित-अनुपचरित, सद्भूत-असद्भूत आदि सभी भेद-प्रभेदों के स्पष्टीकरण के उपरान्त करना ही समुचित होगा।

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषयवस्तु पंचाध्यायी में इसप्रकार दी गई है:–

**"स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।**
**तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ।।**
**इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः ।**
**ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात् ।।**
**घट सद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।**
**अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।।**[१]

जिस पदार्थ की जो आत्मभूत शक्ति है, उसको जो नय अवान्तर भेद किए बिना सामान्यरूप से उसी पदार्थ की बताता है, वह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।

इस विषय में यह उदाहरण है कि जिसप्रकार जीव का ज्ञानगुण सदा जीवोपजीवी रहता है, उसप्रकार वह ज्ञेय को जानते समय भी ज्ञेयोपजीवी नहीं होता।

जैसे घट के सद्भाव में जीव का ज्ञानगुण घट की अपेक्षा किये बिना चैतन्यरूप ही है, वैसे घट के अभाव में भी जीव का ज्ञानगुण घट की अपेक्षा किए बिना चैतन्यरूप ही है।"

उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषय-वस्तु पंचाध्यायी में इसप्रकार दी गई है:–

**"उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम ।**
**अविरुद्धं हेतुवशात्परतोऽप्युपचर्यते यतः स्वगुणः ।।**

---

[१] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५३५ से ५३७

**अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा ।**
**अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ।।**
**असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात् ।**
**तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ।।**
**तस्मादनन्यशरणं तदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धत्वात् ।**
**उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ।।**[1]

हेतुवश स्वगुण का पररूप से अविरोधपूर्वक उपचार करना उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।

जैसे, अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है – यह प्रमाण का लक्षण है। यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है। स्व-परसमुदाय का नाम अर्थ है और ज्ञान का उसरूप होना ही विकल्प है।

सत्सामान्य निर्विकल्पक होने के कारण, उसकी अपेक्षा यद्यपि यह लक्षण असत् है, तथापि आलम्बन के बिना विषयरहित ज्ञान का कथन करना शक्य नहीं है।

इसलिए यद्यपि ज्ञान दूसरों की अपेक्षा किए बिना ही स्वरूपसिद्ध होने से सद्रूप है, तथापि हेतु के वश से यहाँ उसका दूसरे की अपेक्षा से उपचार किया जाता है।"

पंचाध्यायीकार के उक्त कथन की आगम के अन्य कथनों से तुलना करते हुए पंडित देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री दोनों कथनों के अन्तर को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं:–

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय के विषय में तीनों ग्रन्थों के दृष्टिकोण में प्रायः अन्तर है। 'अनगारधर्मामृत' और 'आलापपद्धति' में यह बतलाया है कि जिस वस्तु का जो शुद्धगुण है, उसको उसी का बतलाना शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है। 'अनगारधर्मामृत' में इस नय का उदाहरण देते हुए लिखा है कि केवलज्ञान आदि को जीव का कहना शुद्धसद्भूतव्यवहारनय है।

तथा 'पंचाध्यायी' में यह दृष्टिकोण लिया गया है कि जिसद्रव्य की जो शक्ति है, विशेष की अपेक्षा किए बिना सामान्यरूप से उसे उसी द्रव्य की बताना अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है। 'पंचाध्यायी' के इस लक्षण के अनुसार 'ज्ञान जीव का है' – यह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण ठहरता है।

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५४० से ५४३

बात यह है कि 'अनगारधर्मामृत' और 'आलापपद्धति' में शुद्धता और अशुद्धता का विभाग करके इस नय का कथन किया गया है, किन्तु 'पंचाध्यायी' में ऐसा विभाग करना इष्ट नहीं है। वहाँ यद्यपि उपाधि का त्याग इष्ट है, परन्तु यह कथन सब प्रकार से निरुपाधि होना चाहिए। ज्ञान के साथ 'केवल' पद लगाना यह भी एक उपाधि है; अतः 'केवलज्ञान जीव का है'—ऐसा न कहकर 'ज्ञान जीव का है'—ऐसा कथन करना ही अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है—यह पंचाध्यायीकार का अभिप्राय है।[1]

यहाँ 'अर्थविकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है'—ऐसा कहना उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण बतलाया है। इस उदाहरण के अनुसार 'ज्ञान प्रमाण है' इतना तो सद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण ठहरता है और उसे अर्थविकल्पात्मक कहना यह उपचार ठहरता है।

यद्यपि ज्ञान स्वरूपसिद्ध है, तथापि उसे अर्थविकल्पात्मक बतलाया जाता है, इसलिए यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण हुआ। 'अनागारधर्मामृत' में 'मतिज्ञान आदि जीव के हैं'—यह उपचरितसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण दिया है। वहाँ उपचार का कारण अशुद्धता ली गई है, जबकि 'पंचाध्यायी' में इसका कारण निजगुण का पररूप से कथन करना लिया गया है।

इसप्रकार इन दोनों विवेचनों में क्या अन्तर है—यह स्पष्ट हो जाता है।[2]"

अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषयवस्तु 'पंचाध्यायी' में इसप्रकार दी गई है:—

"अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा ।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ।।
कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद् विभावभावमयी ।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी ।।
फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्ति यावन्तः ।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ।।[3]

जब अबुद्धिपूर्वक होनेवाले अर्थात् बुद्धि में न आनेवाले क्रोधादिक भाव जीव के विवक्षित होते हैं, तब

---

[1] पंचाध्यायी, पृष्ठ १०६

[2] वही, पृष्ठ १०७

[3] वही प्रथम अध्याय, १, श्लोक ५४६ से ५४८

अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय प्रवृत्त होता है।

इस नय की प्रवृत्ति में कारण यह है कि जिस पदार्थ की जो विभावभावरूप शक्ति है, वह जब उपयोगदशा से युक्त होती है, तब भी वह उससे अभिन्न होती है।

जितने भी स्व और पर के निमित्त से होनेवाले आगन्तुक भाव हैं, वे क्षणिक होने से और आत्मा के धर्म नहीं होने से आदेय नहीं हैं—ऐसी बुद्धि होना ही इस नय का फल है।''

उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का स्वरूप और विषयवस्तु 'पंचाध्यायी' में इसप्रकार दी गई है:—

**''उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा ।**
**क्रोधाद्याः औदयिकश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ।।**
**बीजं विभावभावाः स्वपरोभयेहेतवस्तथा नियमात् ।**
**सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद् विना भवन्ति यतः ।।**
**तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः ।**
**तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः ।।**[1]

जब जीव के क्रोधादि औदयिक भाव बुद्धिपूर्वक विवक्षित होते हैं, तब वह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय कहलाता है।

इस नय की प्रवृत्ति में कारण यह है कि जितने भी विभावभाव होते हैं, वे नियम से स्व और पर दोनों के निमित्त से होते हैं; क्योंकि द्रव्य में विभावरूप से परिणमन करने की शक्तिविशेष के रहते हुए भी वे परनिमित्त के बिना नहीं होते।

अविनाभाव संबंध होने से अबुद्धिपूर्वक होनेवाले भाव साध्य हैं और उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बुद्धिपूर्वक होनेवाले भाव साधन हैं। इसप्रकार इस बात का बतलाना भी इस नय का फल है।''

पंडित देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री के विचार उक्त सन्दर्भ में भी द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं:—

''यहाँ अबुद्धिपूर्वक होनेवाले क्रोधादिभावों को जीव का कहना अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय माना गया है, जबकि 'अनगारधर्मामृत' में अनुपचरित्असद्भूतव्यवहारनय का 'शरीर मेरा है'—यह उदाहरण लिया है।

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५४९ से ५५१

इन दोनों विवेचनों में मौलिक अन्तर है।

यहाँ निजगुणगुणी भेद को व्यवहार का प्रयोजक माना है और क्रोधादि, वैभाविकशक्ति की विभावरूप उपयोगदशा का परिणाम है, जो विभावरूप उपयोगदशा निमित्ताधीन मानी गई है। इसी से इस व्यवहार को असद्भूत कहा है। यह व्यवहार अनुपचरित इसलिए कहलाया, क्योंकि क्रोध चारित्र नामक निजगुण की ही विभावदशा है।

किन्तु यह दृष्टि 'अनगारधर्मामृत' के उदाहरण में दिखाई नहीं देती। वहाँ परवस्तु में निजत्वकल्पना को असद्भूतव्यवहार का प्रयोजक माना गया है। परन्तु पंचाध्यायीकार ऐसी कल्पना को समीचीन नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि दो पदार्थों में स्पष्टतः भेद है। उनमें से किसी एक को संबंध-विशेष के कारण किसी एक का कहना, यह समीचीन नय नहीं है।[1]

'क्रोधादि जीव के हैं यह असद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण है'—यह पहिले ही सिद्ध कर आये हैं; किन्तु भृकुटी का चढ़ना, मुख का विवर्ण हो जाना, शरीर में कम्प होना इत्यादि क्रियाओं को देखकर क्रोधादिक को बुद्धिगोचर मानना, उपचरित होने से प्रकृत में 'क्रोधादिक बुद्धिजन्य है'—इस मान्यता को उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय बतलाया है।

किन्तु 'अनगारधर्मामृत' में उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का उदाहरण 'देश मेरा है'—यह दिया है।

इन दोनों में मौलिक अन्तर है। यह तो स्पष्ट ही है। विशेष खुलासा अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के विवेचन में कर ही आये हैं, उसीप्रकार यहाँ भी कर लेना चाहिए।[2]"

उक्त सन्दर्भ में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का विश्लेषण भी द्रष्टव्य है। समयसार की गाथा ११ की 'आत्मख्याति' टीका पर प्रवचन करते हुए उन्होंने इस विषय को इसप्रकार स्पष्ट किया है:—

"ज्ञान में ज्ञात हो ऐसा बुद्धिपूर्वक राग तथा ज्ञान में ज्ञात न हो ऐसा अबुद्धिपूर्वक राग—ऐसा दोनों ही प्रकार का राग वस्तु में नहीं है, इस राग को जाननेवाला ज्ञान भी वस्तु में नहीं है। और 'ज्ञान सो आत्मा'—ऐसा भेद भी वस्तु में नहीं है। व्यवहारनय ऐसे अविद्यमान अर्थ को प्रगट करता है, इसकारण अभूतार्थ है। दूसरे प्रकार से कहें तो द्रव्य अखण्डवस्तु है, उसमें भेद या राग नहीं है। उसे प्रकट करनेवाला होने से व्यवहारनय अभूतार्थ कहा

---

[1] पंचाध्यायी, पृष्ठ १०७

[2] वही, पृष्ठ १०८

जाता है।

अभूत अर्थ को प्रकट करनेवाला व्यवहारनय चार प्रकार का है:-

(१) उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय,
(२) अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय,
(३) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय,
(४) अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय।

आत्मा की पर्याय में जो राग है, वह मूल सतरूप वस्तु में नहीं है, इसलिए असद्भूत है, भेद किया इसलिए व्यवहार है और ज्ञान में स्थूलरूप से जाना जाता है, इसलिए उपचरित है। इसप्रकार राग को आत्मा का कहना उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

जो सूक्ष्मराग का अंश वर्तमानज्ञान में नहीं जाना जाता, ज्ञान की पकड़ में नहीं आता, वह अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का विषय है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है। उस आत्मा का ज्ञान राग को जानता है, पर को जानता है—ऐसा कहने से वह ज्ञान स्वयं का होने से सद्भूत, त्रिकाली में भेद किया इसलिए व्यवहार और ज्ञान स्वयं का होने पर भी पर को जानता है—ऐसा कहना वह उपचार है। इसप्रकार 'राग का ज्ञान'—ऐसा कहना (अर्थात् ज्ञान राग को जानता है—ऐसा कहना) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।

'ज्ञान वह आत्मा'—ऐसा भेद करके कथन करना अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय है। 'ज्ञान वह आत्मा'—यह कहने से भेद पड़ा, वह व्यवहार, किन्तु वह भेद आत्मा को बताता है, इसलिए वह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय है।[१]"

नयचक्र, आलापपद्धति और अनगारधर्मामृत आदि ग्रन्थों के आधार पर निरूपित व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों और पंचाध्यायी में निरूपित व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों पर जब हम तुलनात्मक दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचाध्यायीकार ने अन्यत्र निरूपित शुद्धसद्भूत और अशुद्धभूत व्यवहारनयों के विषयों को शुद्धसद्भूत, अशुद्धसद्भूत, अनुपचरित-असद्भूत और उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय के इन चारों प्रकारों में फैला दिया है।

जिन रागादिकभावों को अन्यत्र अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय के

---

[१] प्रवचनरत्नाकर भाग १, पृष्ठ १३९

रूप में बताया गया है, उन्हें पंचाध्यायीकार असद्भूतव्यवहारनय के विषय में ले लेते हैं। असद्भूतव्यवहारनय के दो भेदों में विभाजित करने के लिए वे रागादि विकारीभावों को बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक – इन दो भेदों में विभाजित कर देते हैं।

इसप्रकार उनके अनुसार बुद्धि पूर्वक राग उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय का तथा अबुद्धिपूर्वक राग अनुपचरितअसदभूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

शुद्धता और अशुद्धता का आधार बनाकर सद्भूतव्यवहारनय के जो दो भेद अन्यत्र किए गए हैं, उनमें अशुद्धता के आधार पर रागादि विकार अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय बनते हैं, किन्तु जब पंचाध्यायीकार रागादि को असद्भूतव्यवहारनय के भेदों में ले लेते हैं तो अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय के विषय की समस्या उपस्थित हो जाती है। उसका समाधान वे इसप्रकार करते हैं कि अर्थविकल्पात्मकज्ञान अर्थात् 'जो रागादि को जाने, वह ज्ञान' – यह तो अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है और सामान्यज्ञान अर्थात् 'ज्ञान वह आत्मा' – ऐसा भेद शुद्धसद्भूतव्यवहारनय का विषय बनता है।

अब एक समस्या और भी शेष रह जाती है। वह यह कि अन्यत्र जिन संश्लेषसहित और संश्लेषरहित देह व मकानादि को असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताया गया है, उन्हें असद्भूतव्यवहारनय का विषय नहीं मानने पर पंचाध्यायीकार उन्हें किस नय का विषय मानते हैं?

इसके उत्तर में पंचाध्यायीकार उन्हें नय मानने से ही इन्कार कर देते हैं। वे उन्हें नयाभास कहते हैं। मात्र इतना ही नहीं, उन्हें नय माननेवालों को 'मिथ्यादृष्टी' कहने से भी वे नहीं चूकते हैं।

उनका कथन मूलतः इसप्रकार हैः–

"ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेत्यतद्गुणारोपः ।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्विपि चेत् ।।

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभाससंज्ञकाः सन्ति ।
स्वयमप्यद्गुणत्वादव्यवहाराविशेषतो न्यायात् ।।

तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः ।
तन्मिथ्यावादत्वाद् ध्वस्तास्तद्वादिनोऽपि मिथ्याख्याः ।।

**तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति ।**
**इत्युक्ते न गुणः स्यात् प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ।।**
**ननु किल वस्तुविचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः ।**
**न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ।।**
**सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथा प्रमाणाद् वा ।**
**दुर्वारश्च तथा स्यात् सम्यङ्मिथ्येति नयविशेषोऽपि ।।**[1]

**शंकाः**—जिसमें एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित किए जाते हैं, वह असद्भूतव्यवहारनय है। 'जीव वर्णादिवाला है'—ऐसा कथन करना इसका दृष्टान्त है। यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है?

**समाधानः**—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करके विषय करते हैं और जो स्वयं असत्व्यवहार में संबंध रखते हैं, वे नय नहीं है, किन्तु नयाभास हैं।

इसका खुलासा इसप्रकार है कि जितने भी नय एक वस्तु के गुणों को दूसरी वस्तु में आरोपित करके विषय करनेवाले कहे गये हैं, वे सब मिथ्यावाद होने से खण्डित हो जाते हैं। साथ ही उनका नयरूप से कथन करनेवाले भी मिथ्यादृष्टि ठहरते हैं।

वह मिथ्यावाद यों है कि 'जीव वर्णादिवाला है'—ऐसा जो कथन किया जाता है, सो इस कथन से कोई लाभ तो है नहीं, किन्तु उल्टा दोष ही है, क्योंकि इससे जीव और वर्णादि में एकत्वबुद्धि होने लगती है।

**शंकाः**—वस्तु के विचार करने में गुण हो अथवा दोष हो, किन्तु उससे कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि नयप्रवाह न्यायबल से प्राप्त है। अतः उसका रोकना कठिन है।

**समाधानः**—यह कहना ठीक है कि पूर्वोक्त नयप्रवाह का प्राप्त होना अनिवार्य है, किन्तु प्रमाणानुसार कौन समीचीननय है और कौन मिथ्यानय है—इस भेद का होना भी अनिवार्य है।''

यद्यपि पंचाध्यायीकार असद्भूतव्यवहारनय की परिभाषा में यह स्वयं स्वीकार करते हैं कि '**अन्यद्रव्यस्यगुणः संयोज्यन्ते बलादन्यत्र**— अन्य द्रव्य के गुणों की बलपूर्वक अन्य द्रव्य में संयोजना करना असद्भूतव्यवहारनय है', तथापि यहाँ उसी बात का निषेध करते दिखाई देते हैं।

इस शंका को पंचाध्यायीकार स्वयं उठाते हैं तथा इसका समाधान भी प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार हैः—

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५५२ से ५५७

**"ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः ।**
**भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ।।**
**नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसम्भवा भावाः ।**
**न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ।।**[1]

**शंकाः**—यदि एक वस्तु के गुण दूसरी वस्तु में आरोपित करके उनको उस वस्तु का कहना—यह नयाभास है तो ऐसा मानने पर जो पहले असद्भूत-व्यवहारनय का लक्षण कह आये हैं, उसे नय न कहकर नयाभास कहना चाहिए; क्योंकि उसमें क्रोधादिक जीव के गुण न होते हुए भी उनका जीव में आरोप किया गया है?

**समाधान :**—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे ये क्रोधादिक भाव जीव में उत्पन्न होते हैं, वैसे पुद्गलमयी वर्णादिक जीव के नहीं पाये जाते हैं। अतः असद्भूतव्यवहारनय के विषयरूप क्रोधादिक को जीव का कहना अनुचित नहीं है।"

जिन्हें नयचक्रादि ग्रंथों में अनुपचरित और उपचरितअसद्भूत व्यवहारनयों के विषय बताया गया है, उन्हें पंचाध्यायी में नयाभास के विषय के रूप में चित्रित किया गया है।

उक्त सम्पूर्ण विषयों को चार प्रकार के नयाभासों में वर्गीकृत किया गया है :—

प्रथम नयाभास की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं :—

**"अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।**
**योऽयं मनुजादिवपुर्भवति स जीवस्ततोऽप्यनन्यत्वात् ।।**
**सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।**
**अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ।।**
**नाशंक्य कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।**
**सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ।।**
**अपि भवति बन्ध्यबंधकभावो यदि वा नयोर्न शक्यमिति ।**
**तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ।।**
**अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।**
**न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ।।**[2]

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५६४ से ५६५

[2] वही, प्रथम अध्याय, श्लोक ५६७ से ५७१

सम्यग्ज्ञान का अभाव होने से अधिकतर लोग ऐसा व्यवहार करते हैं कि जो यह मनुष्य आदि के शरीररूप है, वह जीव है; क्योंकि वह जीव से अभिन्न है।

किन्तु यह व्यवहार सिद्धान्तविरुद्ध होने से अव्यवहार ही है। यह व्यवहार सिद्धान्तविरुद्ध है—यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि शरीर और जीव भिन्नभिन्न धर्मी हैं।

ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है कि शरीर और जीव के एक-क्षेत्रावगाही होने से उनमें एकत्व का व्यवहार हो जाएगा, क्योंकि सब द्रव्यों में एक क्षेत्रावगाहपना पाया जाने से अतिव्याप्ति नाम का दोष आ जायेगा।

बन्ध्य-बंधक भाव होने से जीव को शरीररूप कहने में कोई आपत्ति नहीं है—ऐसी आशंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब वे दोनों नियम से अनेक हैं, तब उनका बंध मानना स्वतः असिद्ध है।

जीव और शरीर में निमित्त-नैमित्तिकभाव मानकर उक्त कथन को ठीक मानने का प्रयत्न भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो स्वतः अथवा स्वयं परिणमनशील है, उसे निमित्तपने से क्या लाभ है? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं है।

इसप्रकार जीव और शरीर को एक बतानेवाला अर्थात् शरीर को जीव कहने वाला नय नय नहीं, नयाभास ही है।"

दूसरे नयाभास का कथन इसप्रकार है :—

"अपरोऽपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः ।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः।।

नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्तो नयस्यास्य ।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रान्ति कुतः प्रमाणाद्वा।।

गुणसंक्रान्तिमृते यदि कर्त्ता स्यात् कर्मणश्च भोक्तात्मा ।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च।।

अस्त्यत्र भ्रमहेतु जीवस्याशुद्धपरणति प्राप्य ।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम्।।

**इदमत्र समाधानं कर्त्ता य कोऽपि सः स्वभावस्य ।**
**परभावस्य न कर्त्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेऽपि ।।**[1]
**अथ चेद् घटकर्त्ताऽसौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽयम् ।**
**दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदा नयाभासः ।।**[2]

मूर्त्तद्रव्य के जो कर्म और नोकर्मरूप कार्य होते हैं, उनका यह जीव कर्त्ता और भोक्ता है—ऐसा कथन करना दूसरा नयाभास है।

जीव को कर्म और नोकर्म का कर्त्ता और भोक्ता माननेरूप व्यवहार सिद्धान्तविरुद्ध होने से इस नय को नयाभास मानना असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि जब कर्म, नोकर्म और जीव भिन्न-भिन्न हैं, तब फिर उनमें किस प्रमाण के आधार से गुणसंक्रम बन सकेगा?

यदि गुणसंक्रम के बिना ही जीव कर्म का कर्त्ता और भोक्ता माना जाता है, तो सर्वपदार्थों में सर्वसंकरदोष और सर्वशून्यदोष प्राप्त होता है।

जीव की अशुद्धपरिणति के निमित्त से मूर्त्तद्रव्य स्वयं ही कर्मरूप से परिणम जाता है, यही इस विषय में भ्रम का कारण है।

किन्तु इसका यह समाधान है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्त्ता है, परभाव निमित्तमात्र होने पर भी उसका कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि कुम्हार घट का कर्त्ता है—यह लोकव्यवहार होता है, इसे कैसे रोका जा सकता है? सो इस पर यह कहना है कि यदि ऐसा व्यवहार होता है तो होने दो, इससे हमारी क्या हानि है अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है, क्योंकि यह लोकव्यवहार नयाभास है।"

तीसरे नयाभास का स्वरूप पंचाध्यायी में इसप्रकार दिया गया है :-

**"अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः ।**
**यदबद्धेऽपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोऽपि भवति यथा ।।**
**सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च ।**
**स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ।।**
**ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।**
**असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ।।**

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५७२ से ५७६;
[2] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५७९

**सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।**
**सति बहिरर्थेऽपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ।।**[1]

कुछ अन्य दुर्मति मिथ्यादृष्टी जीव इसप्रकार मिथ्या बात करते हैं कि परपदार्थ जीव के साथ बँधा हुआ नहीं है, उसका भी जीव कर्त्ता-भोक्ता है।

जैसेः—सातावेदनीय के उदय में निमित्त हुए घर, धन, धान्य, स्त्री और पुत्र आदिक भावों का यह जीव ही स्वयं कर्त्ता है और यह जीव ही उनका भोक्ता है।

**शंका** :—यह बात हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि घर और स्त्री आदि के रहने पर प्राणियों को सुख होता है; और उनके अभाव में सुख नहीं होता है, इसलिए यह जीव ही उनका कर्त्ता है और यह जीव ही उनका भोक्ता है—यदि ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है?

**समाधान** :—यह कहना ठीक है तो भी यह वैषयिक सुख पर होता हुआ भी पर की अपेक्षा से उत्पन्न नहीं होता है; क्योंकि धन, स्त्री आदि परपदार्थों के रहने पर भी वे किन्हीं के लिए ही दुख के कारण देखे जाते हैं। अतः घर, स्त्री आदि का कर्त्ता और भोक्ता जीव को मानना उचित नहीं है।"

चौथे नयाभास का स्वरूप पंचाध्यायी के अनुसार इसप्रकार है :—

**"अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसंबंधः ।**
**ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ।।**
**चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा ।**
**ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ।।**[2]

ज्ञान और ज्ञेय का जो परस्पर बोध्य-बोधक संबंध है, उसके कारण ज्ञान को ज्ञेयगत और ज्ञेय को ज्ञानगत मानना भी नयाभास है।

क्योंकि जिसप्रकार चक्षु रूप को देखती है, तथापि वह रूप में चली नहीं जाती, किन्तु चक्षु ही रहती है। उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है, तथापि वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञान ही रहता है।"

पंचाध्यायी में निरूपित उक्त चार नयाभासों के स्वरूप और विषयवस्तु पर सम्यक् दृष्टिपात करने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्यत्र जो विषय अनुपचरित और उपचरित असद्भूतव्यवहारनय के बताये गये हैं, उन्हें ही पंचाध्यायी में चार नयाभासों में विभाजित कर दिया गया है।

---

[1] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५८० मे ५८३
[2] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय श्लोक ५८५ मे ५८६

अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय को लेकर प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ नयाभास तथा उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को लेकर तृतीय नयाभास निरूपित है।

प्रथम नयाभास में संश्लेषसहित पदार्थों के एकत्व को तथा दूसरे नयाभास में उन्हीं के कर्ता-कर्म संबंध को ग्रहण किया गया है। तीसरे नयाभास में संश्लेषरहित पदार्थों के कर्तृत्व को ग्रहण किया गया है तथा चौथा नयाभास बोध्य-बोधक संबंध को लेकर बताया गया। बोध्य-बोधक संबंध को अन्यत्र अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय में लिया गया है।

इसप्रकार प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ नयाभास अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय के विषय को लेकर एवं तृतीय नयाभास उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय के विषय को लेकर कहे गये हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यवहारनय और उनके भेद-प्रभेदों के स्वरूप तथा विषयवस्तु के संबंध में जिनवाणी में दो शैलियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें हम अपनी सुविधा के लिए निम्नलिखित नामों से अभिहित कर सकते हैं :–

(१) नयचक्रादि ग्रंथों से प्राप्त शैली,
(२) पंचाध्यायी में प्राप्त शैली।

इसीप्रकार की विभिन्नता निश्चयनय के संबंध में भी पाई जाती है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। दोनों ही प्रसंगों पर पंचाध्यायीकार अपनी बात को सयुक्तिक प्रस्तुत करते हुए भिन्न मत रखने वालों के प्रति 'दुर्मति', मिथ्यादृष्टी आदि शब्दों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। जहाँ एक ओर वे निश्चयनय के भेद माननेवालों को मिथ्यादृष्टी घोषित करते हैं, वहीं दूसरी ओर संश्लेषसहित और संश्लेषरहित संबंधों को अनुपचरित और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय का विषय मानने वालों को भी वे उसी श्रेणी में रखते दिखाई देते हैं।

जिसप्रकार तर्क-वितर्कपूर्वक उन्होंने अपने विषय को प्रस्तुत किया है, उससे यह प्रतीत तो नहीं होता कि अपरपक्ष से वे अपरिचित थे। जिन तर्कों के आधार पर जिनागम में ही अन्यत्र अपरपक्ष प्रस्तुत किया गया है, उन तर्कों को वे स्वयं उठा-उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते दिखाई देते हैं। जबकि प्रथमशैली वाले दूसरी शैली की आलोचना तो दूर, चर्चा तक नहीं करते हैं।

उक्त संदर्भ में दोनों ही शैलियों की तुलनात्मक रूप से सन्तुलित चर्चा अपेक्षित है।

उक्त दोनों ही शैलियाँ आध्यात्मिक शैलियाँ हैं और दोनों ही प्रकार के प्रयोग जिनागम में कहीं भी देखे जा सकते हैं; अतः उन्हें किसी व्यक्तिविशेष या ग्रंथविशेष के नाम से संबोधित करना उचित प्रतीत न होने पर भी काम चलाने के लिए कुछ न कुछ नाम देना तो आवश्यक है ही।

अन्य समस्त आगम और परमागम में तो प्रायः इनके प्रयोग ही पाये जाते हैं, अतः पाठकों की दृष्टि में उतना भेद स्पष्टरूप से भासित नहीं हो पाता, जितना उक्त ग्रंथों के अध्ययन से भासित होता है। इन ग्रंथों में नयों के स्वरूप एवं विषयवस्तु की दृष्टि से सीधा प्रतिपादन है, अतः यह भेद एकदम स्पष्ट हो जाता है। फिर पंचाध्यायीकार तो भिन्नतासंबंधी कथनों को स्वयं उठाउठाकर अपने कथन के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं, अतः भिन्नता उभरकर सामने आ जाती है। उक्त ग्रंथों के नाम पर उक्त शैलियों के नामकरण का एक कारण यह भी है।

अब हम सुविधा के लिये नयचक्रादि ग्रंथों में प्राप्त शैली को प्रथम शैली और पंचाध्यायी में प्राप्त शैली को द्वितीय शैली के नाम से भी अभिहित करेंगे और प्रश्नोत्तरों के माध्यम से इस विषय को स्पष्ट करने का यथासंभव प्रयास करेंगे।

—o—

समाज में त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाला विद्वान् बड़ा पण्डित नहीं; बल्कि पेशेवर पण्डित बड़ा पण्डित माना जाता है, जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके। यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो; जिस देश व समाज में पण्डित और साधुओं के बड़प्पन का नाप ज्ञान और संयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।

इस वृत्ति के कारण समाज और धर्म का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि पण्डितों और साधुओं का ध्यान ज्ञान और संयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है। जहाँ देखो, धर्म के नाम पर विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये हैं।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १२६

# निश्चय-व्यवहार : विविध प्रयोग

## प्रश्नोत्तर

**(१) प्रश्न** :–व्यवहारनय की विषयवस्तु के संबंध में प्राप्त विविध प्रकार के प्रयोगों में जिन दो प्रकार के प्रयोगों की चर्चा की गई है, उनमें बहुत अन्तर दिखाई देता है। प्रथमशैली में जिस वस्तु को विषय करने वाले ज्ञान या वचन को नय कहा गया है, द्वितीयशैली में उसे नयाभास बताया गया है।

परस्पर विरुद्ध होने से दोनों ही कथनों को सत्य कैसे माना जा सकता है?

**उत्तर** :–उक्त दोनों कथनों में विरोध न होकर विवक्षा-भेद है। विरोध तो तब होता, जब दोनों कथनों में से एक को उपादेय और दूसरे को हेय कहा जाता। यहाँ तो दोनों ही शैलियों में देह और मकानादि बाह्य पदार्थों को अपना मानने का निषेध ही किया जा रहा है। प्रथमशैली में उन्हें असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताकर हेय बताया गया है तथा द्वितीयशैली में नयाभास का विषय बताकर हेय बताया गया है।

संयोगरूप दशा में ज्ञान के प्रयोजन की सिद्धि के लिए आपतित-व्यवहार के रूप में दोनों ही शैलियों में उन्हें स्वीकार किया गया है; मात्र अन्तर इतना है कि प्रथमशैली में असद्भूतव्यवहारनय के रूप में तथा द्वितीयशैली में नयाभास के रूप में स्वीकार किया गया है।

देह और मकानादि संयोगी पदार्थों को आत्मा का कहनेवाले कथनों को अथवा देह व मकानादि की क्रिया का कर्त्ता आत्मा को कहनेवाले कथनों को वास्तविक सत्य या पारमार्थिक सत्य के रूप में तो कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है, उन्हें मात्र जानने के लिए प्रयोजनभूत के अर्थ में व्यावहारिक सत्य ही माना गया है, जो कि पारमार्थिक दृष्टि से असत्य ही है।

वस्तु के वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से देखने पर यद्यपि आत्मा और देह को एक कहनेवाले कथन अथवा आत्मा को देहादिक की क्रिया का कर्त्ता कहनेवाले कथन असत्य ही हैं, तथापि जब संयोगरूप दशा की दृष्टि से देखते हैं तो उन्हें सर्वथा असत्य भी नहीं कहा जा सकता है। इसी संयोगरूप दशा का

ज्ञान कराने की दृष्टि से प्रथमशैली उन्हें असद्भूतव्यवहारनय का विषय बताती है तथा द्वितीयशैली नयाभासों के माध्यम से इनका ज्ञान कर लेने की बात कहती है। अन्ततः तो निश्चयनय दोनों का निषेध कर ही देता है।

अतः हम कह सकते हैं कि दोनों शैलियों को आत्मा और देह की एकता अथवा परस्पर कर्त्ता-कर्म संबंध इष्ट नहीं है, तथा आत्मा और देह की वर्त्तमान में जो एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगी अवस्था है, उससे भी किसी को इंकार नहीं है। इसलिए दोनों शैलियों में कोई विरोध नहीं है, मात्र विवक्षा-भेद है।

प्रथमशैली वालों की विवक्षा यह है कि जब संयोग है तो उसे विषय बनानेवाला नय भी होना चाहिये, चाहे वह असद्भूत ही क्यों न हो। द्वितीयशैली वालों की विवक्षा यह है कि जब देह और आत्मा की एकता इष्ट नहीं है, तो उसे विषय बनानेवाले ज्ञान या वचन को नय संज्ञा क्यों हो? रही बात जाननेरूप प्रयोजन की सिद्धि की, सो उक्त प्रयोजन की सिद्धि नयाभास से ही हो जावेगी।

इसप्रकार हम देखते हैं कि उक्त दोनों शैलियों में वस्तुस्थिति के सन्दर्भ में कोई मौलिक मतभेद नहीं है। जो भी मतभिन्नता दिखाई देती है, वह मात्र नामकरण के संबंध में ही है।

प्रथमशैली के पक्ष में तर्क यह है कि जो भी स्थिति जगत में है, उसका ज्ञान करानेवाला या कथन करनेवाला नय अवश्य होना चाहिए; अतः देह और आत्मा के संयोग को जाननेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को नय ही मानना होगा।

देह और आत्मा का संयोग सर्वथा काल्पनिक तो है नहीं, लोक में देह और आत्मा की संयोगरूप अवस्था पाई तो जाती ही है। तथा मकानादि के स्वामित्व का व्यवहार सम्यग्ज्ञानियों के भी पाया जाता है। इसीप्रकार 'जो मिट्टी के घड़े बनाये, वह कुंभकार और जो स्वर्ण के गहने बनाये, वह स्वर्णकार'—इसप्रकार का व्यवहार भी लोक में प्रचलित ही है।

इन्हें किसी भी नय का विषय स्वीकार न करने पर अर्थात् देह और आत्मा के संयोगरूप त्रस-स्थावरादि जीवों को किसी भी अपेक्षा जीव नहीं मानने पर उनकी हिंसा का निषेध किस नय से होगा? तथा ज्ञानियों की दृष्टि में कुम्हार और सुनार का भेद किस नय से होगा? तात्पर्य यह है कि ज्ञानी जन यह कुम्हार है और यह सुनार—ऐसा व्यवहार किस नय के आश्रय से करेंगे?

द्वितीयशैली के पक्ष में जो तर्क जाता है, वह यह है कि देह और आत्मा

के संयोग को देखकर उन्हें एक कहने या जानने में देह में एकत्वबुद्धि हो जाने की संभावना है। अतः ऐसे कथनों को नयकथन कहना श्रेयस्कर नहीं है। रही त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचने की और कुम्हार और सुनार के व्यवहार की बात, सो ये सब बातें तो लौकिक बातें हैं, इनका व्यवहार नयाभासों से ही चल जायेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि अध्यात्म के जोर में ही द्वितीयशैली में संश्लेष सहित और संश्लेषरहित पदार्थों के संयोगादि को विषय बनानेवाले ज्ञान को नयाभास कहा गया है, क्योंकि उन्हें नय न मानने से जो व्यवहारापत्ति खड़ी हुई, उसके निराकरण के लिए उन्हें उपेक्षाबुद्धि से ही सही, पर नयाभासों की शरण में जाना पड़ा।

(२) **प्रश्न** :—क्या अध्यात्म के जोर में भी ऐसे कथन किये जाते हैं? किये जा सकते हैं? क्या परमागम में इसप्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं?

**उत्तर** :—हाँ, हाँ; क्यों नहीं, अवश्य प्राप्त होते हैं; एक नहीं, अनेकों प्राप्त होते हैं। अध्यात्म के जोर में राग को पुद्गल कहा ही जाता है। उक्त कथन के आधार पर कोई राग में रूप, रस, गंध और स्पर्श खोजने लगे तो निराश ही होगा। अथवा कोई ऐसा सोचने लगे कि पुद्गल दो प्रकार का होता होगा— एक रूप-रस-गंधादिवाला और दूसरा इनसे रहित, तो वह सत्य को नहीं पा सकेगा। आत्मा से भिन्न बताने के लिए अध्यात्म के जोर में उसे पुद्गल कहा गया है, वस्तुतः वह पुद्गल नहीं है, है तो वह आत्मा की ही विकारी पर्याय।

इसीप्रकार परजीवों को अजीव कहना, परद्रव्यों को अद्रव्य कहना – आदि कथन भी अध्यात्म के जोर में किये गये कथन हैं। परमागम में इसप्रकार के कथनों की कमी नहीं है। यदि आप परमागम का अध्ययन करेंगे तो इसप्रकार के अनेकों कथन आपको पद-पद पर प्राप्त होंगे।

जब अध्यात्म के जोर में अन्य जीव को अजीव कहा जा सकता है, परद्रव्य को अद्रव्य कहा जा सकता है, राग को पुद्गल कहा जा सकता है; तो फिर देहादि संयोगों को विषय बनाने वाले नयों को नयाभास क्यों नहीं कहा जा सकता है?

अध्यात्म के उक्त कथनों का मर्म समझने के लिए आध्यात्मिक कथनों की विवक्षाओं को गहराई से समझना होगा, अन्यथा अध्यात्म पढ़कर भी आत्मा हाथ नहीं आवेगा।

यदि आप इसप्रकार के कथनों से आश्चर्यचकित होंगे तो फिर

अध्यात्म-जगत में आपको ऐसे अनेकों आश्चर्यों का सामना करना होगा। कहीं आत्मा को सातवाँ द्रव्य लिखा मिलेगा तो कहीं दशवाँ पदार्थ; कहीं पुण्य और पाप दोनों को एक[1] अथवा पुण्य को भी पाप बताया गया होगा[2]! तो कहीं केवलज्ञानादि क्षायिकभावों को परद्रव्य कहकर हेय बताया गया होगा।[3]

इसका तात्पर्य यह नहीं समझना कि आध्यात्मिक कथन ऊटपटांग होते हैं। वे ऊटपटांग तो नहीं, पर अटपटे अवश्य होते हैं। वे कथन किसी विशिष्ट प्रयोजन से किये गये होते हैं, उनके माध्यम से ज्ञानीजन कोई विशिष्ट बात कहना चाहते हैं। हमें उक्त कथनों की गहराई में जाने का प्रयत्न करना चाहिए, उन्हें ऊटपटांग जानकर वैसे ही नहीं छोड़ देना चाहिए, अपितु इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि वे कथन किस विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए किये गये हैं तथा उनकी विवक्षा क्या है?

उक्त कथनों का वजन हमारे ध्यान में आना चाहिए, तभी हम उनके मर्म तक पहुँच सकेंगे। अध्यात्म के जोर में किये गये कथनों का वास्तविक मर्म तो तभी प्राप्त होगा, जबकि अध्यात्म के उक्त जोर में से हम स्वयं गुजरेंगे, पार होंगे और उनका मर्म हमारी अनुभूति का विषय बनेगा।

कबीर की उलटवासियों के समान अध्यात्म के ये कथन अपने भीतर गहरे मर्म छिपाये होते हैं। ये कथन अध्यात्म के रंग में सराबोर अपने में ही मगन ज्ञानियों के अन्तर से सहज प्रस्फुटित होते हैं। इन्हें भाषा और शैलियों की चौखट में फिट करना आसान नहीं है। ये कथन लीक पर चलने के आदी नहीं होते। किसी विशिष्ट लीक पर चलकर इनके मर्म को नहीं पाया जा सकता। मात्र पढ़-पढ़कर इनका मर्म नहीं पाया जा सकता। इनके मर्म को

---

१. पुण्य-पाप अधिकार, (समयसार), प्रवचनसार-गाथा ७७ एवं पुण्य-पाप-एकत्व-द्वार (समयसार नाटक) आदि में इस बात को विस्तार से समझाया गया है।

२.

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु इ को वि मुणेइ ।
जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ।।

पाप को पाप तो सब जानते हैं; परन्तु जो पुण्य को भी पाप जानता है, वह कोई बिरला विद्वान ही होता है।

—योगसार, गाथा ७१

३.

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं ।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे• अप्पा ।।

पूर्वोक्त सर्व भाव (क्षायिक आदि) पर-स्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; इसलिए हेय हैं। अन्तस्तत्त्व स्वद्रव्य आत्मा ही उपादय है।

—नियमसार, गाथा ५०

पाने के लिए अनुभूति की गहराइयों में उतरना होगा।

**(३) प्रश्न** :—यदि ऐसा मान लिया जाय तो समस्या हल हो सकती है कि प्रथमशैली आगम की है और द्वितीयशैली अध्यात्म की?

**उत्तर** :—नहीं, भाई ! यह दोनों ही शैलियाँ अध्यात्म की ही हैं। आगम और अध्यात्म की शैली का अन्तर नहीं जानने के कारण ही आप ऐसी बात करते हैं।

आगम और अध्यात्म शैली में मूलभूत अन्तर यह है कि आगमशैली में नयों का प्रयोग छहों द्रव्यों की मुख्यता से होता है, जबकि अध्यात्मशैली में आत्मा की मुख्यता से नयों का प्रयोग होता है। आगम की शैली में वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन मुख्य रहता है और अध्यात्मशैली में आत्मा के हित की मुख्यता रहती है।

मुख्यरूप से आगम के नय द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत हैं। उपनय भी आगम के नयों में आते हैं, जिनके भेद सद्भूतव्यवहारनय, असदभूतव्यवहारनय और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय हैं।

इसीप्रकार मुख्यरूप से अध्यात्म के नय निश्चय और व्यवहार हैं।

यद्यपि आगम के नयों में भी आत्मा की चर्चा होती है, क्योंकि छह द्रव्यों में आत्मा भी तो आ जाता है; तथापि आगम के नयों में जो आत्मा की चर्चा पाई जाती है, वह वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की मुख्यता से होती है, आत्महित की मुख्यता से नहीं।

यद्यपि वस्तुस्वरूप की समझ भी आत्महित में सहायक होती है, तथापि वस्तुस्वरूप की दृष्टि से किये गये प्रतिपादन और आत्महित की दृष्टि से किये गये प्रतिपादन में शैलीगत अन्तर अवश्य है।

यद्यपि निश्चय-व्यवहारनय मुख्यरूप से अध्यात्म के नय हैं, तथापि जब उनका प्रयोग आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों के सन्दर्भ में होता है, तो आगम के नयों के रूप होता है।

अध्यात्मनयों की चर्चा करते हुए नयचक्र[१], आलापपद्धति और बृहद्द्रव्यसंग्रह[३] में उनके छह भेद गिनाये गये हैं। उनमें दो प्रकार के

---

[१] देवसेनाचार्यकृत श्रुतभवनदीपक नयचक्र, पृष्ठ २५-२६

[२] आलापपद्धति, पृष्ठ २२८

[३] बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा ३ की टीका

निश्चयनय और चार प्रकार के व्यवहारनय। इन्हें निम्नलिखित चार्ट से अच्छी तरह समझा जा सकता है :–

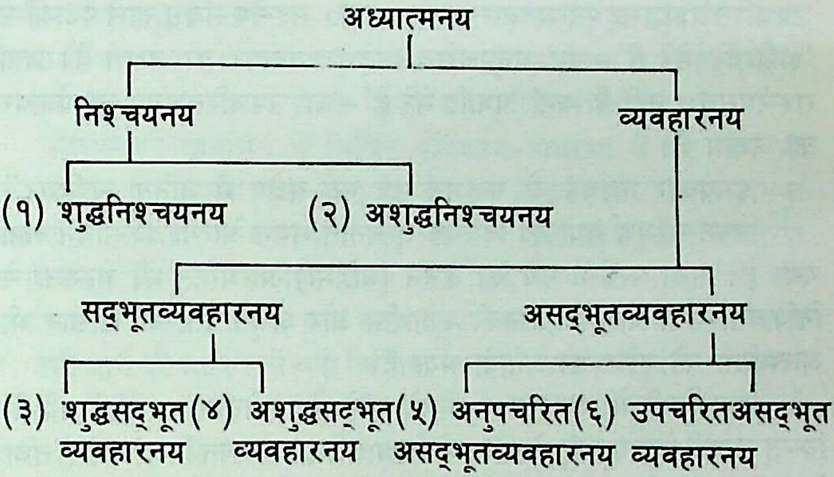
अध्यात्मनय
निश्चयनय
व्यवहारनय
(१) शुद्धनिश्चयनय
(२) अशुद्धनिश्चयनय
सद्भूतव्यवहारनय
असद्भूतव्यवहारनय
(३) शुद्धसद्भूत व्यवहारनय
(४) अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय
(५) अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय
(६) उपचरितअसद्भूत व्यवहारनय

उक्त अध्यात्मनयों का स्वरूप सोदाहरण बृहद्द्रव्यसंग्रह में इसप्रकार दिया गया है :–

**"अथ अध्यात्मभाषया नयलक्षणं कथ्यते।**

**सर्वे जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावाः इति शुद्धनिश्चयनयलक्षणम्। रागादय एव जीवाः इत्यशुद्धनिश्चयनयलक्षणम्। गुणगुणिनोरभेदोऽपि भेदोपचार इति सद्भूतव्यवहारलक्षणम्। भेदेऽपि सत्यभेदोपचार इत्यसद्भूतव्यवहारलक्षणम्। तथाहि–जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणा इत्यनुपचरितसंज्ञशुद्धभूतव्यवहारलक्षणम्। जीवस्य मतिज्ञानादयो विभावगुणा इत्युपचरितसंज्ञाशुद्धसद्भूतव्यवहारलक्षणम्। मदीयो देहमित्यादि संश्लेष संबंध सहित पदार्थः पुनरनुपचरितसंज्ञासद्भूत व्यवहारलक्षणम् यत्र तु संश्लेषसंबन्धो नास्ति तत्र 'मदीयः पुत्र इत्यादि' उपचरिताभिधानासद्भूतव्यवहारलक्षणमिति नयचक्रमूलभूतं संक्षेपेण नयषट्कं ज्ञातव्यमिति।**[1]

अब अध्यात्मभाषा से नयों के लक्षण कहते हैं :–

'सर्व जीव शुद्ध-बुद्ध-एकस्वभाववाले हैं'–यह शुद्धनिश्चयनय का लक्षण है। 'रागादि ही जीव हैं'–यह अशुद्धनिश्चयनय का लक्षण है। 'गुण

---

[1] बृहद्द्रव्य संग्रह, गाथा ३ की टीका

और गुणी अभेद होने पर भी भेद का उपचार करना' – यह सद्भूतव्यवहार का लक्षण है। 'जीव केवलज्ञानादि गुण हैं' – यह अनुपचरितशुद्धसद्भूत व्यवहार का लक्षण है। 'जीव के मतिज्ञानादि विभावगुण हैं' – यह उपचरितअशुद्धसद्भूतव्यवहार का लक्षण है। संश्लेष संबंध वाले पदार्थों में 'शरीरादि मेरे हैं' – यह अनुपचरितअसद्भूतव्यवहार का लक्षण है। जहाँ संश्लेषसंबंध नहीं है, वहाँ 'पुत्रादि मेरे हैं' – यह उपचरितअसद्भूतव्यवहार का लक्षण है।

इसप्रकार नयचक्र के मूलभूत छह नय संक्षेप में जानना चाहिए।''

उक्त सम्पूर्ण नयों की विषयवस्तु बताते समय आत्मा को सामने रखा गया है। तथा प्रत्येक नय का वजन (महिमा) आत्महित की मुख्यता से निश्चित किया गया है। उनकी भूतार्थता और अभूतार्थता का आधार भी आत्महित की दृष्टि को बनाया गया है।

पंचाध्यायी में व्यवहारनय के तो चारों भेद स्वीकार कर लिये गये हैं, किन्तु उनकी विषयवस्तु के संबंध में भिन्न अभिप्राय व्यक्त किया गया है तथा निश्चयनय के भेद स्वीकार नहीं किये गये हैं। इन सबकी चर्चा विस्तार से की ही जा चुकी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये दोनों ही शैलियाँ अध्यात्मशैलियाँ हैं।

**(४) प्रश्न** :– प्रतिपादन चाहे वस्तुस्वरूप की मुख्यता से हो, चाहे आत्महित की मुख्यता से, होगा तो वैसा ही जैसा वस्तु का स्वरूप है, अन्यथा तो हो नहीं सकता। आत्महित भी तो वस्तुस्वरूप की सच्ची समझ से ही होता है। अतः दोनों दृष्टियों से किये गये प्रतिपादन में अन्तर कैसे हो सकता है? यदि होता है तो किसप्रकार का होता है? कृपया उदाहरण देकर समझाइये।

**उत्तर** :– जब हम स्कूल में छात्रों को भारत की परिवहन-व्यवस्था मानचित्र द्वारा समझाते हैं तो हमारी प्रतिपादनशैली जिसप्रकार की होती है, किसी पथिक को रास्ता बताते समय उसप्रकार की नहीं होती। मानचित्र द्वारा परिवहन-व्यवस्था समझाते समय हमारी दृष्टि में सम्पूर्ण भारत रहता है। भारत के प्रमुख नगर, ग्रामादि के साथसाथ परिवहन के विभिन्न साधनों का भी ध्यान रखना होता है। हवाईमार्ग, रेलमार्ग, सड़कें आदि की अपेक्षा सभी बातें विस्तार से बतानी होती हैं, किन्तु रेलवे स्टेशन पर खड़े किसी व्यक्ति द्वारा किसी नगर विशेष को जाने का रास्ता पूछने पर उक्त नगर को जाने वाली उपयुक्त ट्रेन को बता देना ही अभीष्ट होता है। उसके सामने भारत की परिवहन-व्यवस्था संबंधी मानचित्र खोलकर सभी स्थानों के सभी मार्गों को

बताने का उपक्रम नहीं किया जाता हैं।

उसीप्रकार आगम महासागर है। उसमें तो सम्पूर्ण विश्व व उसकी प्रत्येक इकाई का स्वरूप, संरचना, परिणमन-व्यवस्था आदि सभी बातें विस्तार से समझाई जाती हैं। अध्यात्म आगम का ही एक अंग है, उसमें आत्मार्थी को मात्र परमार्थ आत्मा का स्वरूप ही समझाया जाता है, क्योंकि परमार्थ आत्मा के आश्रय से ही मुक्ति की प्राप्ति संभव है।

जिसप्रकार मानचित्र में चित्रित परिवहन-व्यवस्था में वह मार्ग भी निश्चितरूप से दिखाया गया होता है, जो मार्ग कोई विशेष पथिक जानना चाहता है, तथापि विभिन्न मार्गों की भीड़ में उसे खोज पाना साधारण नागरिक के लिए संभव नहीं होता। जब उसी मार्ग की मुख्यता से बने मानचित्र को देखते हैं तो वह मार्ग सर्वसाधारण को भी एकदम स्पष्ट हो जाता है। उसी मार्ग की मुख्यता से बना विशिष्ट मानचित्र यद्यपि परिवहन-व्यवस्था संबंधी मानचित्र का ही अंग होता है, तथापि उसकी रचना कुछ इसप्रकार की होती है कि जिसमें उक्त मार्ग विशेष रूप से प्रकाशित होता है।

उसीप्रकार आगम में भी आत्महितकारी कथन है, तथापि उसमें वस्तुस्वरूप का सभी कोणों से अति विस्तृत प्रतिपादन होने से उसमें से अपनी प्रयोजनभूत बात निकाल लेना सर्वसाधारण के वश की बात नहीं है। आगम के ही एक अंग अध्यात्म में प्रयोजनभूत बात की मुख्यता से ही कथन होने से उसकी बात आत्महित में विशेष हेतु बनती है।

**(५) प्रश्न** :–तो क्या आगम में अप्रयोजनभूत बातों का भी कथन होता है?

**उत्तर** :–क्यों नहीं, अवश्य होता है! प्रयोजनभूत तो जीवादि तत्त्वार्थ ही हैं। शेष सब तो अप्रयोजनभूत ही है। आगम का उद्देश्य तो सम्पूर्ण वस्तुव्यवस्था का विवेचन करना होता है। यदि आगम के सम्पूर्ण कथन को प्रयोजनभूत मानेंगे तो फिर सम्पूर्ण आगम के जानकार को ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा तथा सम्यक्चारित्र सम्यग्दृष्टी को ही होता है, अतः चारित्र भी उसी को होगा। इसप्रकार श्रुतकेवली के अतिरिक्त किसी भी छद्मस्थ को मोक्षमार्ग का आरंभ भी नहीं होगा। अतः यह निश्चित हुआ कि मुक्तिमार्ग की सम्यक् जानकारी के लिए ही नहीं, अपितु उस पर चलने के लिए भी आगम की सम्पूर्ण जानकारी आवश्यक नहीं है; किन्तु अध्यात्म में निरूपित जानकारी अत्यन्त आवश्यक है, उसके बिना मुक्तिमार्ग का आरंभ संभव नहीं है।

**(६) प्रश्न** :–तो क्या फिर आपके अनुसार आगम का अभ्यास करना व्यर्थ है?

**उत्तर** :–नहीं भाई! व्यर्थ नहीं है। हमने तो यह कहा था कि सम्यग्दर्शनादिरूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण आगम का पढ़ना अनिवार्य नहीं है और आप उसे व्यर्थ बताने लगे, वह भी हमारे नाम पर। अध्यात्म भी तो आगम का ही अंग है। अध्यात्म का मर्म जानना अनिवार्य होने से आगम का अध्ययन भी अंशतः अनिवार्य तो हो ही गया, किन्तु सम्पूर्ण आगम का पढ़ना अनिवार्य नहीं है, फिर भी उपयोगी अवश्य है; क्योंकि आगम में सर्वत्र आत्मा को जानने की प्रेरणा दी गई है। आत्महित का प्रेरक होने से उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

दूसरे आगम और अध्यात्म के शास्त्रों में ऐसा कोई विशेष विभाजन भी तो नहीं है कि आगम शास्त्रों में अध्यात्म-चर्चा ही न हो या अध्यात्म शास्त्रों में आगम की बात आती ही न हो, भेद तो मात्र मुख्यता का है। समयसारादि शास्त्रों में अध्यात्म की मुख्यता है और गोम्मटसारादि शास्त्रों में आगम की मुख्यता है। आगम और अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी नहीं, अपितु पूरक हैं। आगम के अध्ययन से अध्यात्म की पुष्टि ही होती है। अतः जितना बन सके आगम का अभ्यास भी अवश्य करना चाहिए।

आगम अध्यात्म के लिए और आगमाभ्यास अध्यात्मियों के लिए आधार प्रदान करता है, उदाहरण प्रस्तुत करता है। आगम और अध्यात्म शैली का भेद आगमाभ्यास के निषेध के लिए नहीं समझाया जा रहा है, अपितु यह भेद इसलिए स्पष्ट किया जा रहा है कि जिससे आप दोनों शैलियों में निरूपित वस्तुस्वरूप का सम्यक्-परिज्ञान कर सकें।

हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि आपके पास समय कम है और बुद्धि का विकास भी कम है तो आपको प्राथमिकता का निर्णय तो करना ही होगा। प्राथमिकता के निर्णय में अध्यात्म को ही मुख्यता देनी होगी, अन्यथा यह अमूल्य नरभव यों ही चला जायेगा।

यदि आप अपनी बुद्धि और समय की कमी के कारण आगम का विस्तृत अभ्यास नहीं कर पाते हैं तो उससे आपको अपना हित करने में विशेष परेशानी तो नहीं होगी, पर इस बहाने आगम के अभ्यास की निरर्थकता सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास न करें।

जिनके पास समय है, बुद्धि भी तीक्ष्ण है और जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही आत्महित के लिए समर्पित कर दिया है, वे लोग भी यदि अध्यात्म

के साथ-साथ आगम का अभ्यास नहीं करेंगे तो फिर कौन करेगा आगम का अभ्यास?

आचार्यकल्प पंडित श्री टोडरमलजी ने चारों ही अनुयोगों के स्वरूप और प्रतिपादन-शैली का विस्तृत विवेचन[1] करते हुए सभी के अध्ययन की उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। विस्तारभय से यहाँ उसे देना संभव नहीं है। जिज्ञासु पाठकों से उसे मूलतः पढ़ने का साग्रह अनुरोध है।

आगम का विरोधी अध्यात्मी नहीं हो सकता, अध्यात्म का विरोधी आगमी नहीं हो सकता। जो आगम का मर्म नहीं जानता, वह अध्यात्म का मर्म भी नहीं जान सकता, और जो अध्यात्म का मर्म नहीं जानता वह आगम का मर्म भी नहीं जान सकता। सम्यग्ज्ञानी आगमी भी है और अध्यात्मी भी तथा मिथ्याज्ञानी आगमी भी नहीं और अध्यात्मी भी नहीं होता।

पंडित श्री बनारसीदासजी 'परमार्थवचनिका' में लिखते हैं :-

''वस्तु का जो स्वभाव उसे आगम कहते हैं, आत्मा का जो अधिकार उसे अध्यात्म कहते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव न आगमी, न अध्यात्मी।

क्यों?

इसलिए कि कथनमात्र तो ग्रंथपाठ के बल से आगम-अध्यात्म का स्वरूप उपदेशमात्र कहता है, आगम-अध्यात्म का स्वरूप सम्यक्-प्रकार से नहीं जानता, इसलिए मूढ़ जीव न आगमी, न अध्यात्मी, निर्वेदकत्वात्।''

(७) **प्रश्नः**—सद्भूतव्यवहारनय, असद्भूतव्यवहारनय और उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को आगम के नयों में भी गिनाया है और अध्यात्म के नयों में भी – इसका क्या कारण है। क्या वे दोनों शैलियों के नय हैं? यदि हाँ तो उनमें परस्पर क्या अन्तर है?

**उत्तर :**—हाँ, ये नय दोनों ही शैलियों में पाये जाते हैं। आगमशैली में उपनय के नाम से तीन भेदों में प्राप्त होते हैं तथा अध्यात्मशैली में व्यवहारनय के भेदप्रभेदों के रूप में चार प्रकार के होते हैं। इन सबकी चर्चा पहले की ही जा चुकी है। अध्यात्मशैली में इनका प्रयोग आत्मा के सन्दर्भ में ही होता है, जबकि आगमशैली में सभी द्रव्यों के सन्दर्भ में इनका प्रयोग पाया जाता है। यही कारण है कि जिसप्रकार आगम के असद्भूतव्यवहारनय में स्वजातीय, विजातीय आदि भेद बनते हैं, उसप्रकार के भेद अध्यात्म के असद्भूतव्यवहारनय में नहीं होते। तथा द्रव्य में द्रव्य का उपचार आदि नौ भेद भी आगम के असद्भूतव्यवहारनय में ही बनते हैं, अध्यात्म के

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, आठवाँ अधिकार

असद्भूतव्यवहारनय में नहीं।

अध्यात्म के नयों के सभी उदाहरण आगम में भी प्राप्त हो सकते हैं, आगम के भी माने जा सकते हैं, क्योंकि अध्यात्म आगम का ही एक अंग है और आत्मा भी छह द्रव्यों में से ही एक द्रव्य है परन्तु आगम के सभी नय अध्यात्म पर भी घटित हों—यह आवश्यक नहीं है।

समस्त लोकालोक को अपने में समेट होने से आगम का क्षेत्र विस्तृत है और उसकी प्रकृति भी विस्तार में जाने की है। मात्र आत्मा तक सीमित होने तथा अपने में ही सिमटने की प्रकृति होने से अध्यात्म के नयों में भेद-प्रभेदों का वैसा विस्तार नहीं पाया जाता, जैसा कि आगम के नयों में पाया जाता है।

आगम फैलने की और अध्यात्म अपने में ही सिमटने की प्रक्रिया का नाम है।

**(८) प्रश्न** :—यदि यह बात है तो फिर आपने अध्यात्मनयों की चर्चा में आगम के इन नयों का उल्लेख क्यों किया? इससे यह भ्रम हो सकता है कि ये भी अध्यात्म के ही नय हैं।

**उत्तर** :—निश्चय-व्यवहार यद्यपि मुख्यरूप से अध्यात्म के नय हैं, तथापि इनका प्रयोग आगम में होता ही न हो—ऐसी बात भी नहीं है। जब निश्चय-व्यवहार का प्रयोग छहों द्रव्यों की मुख्यता से होता है, तब आगम के नयों के रूप में ही होता है तथा आत्मा की मुख्यता से होता है तो अध्यात्म के नयों के रूप में उनका प्रयोग पाया जाता है। अतः ऐसा कहना पूर्णतः सत्य नहीं है कि यह मात्र अध्यात्मनयों की ही चर्चा चल रही है। हाँ यह बात अवश्य है कि निश्चय-व्यवहार की यह चर्चा अध्यात्म की मुख्यता से अवश्य की जा रही है। अतः गौणरूप से की गई आगम के नयों की चर्चा असंगत नहीं है। ग्रन्थ चाहे अध्यात्म के हों अथवा आगम के, अधिकांश ग्रन्थों में आगम और अध्यात्म—दोनों प्रकार के नयों का प्रयोग प्राप्त होता है। उनके अध्ययन करते समय यदि एक ही प्रकार के नयों का ज्ञान हो तो अनेक भ्रम उत्पन्न हो सकते हैं। इसप्रकार के भ्रम उत्पन्न न हो—इसलिए दोनों प्रकार के व्यवहारों का एक साथ स्पष्टीकरण कर देना उचित प्रतीत हुआ। तथा दोनों प्रकार के नयों का स्पष्ट उल्लेख कर देने से किसी भी प्रकार के भ्रम उत्पन्न होने की संभावना स्वतः समाप्त हो जाती है। दोनों की तुलनात्मक स्थिति स्पष्ट करने के लिए भी यही अवसर उपयुक्त था, क्योंकि जब आगे चलकर आगम के नयों की विस्तृत चर्चा होगी, तबतक के लिए इस विषय को यों ही अस्पष्ट

छोड़ देने से अनेक आशंकाएँ अवश्य उत्पन्न हो सकती थीं।

**(९) प्रश्न** :—अध्यात्मनयों में निश्चयनय के दो ही प्रकार बताये हैं, जबकि आपने चार प्रकार के निश्चयनयों की चर्चा की है। क्या इसका भी कोई विशेष कारण है?

**उत्तर** :—अध्यात्मशास्त्रों में शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय के साथ-साथ एकदेशशुद्धनिश्चयनय और परमशुद्धनिश्चयनय शब्दों का भी प्रयोग खुलकर हुआ है; अतः निश्चयनय के भेदों में उनका उल्लेख आवश्यक था, अन्यथा भ्रम उत्पन्न हो सकते थे। ये दोनों भेद शुद्धनिश्चयनय के ही हैं, अतः इन्हें समग्र रूप से शुद्धनिश्चयनय भी कहा जा सकता है। इसलिए निश्चयनय के दो या चार भेद कहने में कोई विरोध या मतभेद की बात नहीं है।

इनका स्पष्टीकरण यथास्थान बहुत विस्तार से किया जा चुका है, अतः उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

**(१०) प्रश्न** :—आत्महित के लिए जिन बातों का जानना अनिवार्य नहीं है—ऐसी अप्रयोजनभूत बातों को आगम में क्यों समझाया गया है?

**उत्तर** :—जबतक कोई दर्शन समग्र वस्तुव्यवस्था पर प्रकाश नहीं डालता, तबतक 'दर्शन' नाम प्राप्त नहीं कर सकता। प्रयोजनभूत तत्त्वों की जानकारी प्राप्त करते समय आत्मार्थी जिज्ञासुओं को भी अप्रयोजनभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में भी सहज जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं, उनका समाधान भी आवश्यक ही है। इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु भी समग्र विश्वव्यवस्था का प्रतिपादन आवश्यक ही है।

जिसप्रकार एक वकील को कानून की जानकारी तो अनिवार्य है, क्योंकि उसके बिना वह वकालात करेगा कैसे? किन्तु अन्य विषयों का ज्ञान होना यद्यपि उसके लिए अनिवार्य नहीं है, तथापि अन्य विषयों का भी सामान्य ज्ञान तो अपेक्षित है ही। उसीप्रकार एक आत्मार्थी को प्रयोजनभूत आत्मा आदि पदार्थों का जानना अनिवार्य है, अन्यथा वह आत्मानुभव करेगा कैसे? किन्तु अप्रयोजनभूत पदार्थों का ज्ञान यद्यपि उसके लिए अनिवार्य नहीं है, तथापि अप्रयोजनभूत पदार्थों का भी सामान्य ज्ञान तो अपेक्षित है ही।

आध्यात्मिक ग्रंथों में प्रतिपादित प्रयोजनभूत शुद्धात्मादि तत्त्व तो आगम, अनुमानादि के साथ-साथ प्रत्यक्षानुभूतिगम्य पदार्थ हैं, किन्तु अप्रयोजनभूत पदार्थ तो अल्पज्ञों द्वारा आगमादि परोक्षज्ञानों द्वारा ही जाने जा सकते हैं; अतः उनका प्रतिपादन भी आवश्यक होने से आगम में उनका

प्रतिपादन किया गया है।

परमात्मा आत्मज्ञ होने के साथ-साथ सर्वज्ञ भी होते हैं तथा प्रत्येक आत्मा भी परमात्मा के समान आत्मज्ञ व सर्वज्ञस्वभावी है। वीतरागी परमात्मा की निरक्षरी दिव्यध्वनि में आत्मा के समान सर्वलोक का प्रतिपादन भी सहज होता है। उस दिव्यध्वनि के आधार पर गणधरदेवादि आचार्य परम्परा द्वारा जिन शास्त्रों का निर्माण होता है, उनमें भी आत्मा के साथ-साथ सर्व लोक का भी प्रतिपादन होता है। उनमें से जिनमें आत्मा आदि प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों की चर्चा होती है, वे अध्यात्मशास्त्र कहे जाते हैं और जिनमें सर्व जगत की व सर्व प्रकार की चर्चाएँ होती हैं, उन्हें आगम कहते हैं। आगम और अध्यात्म — दोनों को मिलाकर भी आगम कहा जाता है।

इसप्रकार आगम और अध्यात्म — दोनों ही भगवान की वाणी हैं। उनमें हीनाधिक का भेद करना उचित नहीं है, तथापि बुद्धि की अल्पता और समय की कमी आदि के अनुसार प्राथमिकता का निर्णय तो करना ही होगा। इस प्रक्रिया में प्रयोजनभूत पदार्थों को सहज प्राथमिकता प्राप्त होने से आत्मार्थी की दृष्टि में आगम की अपेक्षा अध्यात्म को सहज प्राथमिकता प्राप्त हो जाती है। बस बात इतनी ही है, परन्तु इसमें आगम के प्रतिपादन या अध्ययन की निरर्थकता खोजना बुद्धिमानी का काम नहीं है।

**(११) प्रश्न** :—अध्यात्म के नयों में द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा नैगमादि नयों की चर्चा नहीं है, किन्तु आगम में निश्चय-व्यवहार के साथसाथ उक्त नयों की भी चर्चा है। इसका क्या कारण है?

**उत्तर** :—आगम और अध्यात्मशैली में मूलभूत अन्तर यह है कि अध्यात्मशैली की विषयवस्तु आत्मा, आत्मा की विकारी-अविकारी पर्यायें और आत्मा से परवस्तुओं के संबंधमात्र है। आगमशैली की विषयवस्तु छहों प्रकार के समस्त द्रव्य, उनकी पर्यायें और उनके परस्पर के संबंध आदि स्थितियाँ हैं। इसी बात को सूत्ररूप में कहें तो इसप्रकार कह सकते हैं कि आगम का प्रतिपाद्य सन्मात्र वस्तु है और अध्यात्म का प्रतिपाद्य चिन्मात्र वस्तु है।

अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने के लिए अध्यात्म को मात्र तीन बातों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है :—

(१) अभेद अखण्ड चिन्मात्र वस्तु
(२) चिन्मात्र वस्तु का अंतरंग वैभव एवं उपाधियाँ
(३) चिन्मात्र वस्तु का पर से संबंध और उनकी अभूतार्थता।

चिन्मात्र वस्तु के उक्त दृष्टिकोणों से प्रतिपादन के लिए अध्यात्मशैली ने निश्चय-व्यवहारनयों तक ही अपने को सीमित रखा और उक्त तीन बिन्दुओं के स्पष्टीकरण के लिए उसने क्रमशः निश्चयनय, सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूतव्यवहारनय का उपयोग किया है।

आगमशैली को अपनी विषयवस्तु के स्पष्टीकरण के लिए अनेक प्रकार के अनेकों नय स्वीकार करने पड़े, क्योंकि उसका क्षेत्र असीमित है। उसकी सीमा में छहों द्रव्य, उनके गुण और पर्यायें मात्र ही नहीं हैं; अपितु उससे आगे उनके परस्पर संयोग-वियोग, मानसिक संकल्प, लौकिक उपचार, निक्षेपों-संबंधी व्यवहार आदि सब कुछ भी समाहित हैं। यही कारण है कि उसे निश्चय-व्यवहार के अतिरिक्त, द्रव्यों को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय, पर्यायों को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिकनय, संकल्पों को ग्रहण करने वाला नैगमनय, विभिन्न द्रव्यों का संग्रह करनेवाला संग्रहनय, संगृहीत द्रव्यों में भेद करनेवाला व्यवहारनय, एक समय की पर्याय को ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्रनय, शब्दों के प्रयोगों का ग्राहक शब्दनय, रूढ़ियों का ग्राहक समभिरूढनय एवं तात्कालिक क्रियाकलापों को ग्रहण करने वाला एवंभूतनय स्वीकार करना पड़ा। इनके अतिरिक्त उपनय भी हैं। इन सबके भेद-प्रभेदों का बहुत विस्तार है। इन सबकी चर्चा आगे चलकर यथास्थल की ही जावेगी; अतः यहाँ उनके विस्तार में जाना प्रासंगिक न होगा।

**(१२) प्रश्न** :—इसका मतलब तो यह हुआ कि अभी तो बहुत कुछ बाकी है। क्या हमको यह सब समझना होगा? ये सब बातें तो विद्वानों की हैं, हमें इन सबसे क्या? हमारे पास इतना समय नहीं है कि इन सब में माथा मारें, हमें तो सीधा सच्चा मार्ग चाहिए। आप कहें तो चाहे जितना रुपया खर्च कर सकते हैं, पर इन सब चक्करों में पड़ना अपने वश की बात नहीं है। हम तो आत्मार्थी हैं; हमें कोई पण्डित थोड़े ही बनना है, जो इन सबमें उलझें?

**उत्तर** :—भाई! बात तो ऐसी ही है। अभी तो मात्र निश्चय-व्यवहार की ही चर्चा हुई है; द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगमादि सात नय, उपनय तथा प्रवचनसार में समागत ४७ नयों की चर्चा अभी शेष है; पर घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है; मुक्तिमार्ग तो सीधा, सच्चा, सरल और सहज है।

भाई! तुम तो स्वभाव से अनन्तज्ञान के धनी, ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा हो; स्वभाव में भरा अनंतआनंद और अनंतज्ञान पर्याय में भी प्रगट करने अर्थात् पर्याय में भगवान बनने के संकल्पवाले आत्मार्थी बन्धु हो। सर्वज्ञ बनने के आकांक्षी होकर इतना जानने से ही घबड़ाने लगे। ज्ञान का

कोई भार नहीं होता – यह जानते हुए भी ऐसा क्यों कहते हो कि क्या हमें भी यह सब समझना होगा? भाई ! तुम्हें तो मात्र अपना आत्मा ही जानना होगा, शेष सब तो तुम्हारे ज्ञान में झलकेंगे। ये सब तुम्हारे ज्ञान में सहज ही प्रतिबिम्बित हों – क्या इसमें भी तुम्हें ऐतराज है? यदि हाँ तो फिर आप सर्वज्ञ भी क्यों बनना चाहते हैं? क्योंकि सर्वज्ञ बन जाने पर तो लोकालोक के समस्त पदार्थ आपके ज्ञानदर्पण में प्रतिबिम्बित होंगे।

'ये सब बातें तो विद्वानों की हैं, हमें इनसे क्या? हम तो आत्मार्थी हैं।' – ऐसा कहकर आप कहना क्या चाहते हैं? क्या जिनवाणी का अध्ययन-मनन करना मात्र विद्वानों का क़ाम है, आत्मार्थियों का नहीं? क्या विद्वान आत्मार्थी नहीं होते या आत्मार्थी विद्वान नहीं हो सकता? भाई ! सच्चा आत्मार्थी ही वास्तविक विद्वान होता है और जिनवाणी का जानकार विद्वान ही सच्चा आत्मार्थी हो सकता है। जिनवाणी के अध्ययन-मनन में अरुचि प्रगट करनेवाले, जिनवाणी के अध्ययन-मनन को हेय समझनेवाले, विषय-कषाय और धंधा-पानी में अन्धे होकर उलझे रहनेवाले लोग आत्मार्थी नहीं हो सकते।

क्या जिनवाणी का अध्ययन उलझना है और पण्डित बनना कोई पाप है, जो आप ऐसा कहते हैं कि हमें कोई पण्डित थोड़े ही बनना है जो इनमें उलझें। अरे, पण्डित बन जाओगे तो कोई नरक में नहीं चले जाओगे। जिनवाणी का अध्ययन उलझना नहीं, सुलझना है और पण्डित बनना हीनता की नहीं, गौरव की बात है। लगता है कि 'पण्डित' शब्द का वास्तविक अर्थ आप नहीं जानते, इसीलिए ऐसी बातें करते हैं। आत्मज्ञानी ही वास्तविक पण्डित होते हैं। बनारसीदासजी, टोडरमलजी और समयसार के हिन्दी टीकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भी तो पण्डित ही थे।

'आप कहें तो चाहे जितना खर्च कर सकते हैं, पर इनमें उलझना अपने वश की बात नहीं है।' – इस कथन में आपकी यह मान्यता ही स्पष्ट होती है कि दुनियाँ की सब चीजें धन से प्राप्त की जा सकती हैं। पर ध्यान रखिए ! ज्ञानस्वभावी आत्मा ज्ञान से ही प्राप्त होगा, धन से नहीं। यहाँ आपका धन किसी काम नहीं आयेगा। यदि आप जिनवाणी के अध्ययन को उलझना समझते हैं तो आपको ज्ञानस्वभावी आत्मा कभी समझ में नहीं आयेगा।

तथा 'हमारे पास इतना समय नहीं है, जो इसमें माथा मारें। हमें तो सीधा-सच्चा मार्ग चाहिए।' – यह कहना भी कितना हास्यास्पद है ! समय नहीं है। अरे ! कहाँ चला गया है समय? दिन-रात में तो वही चौबीस घण्टे ही

हो रहे हैं। यह कहिए न कि विषय-कषाय से फुरसत नहीं है, धूल-मिट्टी जोड़ने से फुरसत नहीं है। परन्तु भाई ! ये सब निगोद के रास्ते हैं, नरक के रास्ते हैं; इनसे समय निकालना ही होगा। धन्धे-पानी और विषय-कषाय में उपयोग बरबाद करने को ज्ञान का सदुपयोग और आगम के अध्ययन को माथा मारना कहनेवालों का हम क्या कहें?

'हमें तो सीधा-सच्चा मार्ग चाहिए।' भाई ! मार्ग तो सीधा-सच्चा ही है। तुमने अपनी अरुचि से उसे दुर्गम मान रखा है या फिर धर्म के नाम पर धन्धा करनेवालों ने तुम्हें बहका रखा है, जो ऐसी बातें करते हो।

शान्त होवो ! धैर्य से सुनो ! सब-कुछ समझ में आवेगा ! सब-कुछ सहज है। जिनवाणी में सर्वत्र सुलझाव ही सुलझाव है, कहीं कोई उलझाव नहीं है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि आपकी बुद्धि मन्द है और शक्ति क्षीण है तो जितना बन सके, उतना स्वाध्याय करो; पर जिनवाणी के अध्ययन-मनन को व्यर्थ तो न बताओ। उसके अध्ययन-मनन करने में जीवन लगा देनेवालों को निठल्ला तो मत समझो। बहाने न बनाओ, जितना बन सके उतना जिनागम का अभ्यास अवश्य करो, तुम्हारा कल्याण भी अवश्य होगा।

**(१३) प्रश्न** :—लगता है, आप नाराज हो गये हैं?

**उत्तर** :—नाराज होने की बात नहीं है भाई ! पर यह बात अवश्य है कि यदि कोई बात समझ में न आवे तो उपयोग और अधिक स्थिर करके समझना चाहिए, समझने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी न आवे तो जिज्ञासाभाव से विनयपूर्वक पूछना चाहिए। पर यह कहाँ तक ठीक है कि यदि हमारी समझ में कोई बात नहीं आती है, तो हम उसे निरर्थक ही बताने लगें?

**(१४) प्रश्न** :—तो आखिर आप चाहते क्या हैं?

**उत्तर** :—कुछ नहीं, मात्र यह कि सम्पूर्ण जगत जितना बन सके, जिनवाणी का अभ्यास करे। क्योंकि सच्चे सुख और शान्ति की मार्गदर्शक यह नित्यबोधक वीतरागवाणी ही है, जिनवाणी ही है। इस निकृष्टकाल में साक्षात् वीतरागी-सर्वज्ञ परमात्मा का तो विरह है, अतः उनकी दिव्यध्वनि के श्रवण का साक्षात् लाभ मिलना संभव नहीं है। सन्मार्गदर्शक सच्चे गुरुओं की भी विरलता ही समझो। हमारे परमसद्भाग्य से एकमात्र जिनवाणी ही है, जो सदा; सर्वत्र, सभी को सहज उपलब्ध है। यदि हम बहानेबाजी करके उसकी भी उपेक्षा करेंगे तो समझ लेना कि चारगति और चौरासी लाख योनियों में भटकते-भटकते कहीं ठिकाना न लगेगा।

धर्मपिता सर्वज्ञ परमात्मा के विरह में एक जिनवाणी माता ही शरण है। उसकी उपेक्षा हमें अनाथ बना देगी। आज तो उसकी उपासना ही मानों जिनभक्ति, गुरुभक्ति और श्रुतभक्ति है। उपादान के रूप में निजात्मा और निमित्त के रूप में जिनवाणी ही आज हमारा सर्वस्व है। निश्चय से जो कुछ भी हमारे पास है, उसे निजात्मा में और व्यवहार से जो कुछ भी बुद्धि, बल, समय और धन आदि हमारे पास हैं, उन्हें जिनवाणी माता की उपासना, अध्ययन, मनन, चिन्तन, संरक्षण, प्रकाशन, प्रचार व प्रसार में ही लगा देने में इस मानवजीवन एवं जैनकुल में उत्पन्न होने की सार्थकता है।

अतः विषय-कषाय, व्यापार-धन्धा और व्यर्थ के वादविवादों से समय निकालकर वीतरागवाणी का अध्ययन करो, मनन करो, चिन्तन करो, बन सको तो दूसरों को भी पढ़ाओ, पढ़ने की प्रेरणा दो, इसे जन-जन तक पहुँचाओ, घर-घर में बसाओ। स्वयं न कर सको तो यह काम करनेवालों को सहयोग अवश्य करो। वह भी न कर सको तो कम से कम इस भले काम की अनुमोदना ही करो। बुरी होनहार से यह भी संभव न हो तो कम से कम इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। इस काम में लगे लोगों की टाँग तो मत खींचो। इसके अध्ययन-मनन को निरर्थक तो मत बताओ। इसके विरुद्ध वातावरण तो मत बनाओ। यदि आप इस महान कार्य को नहीं कर सकते, करने के लिए लोगों को प्रेरणा नहीं दे सकते, तो कम से कम इस कार्य में लगे लोगों को निरुत्साहित तो मत करो, उनकी खिल्ली तो मत उड़ाओ। आपका इतना सहयोग ही हमें पर्याप्त होगा।

आशा है आप हमारी बात पर गम्भीरता से विचार करेंगे। यदि आपने हमारे दर्द को पहिचानने का यत्न किया और हमारी बात को गम्भीरता से लिया तो सहज ही यह समझ में आ जावेगा कि आखिर हम चाहते क्या हैं?

**प्रश्न** :—हमने जिनवाणी के अध्ययन-मनन का निषेध कब किया है? हमने तो इन नयों के चक्कर में न उलझने की बात कही थी?

**उत्तर** :—भाई ! नयों के अध्ययन मनन को चक्कर मत कहो। यह चक्कर नहीं, चौरासी के चक्कर से उबरने का मार्ग है। जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है कि समस्त जिनवाणी नयों की भाषा में निबद्ध है; अतः जिनवाणी का वास्तविक मर्म जानने केलिए नयों का स्वरूप भी जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जिनवाणी के व्याख्याकारों में आज जितने भी विवाद दिखाई देते हैं, वे सब नयों के सम्यक्परिज्ञान के अभाव में ही हैं। अतः जितना बन सके, नयों का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यदि विशेष विस्तार में न जा सको तो

सामान्य अभ्यास तो अवश्य ही करना चाहिए। अन्यथा जिनवाणी में गोता लगाने पर भी कुछ हाथ न आवेगा। इसके अध्ययन के जितने विस्तार और गहराई में जाओगे, ज्ञान में उतनी ही निर्मलता बढ़ेगी; अतः बुद्धि, शक्ति और समय के अनुसार इसका गहराई से अध्ययन करने में कृपणता (कंजूसी) नहीं करना।

सभी आत्मार्थी इनके सम्यक्-अभ्यास-पूर्वक आत्मानुभूति प्राप्त करें – इस भावना से नयचक्र की निम्नांकित गाथा का स्मरण करते-कराते हुए निश्चय-व्यवहार के विस्तार से विराम लेता हूँ :–

**"जइ इच्छह उत्तरिदुं अण्णाणमहोवहिं सुलीलाए ।**
**ता णादुं कुणह मइं णयचक्के दुणयतिमिरमत्तण्डे ।।**[1]

यदि लीलामात्र से अज्ञानरूपी सागर को पार करने की इच्छा है तो दुर्नयरूपी अंधकार के लिए सूर्य के समान इस नयचक्र को जानने में अपनी बुद्धि लगाओ।

—o—

अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दों में नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्दजाल और वाक्विलास से परे है। यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है। यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है। अतः समस्त परपदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठनेवाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झाँक ! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख ! देख !! देख !!!

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७६

---

[1] १. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ४१९

### तृतीय अध्याय

# द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

## द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक : स्वरूप और विषय-वस्तु

मूलनयों की चर्चा करते समय निश्चय-व्यवहार के साथ ही द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की चर्चा भी मूलनयों के रूप में की गई थी। उनमें से निश्चय-व्यवहार की चर्चा तो अपेक्षित विस्तार के साथ हो चुकी है। अब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्य एवं विशेष अंश को पर्याय कहते हैं। यही कारण है कि वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय और विशेष अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान के अंश को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है तथा दोनों अंशों को एक साथ ग्रहण करनेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि वस्तु का सामान्यांश द्रव्यार्थिकनय का, विशेषांश पर्यायार्थिकनय का एवं जिसमें सामान्य और विशेष दोनों अंश गर्भित हैं - ऐसी सामान्य-विशेषात्मक सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण का विषय है। जैसा कि कहा भी गया है:—

"**सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः**[1]

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है।"

प्रमाण, नय और निक्षेप का विषय बताते हुए नयचक्रकार लिखते हैं:—

"**वत्थू पमाणविसयं णयविसयं हवई वत्थुएकंसं ।**
**जं दोहि णिण्णयट्ठं तं निक्खेवे हवइ विसयं ।।**[2]

वस्तु प्रमाण का विषय है और वस्तु का एक अंश नय का विषय है। तथा जो अर्थ प्रमाण और नय से निर्णीत होता है, वह निक्षेप का विषय है।"

प्रमाण की विषयभूत प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक के समान नित्यानित्यात्मक, एकानेकात्मक एवं भेदाभेदात्मक भी है। उसमें द्रव्यार्थिकनय का विषय बननेवाला वस्तु का सामान्यांश नित्य, एक एवं

---

[1] परीक्षामुख, चतुर्थ परिच्छेद सूत्र १

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १७१

अभेदस्वरूप तथा पर्यायार्थिकनय का विषय बननेवाला विशेषांश अनित्य, अनेक एवं भेदस्वरूप है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्यार्थिकनय का विषय सामान्य, एक, नित्य एवं अभेदस्वरूप वस्त्वंश है तथा पर्यायार्थिकनय का विषय विशेष, अनेक, अनित्य एवं भेदस्वरूप वस्त्वंश है। जिसमें उपर्युक्त सब-कुछ समाहित है, वह वस्तु प्रमाण का विषय है अर्थात् सामान्य-विशेषात्मक, एकानेकात्मक, नित्यानित्यात्मक एवं भेदाभेदात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है।

यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा विचार करें तो प्रमाण की विषयभूत वस्तु द्रव्य की अपेक्षा सामान्य-विशेषात्मक, क्षेत्र की अपेक्षा भेदाभेदात्मक, काल की अपेक्षा नित्यानित्यात्मक एवं भाव की अपेक्षा एकानेकात्मक है।

प्रमाण की विषयभूत उक्त वस्तु के द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश में एवं पर्यायार्थिकनय के विषयभूत पर्यायांश में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा विचार करें तो द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश में सामान्यत्व, अभेदत्व, नित्यत्व एवं एकत्व समाहित रहता है तथा पर्यायार्थिकनय के विषयभूत पर्यायांश में विशेषत्व, भेदत्व, अनित्यत्व एवं अनेकत्व समाहित रहता है।

इसी विशेषता के कारण द्रव्यार्थिकनय के विषय को द्रव्य, सामान्य, अभेद, नित्य एवं एक तथा पर्यायार्थिकनय के विषय को पर्याय, विशेष, भेद, अनित्य एवं अनेक आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि उक्त नयों के सन्दर्भ में द्रव्य, सामान्य, अभेद, नित्य और एक—ये सभी विशेषण विभिन्न अपेक्षाओं से द्रव्यार्थिकनय का विषय होने से एकार्थवाची हो गये अर्थात् 'द्रव्य' पद के ही पर्यायवाची रूप हो गये। इसीप्रकार पर्याय, विशेष, भेद, अनित्य एवं अनेक—ये सभी विशेषण विभिन्न अपेक्षाओं से पर्यायार्थिकनय का विषय होने से एकार्थवाची हो गये अर्थात् 'पर्याय' पद के ही पर्यायवाची रूप हो गये।

यद्यपि एक दृष्टि से उपर्युक्त शब्द एकार्थवाची हैं, तथापि विभिन्न अपेक्षाओं से प्रयुक्त होने के कारण अपना भिन्न-भिन्न भाव भी व्यक्त करते हैं—इस बात को हमें नहीं भूलना चाहिए। जैसे जब हम यह कहें कि वस्तु पर्यायार्थिकनय से अनेकस्वरूप है तो समझना चाहिए कि पर्यायार्थिकनय का यह प्रयोग भाव की अपेक्षा किया गया प्रयोग है और इसमें वक्ता का अभिप्राय पर्यायार्थिकनय से भावसंबंधी विशेषता बताना है। इसीप्रकार जब हम यह

कहें कि वस्तु पर्यायार्थिकनय से अनित्य है तो समझना चाहिए कि पर्यायार्थिकनय का यह प्रयोग काल की अपेक्षा किया गया प्रयोग है और इसमें वक्ता का अभिप्राय कालसंबंधी विशेषता बताना है।

जिसप्रकार यहाँ भावसंबंधी एवं कालसंबंधी विशेषताओं को उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है, उसीप्रकार क्षेत्रसंबंधी एवं द्रव्यसंबंधी विशेषताओं को भी समझ लेना चाहिए तथा जिसप्रकार यहाँ पर्यायार्थिकनय का उदाहरण देकर बात स्पष्ट की गई है, उसीप्रकार द्रव्यार्थिकनय पर भी घटित कर लेना चाहिए।

यद्यपि द्रव्यार्थिकनय के विषय की 'सामान्य', 'अभेद', 'नित्य' एवं 'एक' संज्ञाएँ भी हैं; तथापि 'द्रव्य' यह संज्ञा अधिक वजनदार है। इसीप्रकार पर्यायार्थिकनय के विषय की भी यद्यपि 'विशेष', 'भेद', 'अनित्य' एवं 'अनेक' संज्ञाएँ भी हैं; तथापि 'पर्याय' यह संज्ञा अधिक वजनदार है, क्योंकि इन 'द्रव्य' और 'पर्याय' संज्ञाओं के कारण ही तो इन नयों के नाम द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक पड़े हैं।

अतः यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकरण में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय के विषय की 'द्रव्य' एवं पर्यायार्थिकनय के विषय की 'पर्याय' संज्ञा जिनवाणी को अभीष्ट है। यहाँ 'द्रव्य' और 'पर्याय' शब्दों के अर्थ '**गुणपर्ययवद्द्रव्यम्**[1] और '**तद्भावः परिणामः**[2]' न होकर द्रव्यार्थिकनय का विषय 'द्रव्य' एवं पर्यायार्थिकनय का विषय; 'पर्याय' अपेक्षित हैं। 'द्रव्य' माने द्रव्यार्थिकनय का विषय; वह चाहे जो कुछ भी हो; सामान्य हो, अभेद हो, नित्य हो, एक हो, कुछ भी हो; वही अभिप्रेत है। इसीप्रकार 'पर्याय' माने पर्यायार्थिकनय का विषय; वह चाहे जो कुछ भी हो; विशेष हो, भेद हो, अनित्य हो, अनेक हो; कुछ भी हो; वही 'पर्याय' शब्द से अभिप्रेत है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान रखने की यह भी है कि यद्यपि यहाँ द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश को 'द्रव्य' कहा जा रहा है तथा आगम में भी इस प्रकरण में प्रायः इसी अर्थ में इसका प्रयोग पाया जाता है; तथापि आगम में ही कहीं-कहीं सामान्य-विशेषतात्मक अर्थात् द्रव्य-पर्यायात्मकप्रमाण की विषयभूत सम्पूर्ण वस्तु को भी 'द्रव्य' कह दिया जाता है।

अतः यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि स्थानविशेष पर 'द्रव्य'

---

[1] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५, सूत्र ३८

[2] वही, अध्याय ५, सूत्र ४२

शब्द का जो प्रयोग किया जा रहा है, वह द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश के सन्दर्भ में है या प्रमाण की विषयभूत वस्तु के सन्दर्भ में। इसी बात की स्पष्टता के लिए कभी-कभी सम्पूर्ण वस्तु को प्रमाण का द्रव्य एवं द्रव्यांश को द्रव्यार्थिकनय का द्रव्य भी कह दिया जाता है।

'द्रव्यांश' शब्द का अर्थ 'द्रव्य का अंश' नहीं होता, अपितु वस्तु का वह अंश जिसे 'द्रव्य' कहा जाता है, होता है।

आगम और परमागम में प्राप्त द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों के विविध प्रयोगों को सही रूप में समझने के लिए उपर्युक्त जानकारी अत्यन्त आवश्यक है।

अब हम इस आशा के साथ कि 'द्रव्य' और 'पर्याय' शब्द के जो अर्थ ऊपर बताये गये हैं, आप उन्हें ही ग्रहण करेंगे, आगम और परमागम में समागत द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं।

'नयचक्र' में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों की परिभाषा इसप्रकार दी गई है:–

**"पज्जय गउणं किच्चा दव्वं पिय जो हु गिह्णइ लोए ।**
**सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिणओ ।।**[1]

पर्याय को गौण करके जो द्रव्य को ग्रहण करता है, वह द्रव्यार्थिकनय है और उससे विपरीत पर्यायार्थिकनय है अर्थात् द्रव्य को गौण करके जो पर्याय को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिकनय है।"

समयसार की 'आत्मख्याति' नामक टीका में इन दोनों नयों की चर्चा इसप्रकार है:–

**"तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः ।**[2]

द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु में जो मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव कराये, वह द्रव्यार्थिकनय है और जो मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव कराये, वह पर्यायार्थिक नय है।"

उक्त परिभाषाओं पर गहराई से दृष्टि डालने पर एक बात हाथ पर रखे हुए आँवले की भाँति स्पष्ट होती है कि इन दोनों नयों का विषय एक वस्तु की मर्यादा के भीतर है। यद्यपि एक-एक करके प्रत्येक वस्तु उसके विषय में

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १८९

[2] समयसार गाथा १३ की 'आत्मख्याति' टीका

समाहित हो जाती है तथा विभिन्न वस्तुओं का सत्सामान्य या चित्सामान्य की अपेक्षा भी समाहार होता है, जिसकी चर्चा आगे चलकर यथास्थान विस्तार से होगी; तथापि इन नयों का मूलकार्य समस्त वस्तुओं को मिलाकर देखने की अपेक्षा मुख्यरूप से प्रत्येक वस्तु को उसके विभिन्न पक्षों से देखना है, प्रकाशित करना है।

चूँकि वस्तु के मूलपक्ष दो हैं:—द्रव्य और पर्याय; अतः उन्हें ग्रहण करनेवाले मूलनय भी दो हैं:—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए 'आत्मख्याति' में '**द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि**' पद का प्रयोग किया गया है। '**वस्तुनि**' पद में सप्तमी विभक्ति के एकवचन का प्रयोग कर यह स्पष्ट किया है कि इन नयों का प्रयोग एक वस्तु में होता है और '**द्रव्यपर्यायात्मके**' पद द्वारा उस एक वस्तु के भीतर होनेवाले दो पक्षों का निर्देश कर उन्हें स्पष्ट कर दिया है।

मुख्यतया अनुभावयति अर्थात् मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव करावे—यह कहकर 'आत्मख्याति' में अनुक्तरूप से पर्याय को गौण किया है, जबकि नयचक्र में गउणं किच्चा अर्थात् गौण करके कहकर अपरपक्ष की गौणता को मुखरित कर दिया गया है। इसप्रकार ध्यान रखने की बात यह है कि नय अपरपक्ष को गौण करते हैं, अभाव नहीं।

द्रव्यार्थिकनय के प्रकरण में जो स्थिति पर्याय की है, पर्यायार्थिकनय के प्रकरण में वही स्थिति द्रव्य की समझ लेना चाहिए।

इसप्रकार यह प्रतिफलित होता है कि प्रमाण के विषय में मुख्य-गौण की व्यवस्था नहीं है, क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण वस्तु है। अतः उसके विषय में वस्तु के दोनों अंश ही मुख्य रहते हैं। नयों का विषय वस्तु का अंश बनता है। अतः जिस वस्तु का जो अंश जिस नय का विषय बनता है, वह अंश मुख्य होता है, शेष अंश गौण रहते हैं। मुख्य अंश को विवक्षित अंश और गौण अंश को अविवक्षित अंश भी कहते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि वस्तु के द्रव्यांश को जानने/बतानेवाला द्रव्यार्थिकनय है एवं पर्यायांश को जानने/बतानेवाला पर्यायार्थिकनय है।

'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में कुछ नई बात भी की गई है। उसमें द्रव्यांश को 'अंशी' और पर्यायांश को 'अंश' शब्द से अभिहित किया गया है तथा साफ-साफ लिखा है कि जिस अंशी में अंशी के सभी अंश गौण हो जाते हैं, वह अंशी द्रव्यार्थिकनय का विषय है।

'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' का मूलकथन इसप्रकार है:—

"तन्नांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ ।
द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ।।[1]

जिस अंशी या धर्मी में उसके सब अंश या धर्म गौण हो जाते हैं, उस अंशी में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की ही प्रवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा अंशी द्रव्यार्थिकनय का विषय है।"

इस कथन से ऐसा भ्रम हो सकता है कि अंशी को तो प्रमाण का विषय होना चाहिए, यहाँ उसे द्रव्यार्थिकनय का विषय क्यों बताया जा रहा है?

यहाँ जिस अंशी को द्रव्यार्थिकनय का विषय बताया जा रहा है, वह अंशी भी वस्तु का एक अंश ही है, सम्पूर्ण वस्तु नहीं। सम्पूर्ण वस्तु तो अंश और अंशी मिलकर बनती है।

वस्तुतः बात यह है कि 'द्रव्य' शब्द के समान 'अंशी' शब्द भी दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'द्रव्य' के सन्दर्भ में इस बात को पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ जो अंशी अपेक्षित है, वह द्रव्यार्थिकनय के द्रव्य के स्थान पर है तथा इस अंशी और अंश के सम्मिलित रूप जो अंशी है, उसे प्रमाण के द्रव्य के स्थान पर समझना चाहिए।

यह तो आपको पहले ही बताया जा चुका है कि मुख्यता और गौणता नय के विषय में ही होती है, प्रमाण के विषय में नहीं। 'श्लोकवार्तिक' के इस कथन में स्पष्ट लिखा है कि जिस अंशी में उसके सब अंश गौण हो जाते हैं, वह अंशी द्रव्यार्थिकनय का विषय है। प्रमाण के विषयभूत अंशी में कोई भी अंश गौण नहीं होता, सभी अंश मुख्य रहते हैं। प्रमाण के विषय में मुख्य-गौणता की व्यवस्था नहीं है – इसका अर्थ ही यह है कि सभी अंश मुख्य हैं, अंशों के समूहरूप अंशी भी मुख्य है, कोई भी गौण नहीं है।

उक्त कथन की विशेष स्पष्टता के लिए 'श्लोकवार्तिक' के उक्त कथन का पूर्वापर सन्दर्भ देख लेना उपयुक्त होगा, जो कि इसप्रकार है:–

"जैसे अंशी – वस्तु में प्रवृत्ति करनेवाले ज्ञान को प्रमाण माना जाता है, वैसे ही वस्तु के अंश में प्रवृत्ति करनेवाले अर्थात् जाननेवाले नय को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता? अतः नय प्रमाणस्वरूप ही है।

उक्त आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि जिस अंशी या धर्मी में उसके सब अंश या धर्म गौण हो जाते हैं, उस अंशी में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की प्रवृत्ति होती है; अर्थात् ऐसा अंशी द्रव्यार्थिकनय का विषय है; अतः उसका

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ८

ज्ञान नय है। और धर्म तथा धर्मी के समूहरूप वस्तु के धर्मों और धर्मी दोनों को प्रधानरूप से जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अतः नय प्रमाण से भिन्न हैं।[1]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्यार्थिकनय के विषयरूप अंशी में उसके सभी अंश गौण हैं और प्रमाण के विषयरूप अंशी में अंशी के साथ वे अंश भी मुख्यरूप से ही विषय बनते हैं।

यह बात सर्वत्र विशेष ध्यान रखने योग्य है, अन्यथा सर्वत्र शंकाएँ-आशंकाएँ खड़ी होती रहेंगी।

इस सन्दर्भ में 'प्रवचनसार' ग्रन्थ की ११४ वीं गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका भी द्रष्टव्य है, जिसका हिन्दी अनुवाद इसप्रकार हैः–

''वस्तुतः सभी वस्तुओं के सामान्य-विशेषात्मक होने से वस्तु का स्वरूप देखनेवालों के क्रमशः सामान्य और विशेष को जाननेवाली दो आँखें हैं :– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

इनमें से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व एवं सिद्धत्व पर्यायरूप विशेषों में रहनेवाले एक जीवसामान्य को देखनेवाले और विशेषों को न देखनेवाले जीवों को 'वह सब जीवद्रव्य है'–ऐसा भासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब जीवद्रव्य में रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायरूप अनेक विशेषों को देखनेवाले और सामान्य को न देखनेवाले जीवों को 'वह जीवद्रव्य अन्य-अन्य (नारकादि पर्यायस्वरूप) है'–ऐसा भासित होता है; क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषों के समय तन्मय होने से उन-उन विशेषों से अनन्य है, कण्डे, घास, पत्ते एवं काष्ठमय अग्नि की भाँति।

जिसप्रकार घास, लकड़ी आदि की अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय होने से घास, लकड़ी आदि से अनन्य है; उसीप्रकार द्रव्य उन-उन पर्यायरूप विशेषों के समय उनसे तन्मय होने से अनन्य है।

जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आँखों को एक ही साथ खोलकर दोनों से एक साथ देखा जाता है, तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व,

---

[1] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ७ से ९

देवत्व और सिद्धत्वपर्यायों में रहनेवाला जीवसामान्य तथा जीवसामान्य में रहनेवाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व एवं सिद्धत्वपर्यायरूप विशेष एक ही साथ दिखाई देते हैं।"

आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसमें 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैनदर्शन में 'सर्वथा' शब्द है ही नहीं – इस बात का हठ रखनेवालों को इस कथन पर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

मूल संस्कृत टीका में 'एकान्त' शब्द का प्रयोग है, जिसका अनुवाद हिन्दी टीकाकार ने 'सर्वथा' किया है। नय एकान्तस्वरूप ही होते हैं – इस बात को 'नयों की प्रमाणिकता' शीर्षक के अन्तर्गत सप्रमाण स्पष्ट किया ही जा चुका है।[1] वहाँ कहा है कि 'सम्यगेकान्त नय कहलाता है और सम्यगनेकान्त प्रमाण। नयविवक्षा वस्तु के एक धर्म का निश्चय करानेवाली होने से एकान्त है और प्रमाणविवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों का निश्चय करानेवाली होने से अनेकान्त है।'

यद्यपि जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है, तथापि वह अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकार करता है। उसे सम्यगनेकान्त के साथ सम्यगेकान्त भी स्वीकृत है तथा मिथ्या-एकान्त के साथ मिथ्या-अनेकान्त भी स्वीकृत नहीं। इसकी विशेष जानकारी के लिए सातवां अध्याय देखें। वहां 'ही' एवं 'भी' के सम्बन्ध में भी विशेष स्पष्टीकरण किया गया है।

द्रव्यार्थिक चक्षु से देखते समय पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द रखना है, किंचित्मात्र भी खुली नहीं रखना है। यदि पर्यायार्थिक चक्षु को किंचित्मात्र भी खुली रखा गया तो द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्य दिखाई नहीं देगा। इसीप्रकार पर्यायार्थिक चक्षु से देखते समय द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द रखना है, किंचित्मात्र भी खुली नहीं रखना है; अन्यथा पर्यायार्थिकनय की विषयभूत पर्यायें दिखाई नहीं देंगी। एक नय की विषयभूत वस्तु को देखने के लिए दूसरे नय की आँख को पूरी तरह बन्द करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पर ध्यान रहे कि द्रव्यार्थिक चक्षु से देखते

---

[1] परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ३१

समय पर्यायार्थिक चक्षु को मात्र सर्वथा बन्द ही रखना है, फोड़ नहीं लेना है; क्योंकि सर्वथा बन्द रखने से सम्यक्-एकान्त होता है और फोड़ लेने से मिथ्या-एकान्त।

जैसे लक्ष्य-बिन्दु के भेदने के लिए बन्दूक चलाते समय एक आँख को पूरी तरह बन्द करना पड़ता है, अन्यथा लक्ष्य-भेद नहीं हो सकता है; उसीप्रकार अपने विषय के लक्ष्य-भेद के लिए दूसरे नय को सर्वथा गौण करना पड़ता है। तथा जिसप्रकार लक्ष्य-भेद के प्रयोजन से दूसरी आँख को सर्वथा बन्द करना आवश्यक है, फोड़ लेना आवश्यक नहीं; उसीप्रकार एक नय के विषय के स्पष्ट प्रतिभास के लिए अपर पक्ष को सर्वथा गौण करना आवश्यक है, उसका निषेध आवश्यक नहीं।

''अपना काम तो लक्ष्य-भेद करना ही है, इसमें दूसरी आँख को बार-बार बन्द करना पड़ता है; इस बन्द करने की झंझट में बार-बार कौन पड़े?''—इस विकल्प से यदि कोई लक्ष्यभेदी दूसरी आँख फोड़ ही ले तो वह एकाक्षी (काना) ही हो जायेगा। उसीप्रकार ''अपने को तो मात्र द्रव्यदृष्टि से प्रयोजन है। इन पर्यायों को जानने से क्या लाभ है? द्रव्य को जानने के लिए बार-बार पर्यायार्थिक नय की चक्षु को बन्द करना पड़ता है।'' इसप्रकार पर्यायार्थिकनय को सर्वथा गौण करने की झंझट से बचने के लिए अपने को आत्मार्थी मान लेनेवाला कोई अज्ञानी यदि पर्यायार्थिकनय को स्वीकार ही न करे, उसका सर्वथा निषेध ही कर दे तो वह एकान्ती (मिथ्या-एकान्ती) ही माना जायेगा।

इसीप्रकार ''बिगाड़-सुधार तो पर्याय में ही होता है; अतः उसे ही सुधारना है, संभालना है; इसलिए उसे ही देखते-जानते रहना है। पर्याय को देखते समय द्रव्यार्थिक चक्षु को बार-बार बन्द करना पड़ता है।''—इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय को सर्वथा गौण करने की झंझट से बचने के लिए यदि कोई व्यवहार विमूढ़ पर्यायदृष्टिवाला द्रव्यार्थिकनय को स्वीकार ही न करे, उसका सर्वथा निषेध ही कर दे, तो भी वह एकान्ती (मिथ्या-एकान्ती) ही माना जायगा। यदि पर्यायों के सुधारने के चक्कर में उन्हीं को देखता रहेगा, द्रव्य को देखेगा ही नहीं तो उसकी पर्याय का सुधार भी संभव नहीं है; क्योंकि पर्यायों का सुधार तो द्रव्याधीन है। आशय यह है कि द्रव्यदृष्टिवन्त को ही निर्मल पर्याय प्रगट होती है। द्रव्य पर दृष्टि जाने पर जो नई पर्याय प्रगट होती है, वह सुधरी हुई या निर्मल ही होती है।

'सर्वथा' शब्द का प्रयोग यद्यपि मिथ्या-एकान्त के अर्थ में भी होता है,

तथापि सर्वत्र ऐसा ही होता हो – ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सम्यगेकान्त के लिए भी इसका प्रयोग पाया जाता है।

'सर्वथा' शब्द के विभिन्न प्रयोगों के सन्दर्भ में समयसार नाटक का निम्नांकित छन्द भी द्रष्टव्य है:–

"**जैसें फिटकड़ी लौद** हरड़ेकी **पुट बिना,**
**स्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रंग नीरमैं** ।
**भीग्यौ रहे चिरकाल सर्वथा न** होइ लाल,
**भेदै नहि अंतर सुफैदी रहै चीरमैं** ।।[1]"

इस छन्द में 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग एकप्रकार से कथंचित् के अर्थ में ही हुआ है। 'सर्वथा न होई लाल' का अर्थ यह नहीं है कि वस्त्र बिल्कुल लाल नहीं होगा; अपितु यही है कि सम्पूर्णतः लाल नहीं होगा, अपितु कुछ-कुछ लाल होगा; पर इसतरह के प्रयोग निषेधपरक कथनों में ही होते हैं। इसी तरह और भी अनेक प्रकार के प्रयोग जिनवाणी में स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं।

प्रवचनसार के इस प्रकरण में सर्वथा बन्द करने का अर्थ सर्वथा गौण करने के अर्थ में ही है। इसे हम इसप्रकार समझ सकते हैं:–

"द्रव्यार्थिकनय से वस्तु सर्वथा नित्य है अर्थात् नित्य ही है, पर्यायार्थिकनय से वस्तु सर्वथा अनित्य है अर्थात् अनित्य ही है एवं प्रमाण से वस्तु नित्यानित्यात्मक है अर्थात् नित्य भी है और अनित्य भी है।"

उक्त कथन में आप स्पष्ट देखेंगे कि 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग एकप्रकार से 'ही' के अर्थ में ही हुआ है। नयों के सन्दर्भ में जब नित्यता मुख्य है, विवक्षित है तो अनित्यता पूरी तरह गौण है, अविवक्षित है। इसीप्रकार जब अनित्यता मुख्य है, विवक्षित है तो नित्यता पूरी तरह गौण है, अविवक्षित है। तथा जब प्रमाण की बात आती है तो मुख्यता-गौणता का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि दोनों ही पक्ष समानरूप से मुख्य हो जाते हैं, विवक्षित हो जाते हैं।

'सर्वथा' शब्द का मर्म समझने के लिए हमें कुछ गहराई में जाना होगा। जैसे:–

सर्व = सभी (द्रव्य - अपेक्षा) सर्वत्र = सब जगह (क्षेत्र - अपेक्षा)
सर्वदा = हर समय (काल - अपेक्षा) सर्वथा = सर्वप्रकार (भाव - अपेक्षा

---

[1] समयसार नाटक, निर्जरा द्वार छंद ३४

उक्त शब्दार्थों से एक बात प्रतिफलित होती है कि 'सर्व' शब्द द्रव्यवाची, 'सर्वत्र' शब्द क्षेत्रवाची, 'सर्वदा' शब्द कालवाची एवं 'सर्वथा' शब्द भाववाची है।

प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा ही सत् है[1]। उसके स्वचतुष्टय—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव ही हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय है; उसे इन्हीं के माध्यम से समझा जा सकता है, समझाया जा सकता है।

जब हम ऐसा कहते हैं कि 'ईमानदारी का सर्वत्र अभाव है' तो इसका अर्थ 'कहीं' भी ईमानदारी नहीं है'—यही होता है। इस वाक्य से ईमानदारी का निषेध सब क्षेत्रों में तो हुआ, पर सब कालों में नहीं। इसीप्रकार जब हम यह कहें कि 'मैं सर्वदा सत्य बोलता हूँ' तो यह कथन त्रिकाल के बारे में है, सभी द्रव्यों और क्षेत्रों के बारे में नहीं। इसीप्रकार जब हम 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ मात्र सर्वभाव ही होगा; सर्वक्षेत्र, सर्वकाल एवं सर्वद्रव्य कदापि नहीं। इसतरह 'सर्वथा' शब्द का अर्थ भावापेक्षा ही घटित होता है।

यहाँ सर्वथा बन्द करने में भी भावापेक्षा ही बात है अर्थात् सदाकाल बन्द नहीं रखना है, सभी को बन्द नहीं रखना है और सर्वत्र भी बन्द नहीं रखना है। बस, जब द्रव्यार्थिक चक्षु से देख रहा हो, तब ही पर्यायार्थिकनय की चक्षु को बन्द रखना है; द्रव्यार्थिकनय से देखनेवालों को ही पर्यायार्थिकनय की चक्षु को बन्द रखना है, सबको नहीं। इसीप्रकार 'सर्वत्र' पर भी घटित कर लेना चाहिये।

इसप्रकार सर्वथा बन्द करने का अर्थ सबको नहीं, मात्र उसे जो द्रव्यार्थिक चक्षु से देख रहा हो; सदा नहीं, मात्र उससमय जब वह द्रव्यार्थिक चक्षु से देख रहा हो; सर्वत्र नहीं, मात्र उस क्षेत्र में जिस क्षेत्र में वह द्रव्यार्थिक चक्षु से देख रहा हो; ऐसा होता है।

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो 'सर्वथा' शब्द का अर्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—चारों की अपेक्षा भी होता है। सर्व, सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा—इस क्रम में 'सर्वथा' अन्तिम शब्द है; अतः इसका प्रयोग चारों के

---

[1] सदैव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयाद् —आचार्य समन्तभद्र, आप्तमीमांसा, कारिका १५

समुदाय में भी हो सकता है; होता भी है। जैसे :— अग्नि सर्वथा गर्म है, जीव सर्वथा चित्स्वरूप है, पुद्गल सर्वथा रूपी है — इन उदाहरणों में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव — ये सभी अपेक्षाएँ आ जाती हैं। सभी अग्नि गर्म है, उसका प्रत्येक प्रदेश गर्म है, उसकी प्रत्येक पर्याय गर्म है एवं उसका स्वभाव भी गर्म ही है। इसीप्रकार प्रत्येक जीव चित्स्वरूप है, प्रत्येक जीव का प्रत्येक प्रदेश चित्स्वरूप है, प्रत्येक जीव की प्रत्येक पर्याय चित्स्वरूप है और प्रत्येक जीव का स्वभाव भी चित्स्वरूप ही है। इसीप्रकार पुद्गल पर भी घटित कर लेना चाहिए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव — चारों में घटित करने पर भी 'सर्वथा' शब्द से मिथ्या-एकान्त नहीं हुआ; क्योंकि जीव स्वचतुष्टय से चित्स्वरूप ही है। अग्नि स्वचतुष्टय से गर्म ही है एवं पुद्गल स्वचतुष्टय से रूपी ही है। वस्तुतः बात ऐसी है कि सर्वथा शब्द को यदि अपरपक्ष की गौणता के अर्थ में ही समझा जाये तो मिथ्या-एकान्त नहीं होता। जब उसे अपरपक्ष के निषेध के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, तब ही मिथ्या-एकान्त का दोष आता है।

अनेक स्थानों पर 'सर्वथा' शब्द का प्रयोग कथन को दृढ़ता प्रदान करने के लिए भी होता है,किसी बात पर विशेष बल देने के लिए भी होता है; यहाँ तक कि ध्यान आकर्षित करने के लिए भी होता है। अब यह हमारे विवेक पर निर्भर करता है कि हम उस का सही भाव समझते हैं या नहीं।

जिसप्रकार लोक में सदा तो दोनों आँखों से ही देखा जाता है, एक आँख से तो विशेष प्रयोजन से ही देखा जाता है। जैसे :— बन्दूक चलाना हो, हीरा-मीणक परखना हो; तभी एक आँख से देखते हैं। उसीप्रकार ज्ञानीजन के सदा तो सम्यग्ज्ञानस्वरूप प्रमाण ही प्रकाशित रहता है, द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिकनय का प्रयोग तो यथासंभव प्रयोजनानुसार ही होता है।

जिसप्रकार किसी प्रयोजन विशेष के आग्रह से एक आँख फोड़ लेनेवाले की मात्र वह एक आँख ही नहीं फूटेगी, अपितु वह व्यक्ति ही काना हो जाएगा। उसीप्रकार एक नय के आग्रह से दूसरे नय का निषेध करने में मात्र उस नय का ही निषेध नहीं होगा, अपितु प्रमाणज्ञान भी खण्डित हो जाएगा, सम्यग्ज्ञान ही नहीं रहेगा; क्योंकि अंशों के निषेध से अंशी का निषेध एवं अंशी के निषेध से अंशों का निषेध सहज ही हो जाता है। अतः आत्मार्थी किसी भी नय का सर्वथा निषेध नहीं कर सकता।

गौणता कोई दोष नहीं है, वह तो नयों के स्वरूप में ही समाहित है; अतः

'सर्वथा गौण' शब्द से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है, पर अपरनय का 'सर्वथा निषेध' इष्ट नहीं है । यदि जिनवाणी में भी कहीं 'निषेध' शब्द का प्रयोग हो तो उसे भी 'गौण' के अर्थ में ही समझना चाहिए।

भाई ! वस्तु का स्वरूप अगाध है, अपार है; उसका तल एवं पार पाना असंभव तो नहीं, पर गंभीर अध्ययन-चिन्तन-मनन की अपेक्षा अवश्य रखता है। जिसप्रकार वस्तु का स्वरूप अगाध और अपार है, उसीप्रकार उसका प्रतिपादन करनेवाली प्रमाणनयात्मक शैली भी कम गम्भीर नहीं है। जटिल विषय आने पर निराश नहीं होना चाहिए, उदास नहीं होना चाहिए; इसके अध्ययन से विरत भी नहीं होना चाहिए, अपितु दूने उत्साह से समझने का यत्न करते रहना चाहिए। सतत प्रयास चालू रखना चाहिए, क्योंकि मार्ग प्राप्त करने का यही मार्ग है।

—o—

यदि आपको इस जगत का उतावलापन देखना है तो किसी भी नगर के व्यस्त चौराहे पर खड़े हो जाइये और देखिये इस दुनिया का उतावलापन । चौराहे पर मौत की निशानी लालबत्ती है, एक सिपाही भी खड़ा है आपको रोकने के लिये, फिर भी आप नहीं रुक रहे हैं; अपनी मौत की कीमत पर भी नहीं रुक रहे हैं । यद्यपि आप अच्छी तरह जानते हैं कि लालबत्ती होने पर सड़क पार करना खतरे से खाली नहीं, कभी भी किसी भारी वाहन के नीचे आ सकते हैं, पुलिस वाला भी आपको सचेत कर रहा है, फिर भी आप दौड़े जा रहे हैं । क्या यह उतावलेपन की हद नहीं है ? इतनी भी जल्दी किस काम की ? पर ऐसा उतावलापन कहीं भी देखा जा सकता है ।

क्या यह देश का दुर्भाग्य नहीं है कि आप अपने उतावलेपन के कारण लालबत्ती होने पर भी किसी वाहन के नीचे आकर मर न जावें – मात्र इसलिये लाखों पुलिसमैनों को चौराहों पर खड़ा रहना पड़ता है ।

अपनी मौत की भी कीमत पर जिनको इतनी भी देरी स्वीकृत नहीं, पसंद नहीं; ऐसे अधीरिया – उतावले लोगों की समझ में यह कैसे आ सकता है कि जो कार्य जब होना होगा, तभी होगा ।

– क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ६४

## द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक : कुछ प्रश्नोत्तर

**(१) प्रश्नः**—द्रव्य और पर्याय के समान गुण भी तो वस्तु के महत्त्वपूर्ण अंश हैं; अतः वस्तु के द्रव्यांश को ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिकनय और पर्यायांश को ग्रहण करनेवाले पर्यायार्थिकनय के समान गुणांश को ग्रहण करनेवाला एक गुणार्थिकनय भी होना चाहिए।

**उत्तरः**—इसीप्रकार का प्रश्न आचार्य अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में स्वयं उठाकर उसका समाधान इसप्रकार प्रस्तुत किया है:—

''प्रश्नः—द्रव्य और पर्याय के अतिरिक्त यदि 'गुण' नाम का पदार्थ विद्यमान है तो उसको विषय करनेवाला एक 'गुणार्थिक' नामक तीसरा मूलनय भी होना चाहिए।

उत्तरः—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि द्रव्य के सामान्य और विशेष दो स्वरूप हैं। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण—ये एकार्थ शब्द हैं। सामान्य को विषय करनेवाला द्रव्यार्थिकनय है और विशेष को विषय करनेवाला पर्यायार्थिकनय है। दोनों के समुदित अयुतसिद्धरूप द्रव्य है; अतः गुण जब द्रव्य का ही सामान्यरूप है, तब उसके ग्रहण के लिए द्रव्यार्थिकनय से पृथक् गुणार्थिकनय की कोई आवश्यकता नहीं है।[1]''

इसी प्रश्न का उत्तर श्लोकवार्तिककार आचार्य विद्यानन्दि इसप्रकार देते हैं:—

**''गुणः पर्याय एवात्र सहभावी विभावितः ।**
**इति तद्गोचरो नान्यस्तृतीयोऽस्ति गुणार्थिकः ।।**[2]

यहाँ 'गुण' से सहभावी पर्याय ही विवक्षित है, अतः गुण को जाननेवाला तीसरा गुणार्थिकनय नहीं है।''

---

[1] तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय ५, सूत्र ३८

[2] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक २२

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के अन्त में 'परिशिष्ट २' के रूप में 'श्लोकवार्तिक' में समागत नयों की चर्चा को 'नयविवरणम्' नाम से प्रकाशित किया गया है। उसमें उक्त श्लोक के भाव को विशेषार्थ के रूप में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है:—

"पर्याय के दो प्रकार हैं :—क्रमभावी और सहभावी। कालक्रम से होनेवाली पर्यायों को क्रमभावी कहते हैं। जैसे :—मनुष्य में होनेवाली बाल्य, कुमार, युवा आदि अवस्थाएँ। और वस्तु के साथ सदा रहनेवाली पर्यायों को सहभावी कहते हैं। जैसे :—पुद्गलद्रव्य में रहनेवाले स्पर्श, रूप, रस और गंध। इसीतरह द्रव्य के भी दो प्रकार हैं :—शुद्ध और अशुद्ध। अतः 'पर्याय' शब्द से सब पर्यायें गृहीत होती हैं और 'द्रव्य' शब्द से अपनी सब शक्तियों में व्याप्त द्रव्यसामान्य का ग्रहण होता है।

अतः सहभावी पर्यायरूप गुण इन दो से पृथक् नहीं हैं।

गुण और पर्याय के अभेद की चर्चा 'सन्मतितर्क' में उठाई गई है। उसमें कहा है :—

'द्रव्य और गुण का भेद तो दूर रहो, पहले 'गुण' शब्द के विषय में ही विचार करते हैं कि क्या 'गुण'-संज्ञा पर्याय से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है या पर्याय के ही अर्थ में प्रयुक्त है।

भगवान ने द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक—ये दो ही नय निश्चित किये हैं। यदि पर्याय से गुण भिन्न होता तो गुणास्तिकनय भी उन्हें निश्चित करना चाहिए था; परन्तु चूँकि अरहंत ने उन-उन सूत्रों में गौतम आदि गणधरों के समक्ष 'पर्याय'-संज्ञा निश्चित करके उसी का विवेचन किया है; अतः ऐसा मानना चाहिए कि पर्याय ही है और पर्याय से गुण भिन्न नहीं हैं।

'पर्याय' शब्द का अर्थ है :—वस्तु को अनेक रूपों में परिणत करनेवाला और 'गुण' का अर्थ है :—वस्तु को अनेकरूप करनेवाला। इसतरह ये दोनों शब्द समान अर्थ वाले ही हैं, फिर भी उसे 'गुण' शब्द से नहीं कहा जाता; क्योंकि देशना पर्यायास्तिकनय की ही हैं, गुणास्तिकनय की नहीं।

इसतरह 'सन्मतितर्क' के तीसरे काण्ड में गुण और पर्याय के अभेद की पुष्टि विस्तार से की गई है। उसी का अनुसरण करते हुए आचार्य विद्यानन्दि ने भी उक्त कारिका के द्वारा गुण और पर्याय के अभेद का कथन करते हुए कहा है कि द्रव्यमात्र द्रव्यार्थिकनय का विषय है और पर्यायमात्र पर्यायार्थिकनय का विषय है, इसके सिवाय कोई तीसरा मूलनय नहीं है।"

इस सन्दर्भ में धवला में प्राप्त उल्लेख भी द्रष्टव्य है, जो कि इसप्रकार है:—

"**प्रश्नः**—यह कैसे जाना कि तीसरे प्रकार का कोई नय नहीं है?

**उत्तरः**—क्योंकि संग्रह और असंग्रह अथवा सामान्य और विशेष को छोड़कर किसी अन्य नय का विषयभूत कोई पदार्थ नहीं पाया जाता है।[1]"

आगमोक्त उक्त कथनों में स्पष्ट रूप से दो पक्ष सामने आते हैं :—

१. सामान्य होने से गुण को द्रव्य में सम्मिलित कर उसे द्रव्यार्थिकनय का विषय बतानेवाला पक्ष।

२. गुण का नामान्तर सहभावी पर्याय होने से उसे पर्यायार्थिकनय का विषय बताने वाला पक्ष।

उक्त दोनों पक्षों पर गंभीरता से विचार करने पर अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुण जब अभेद, एक, सामान्यरूप से विवक्षित हों, तब द्रव्यार्थिकनय के एवं जब भेद, अनेक तथा विशेषरूप से विवक्षित हों, तब पर्यायार्थिकनय के विषय बनते हैं। अतः सूत्ररूप में यही कहा जा सकता है कि गुण द्रव्य में और गुणभेद पर्याय में गर्भित होते हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ज़िनागम को वस्तु के दो पक्ष ही स्वीकृत हैं :—द्रव्य और पर्याय। गुण विभिन्न अपेक्षाओं से इन्हीं में गर्भित हैं। अतः मूलनय भी दो ही हैं :—द्रव्यार्थिक और पर्यायर्थिक। गुणार्थिक नाम का कोई नय नहीं है। उसकी आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि गुण विभिन्न अपेक्षाओं से इन दो नयों के विषय में ही गर्भित हो जाते हैं।

**(२) प्रश्नः**—गुण को आचार्य अकलंकदेव द्रव्य में एवं आचार्य विद्यानन्दि पर्याय में सम्मिलित मानते हैं। आचार्यों में इसप्रकार का मतभेद क्यों है?

**उत्तरः**—भाई ! आचार्यों में कोई मतभेद नहीं है। वस्तु के स्वरूप में ही ऐसे दो पक्ष पड़े हुए हैं। तथा जिनागम में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से विभिन्न प्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं। उनमें से जितने अधिक प्रकारों से आप परिचित रहेंगे, जिनवाणी के अध्ययन-काल में उतने ही कम भ्रम उत्पन्न होंगे।

विद्यानन्दि के समान अकलंकदेव भी 'अथवा' कहकर गुण को पर्याय में सम्मिलित कर लेते हैं। उनका मूल कथन इसप्रकार है:—

**"गुणा एव पर्याया इति वा निर्देशः।**[2]

---

[1] धवला, पुस्तक ५, खंड १, भाग ६, सूत्र १, पृष्ठ ३

[2] तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृष्ठ ५०१

5429

अथवा गुण ही पर्याय है—इसप्रकार का भी निर्देश है।"

**(३) प्रश्नः**—यदि गुण ही पर्याय है अर्थात् गुण और पर्याय एक ही हैं, तो फिर द्रव्य की परिभाषा में '**गुणपर्ययवद् द्रव्यम्**'—ऐसा क्यों कहा है? '**गुणवद् द्रव्यम्**' या '**पर्ययवद् द्रव्यम्**' इतना ही पर्याप्त था।

**उत्तरः**—इस प्रश्न का उत्तर आचार्य विद्यानन्दि ने इसप्रकार दिया है:—

**"गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये ।**
**तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ।।**[1]

सहानेकान्त की सिद्धि के लिए तो गुणयुक्त को द्रव्य कहा गया है और क्रमानेकान्त के ज्ञान के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा गया है।"

इसप्रकार द्रव्य के लक्षण में गुण और पर्याय दोनों का शामिल करना युक्त ही है।

**(४) प्रश्नः**—जब द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु का स्वरूप प्रमाण द्वारा ही सम्यक्रूप से जान लिया जाता है, तब फिर द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिकनयों का क्या प्रयोजन रह जाता है? क्योंकि वस्तु के द्रव्य और पर्याय दोनों ही पक्ष प्रमाण द्वारा जान ही लिये गये हैं।

**उत्तरः**—यद्यपि वस्तु के सामान्य और विशेष अर्थात् द्रव्य और पर्याय दोनों पक्ष प्रमाण द्वारा जान लिये जाते हैं, तथापि उन्हीं को जाननेवाले नयों के प्रयोग की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती, क्योंकि दोनों के जानने में अन्तर है।

प्रमाणज्ञान में मुख्य-गौणता की व्यवस्था न होने से उसमें वस्तु के सभी पक्ष समान रूप से प्रतिभासित होते हैं; जबकि नयज्ञान में मुख्य-गौण की व्यवस्था होने से उनमें एक पक्ष मुख्य रहता है, शेष सभी पक्ष उससमय गौण रहते हैं, अथवा दो पक्षों में एक पक्ष मुख्य रहता है और दूसरा पक्ष गौण रहता है। मुख्य पक्ष को विवक्षित कहा जाता है और गौण पक्ष को अविवक्षित कहते हैं।

प्रमाणज्ञान और नयज्ञान के अन्तर एवं उनकी पृथक्-पृथक् उपयोगिता को हम निम्नलिखित उदाहरण से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

जिसप्रकार एक बहुत बड़ी सभा को सम्बोधित करते हुए एक प्रभावक वक्ता एवं उसके भाषण में तन्मय भावविभोर श्रोताओं के फिल्मांकन के लिए आवश्यक है कि हम आरम्भ में तो इसप्रकार फिल्मांकन करें कि जिसमें वक्ता

---

[1] तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृष्ठ ५३८

एवं श्रोताओं की विशाल सभा अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ चित्रित हो। उसके बाद हम अपने फिल्मांकन को वक्ता पर केन्द्रित करें, जिससे उसके सभी हाव-भाव स्पष्ट हो सकें। तत्पश्चात् मात्र उसके चेहरे को फिल्माएँ, जिससे उसके चेहरे पर आने-जाने वाली सूक्ष्म भाव-भंगिमाएँ स्पष्ट हों। फिर भीड़ की ओर मुडें, पर अपार भीड़ को अपने में समेटने का विकल्प छोड़कर वक्ता के वक्तव्य से प्रभावित सीमित श्रोताओं के हाव-भावों का फिल्मांकन करें। उसके बाद आवश्यकतानुसार किसी विशिष्ट सभासद के मात्र भावविभोर चेहरे पर ही कैमरे की आँख केन्द्रित कर दें, जिससे वक्ता और वक्तव्य के प्रभाव को फिल्म देखनेवाला स्पष्ट अनुभव कर सके। अन्त में एक बार फिर कैमरे की आँख वक्ता से लेकर श्रोताओं की भीड़ को समेटती हुई, उसकी विशालता का ज्ञान करावे।

इसप्रकार के फिल्मांकन में सभा की विशालता एवं वक्ता का प्रभाव स्पष्ट दिखाया जा सकेगा।

इस फिल्मांकन में तीन प्रक्रियाएँ सामने आती हैं:—

(१) प्रथम प्रक्रिया में वक्ता एवं श्रोताओं की सभा का समग्र चित्रांकन, जिससे यह स्पष्ट हो कि यह सभा किसी प्रभावक वक्ता को सुनने एकत्रित हुई है, सुन रही है। यद्यपि इससे वक्तासहित सभा की विशालता तो परिलक्षित हो जावेगी तथा यह भी स्पष्ट हो जावेगा कि इस विशाल सभा को कोई प्रभावशाली वक्ता सम्बोधित कर रहा है, पर छोटे से फिल्म के पर्दे पर हजारों श्रोता और वक्ता पहचाने भी नहीं जा सकेंगे। जब पहिचाने ही न जा सकेंगे तो श्रोताओं पर वक्ता का प्रभाव कैसे जाना जा सकता है? तदर्थ दूसरी प्रक्रिया आवश्यक है।

(२) दूसरी प्रक्रिया में, उपस्थित सभा की उपस्थिति से इन्कार नहीं करते हुए भी उसकी पूर्णतः उपेक्षा करके मात्र स्टेज के फिल्मांकन से वक्ता पहचाना जा सकेगा, उसके हाव-भाव भी कुछ-कुछ पहिचाने जा सकते हैं, परन्तु उसके आन्तरिक गहरे भावों को पहचानने के लिए और आगे बढ़ना होगा। स्टेज पर बैठे हुए वक्ता से भिन्न अध्यक्षादि भी तो वस्तुतः श्रोता ही हैं। उन्हें भी फिल्म की आँख से ओझल करना होगा। उन्हें ही क्यों, वक्ता के हाथ-पाँव भी तो बोलने वाले वदन (मुख) से दूर की चीजें हैं, उनकी भी उपेक्षा आवश्यक है। इसप्रकार जब मात्र चेहरा ही फिल्माया जायगा, तब ही चेहरे की रेखाओं की रचना में हृदय की गहराई पकड़ी जा सकेगी।

(३) तीसरी प्रक्रिया में विशिष्ट श्रोताओं के हाव-भाव और चेहरे पर

आई रेखाओं के चित्रांकन से, उन पर वक्ता के वक्तव्य का क्या प्रभाव पड़ा—यह स्पष्ट होगा। इसके लिए वक्ता की सत्ता और आदरणीय उपस्थिति से इन्कार नहीं करते हुए भी, फिल्मांकन में उसकी पूर्ण उपेक्षा करनी होगी; अन्यथा उसके वक्तव्य के प्रभाव को अंकित नहीं किया जा सकेगा।

अन्त में वक्तासहित समग्र सभा के चित्रांकन से उसका जो चित्र हमारे मानस पर उभरेगा, वही वास्तविक होगा।

उक्त सम्पूर्ण प्रक्रिया में जिसप्रकार वक्तासहित सम्पूर्ण सभा का चित्र जितना आवश्यक है, उतने ही आवश्यक वक्ता और श्रोताओं के चेहरे के चित्र भी हैं। दोनों की अपनी अलग-अलग उपयोगिता है। एक की संपूर्ति दूसरे के द्वारा संभव नहीं है। यदि हम एक के पक्ष में जाकर दूसरे का लोप करेंगे तो यह न्याय नहीं होगा।

अब हम इसी बात को प्रमाण और नयों के सन्दर्भ में घटित करें।

सर्वप्रथम प्रमाण के द्वारा द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु को समग्ररूप से जानें जिससे उसकी विशालता—विराटता से परिचित हो सकें। तदुपरान्त पर्यायपक्ष को सर्वथा गौण करके द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यपक्ष पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित करें। पर्यायों की उपेक्षा करते समय सम्यक् एवं मिथ्या पर्यायों का भेद न करके, सम्पूर्ण पर्यायपक्ष को अविवक्षित रखकर, मात्र अभेद सामान्य-द्रव्य पर ही दृष्टि केन्द्रित करना आवश्यक है, अन्यथा दृष्टि द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य तक पहुँच ही न सकेगी। जब दृष्टि सामान्य द्रव्य पर पहुँचेगी तो सहज ही निर्मलपर्याय प्रगट होगी, आत्मानुभूति प्रगट होगी। उसके बाद जब दृष्टि वहाँ से हटेगी तो पर्याय पर जावेगी; द्रव्य-पर्यायात्मक सम्पूर्ण वस्तु पर भी जा सकती है। पर ध्यान रखने की बात यह है कि पर्यायपक्ष को गहराई से देखने के लिए दृष्टि में द्रव्यपक्ष को पूर्णतः गौण करना होगा; अन्यथा पर्याय का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सकेगा। अन्ततः हमारे प्रमाणज्ञान में निर्मलपर्याय सहित सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु प्रस्फुटित होगी। उस प्रमाणरूप सम्यक्ज्ञान में द्रव्य और पर्याय एक साथ ज्ञात होंगे। इसप्रकार सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को जानने की यह नय प्रमाणात्मक सहज प्रक्रिया है।

यदि हम प्रमाण और नयज्ञान में से किसी का भी सम्पूर्णतः निषेध करेंगे तो न्याय नहीं होगा, क्योंकि जैनदर्शन में न्याय की परिभाषा ही इसप्रकार दी गई है:— "**नय प्रमाणात्मको न्यायः।**
न्याय नय प्रमाणात्मक ही होता है।"

अतः प्रमाणज्ञान के पक्ष में पड़कर नयज्ञान की उपेक्षा ठीक नहीं है, संभव भी नहीं है। नय जैनदर्शन की अलौकिक उपलब्धि है। उसकी अस्वीकृति एकप्रकार से जैनदर्शन की ही अस्वीकृति है; क्योंकि जिसप्रकार जैनेतर कहते हैं कि जब प्रमाण से ही वस्तु जान ली जाती है तो नयों की क्या आवश्यकता है, इसीप्रकार का कथन यह भी हुआ। नय श्रुतज्ञानरूप प्रमाण के अंश हैं, उसके विषय को ही अधिक स्पष्ट करके दिखलानेवाले हैं। अंश के निषेध से जिसप्रकार अंशी का निषेध भी सहज हो जाता है; उसीप्रकार नयों के निषेध से श्रुतज्ञानरूप प्रमाण के निषेध का भी प्रसंग प्राप्त होगा।

**(५) प्रश्नः**—'सर्वथा', 'एकान्त' एवं 'ही' शब्दों का जैनदर्शन में सदा ही निषेध किया जाता रहा है। 'आप्तमीमांसा' में आचार्य समन्तभद्र भी सर्वथा-एकान्त का निषेध करते हुए कहते हैं:—

**"त्वन्मतामृतबाह्यानां, सवथैकान्तवादिनाम् ।**
**आप्ताभिमानदग्धानां, स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ।।**[१]

आपके मतरूपी अमृत से बाहर, जो भी आप्ताभिमान से दग्ध सर्वथा-एकान्तवादी हैं, उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है।"

इतने पर भी आप 'सर्वथा', 'एकान्त' एवं 'ही'—इन सभी प्रयोगों को ठीक बता रहे हैं। यह सब कैसे गले उतरे?

**उत्तरः**—आचार्य समन्तभद्र की उक्त कारिका में 'सर्वथा-एकान्त' का निषेध किया गया है, 'सर्वथा' एवं 'एकान्त' का नहीं। जब एकान्त को ही सर्वथा स्वीकार किया जाता है, तब ही वह मिथ्या-एकान्तरूप होता है; किन्तु जब उसे सर्वथा न मानकर कथंचित् माना जाता है, तब वह मिथ्या-एकान्त न होकर सम्यक्-एकान्तरूप होता है।

सभी नय एकान्तस्वरूप ही होते हैं। सम्यक्-एकान्त नय है और मिथ्या-एकान्त नयाभास। इसीप्रकार सम्यक्-अनेकान्त प्रमाण है और मिथ्या-अनेकान्त प्रमाणाभास।

'सर्वथा', 'एकान्त' तथा 'ही'—ये सभी शब्द जब अकेले प्रयुक्त होते हैं, तब मिथ्यात्व के सूचक नहीं होते; किन्तु जब ये आपस में मिलकर एक साथ प्रयुक्त होते हैं तो मिथ्यात्व के सूचक हो जाते हैं। जैसे :—'सर्वथा-एकान्त',

---

[१] आप्तमीमांसा ; कारिका ७

'सर्वथा ही', 'एकान्त ही' आदि।

यद्यपि ये शब्द जहरीले हैं, इनमें मिथ्यात्व का जहर रहता है; तथापि स्याद्वादी के लिए ये जहर का काम नहीं करते, क्योंकि इनका जहर 'स्यात्' पद के अमोघ मंत्र से प्रतिबंधित हो जाता है। जिसप्रकार मंत्रवादी के लिए जहरीला सर्प भय का हेतु नहीं होता; उसीप्रकार स्याद्वादी के लिए 'ही', 'सर्वथा' एवं 'एकान्त' जैसे जहरीले पदों का प्रयोग भी भय का हेतु नहीं है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार, गाथा ११५ की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका में कहा है:–

"अनंत धर्मोंवाले द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित-अविवक्षितता के विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होनेवाली सप्तभंगी सतत् सम्यक्तया उच्चारित करने पर स्यात्काररूपी अमोघमंत्र पद के द्वारा एवकार (ही, सर्वथा, एकान्त) में रहनेवाले समस्त विरोध विष के मोह को दूर करती है।"

उक्त कथन में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि एवकार (ही) में विरोध का विष विद्यमान रहता है; परन्तु साथ में यह भी कहा गया है कि 'स्यात्' (कथंचित्–किसी अपेक्षा) पद ऐसा अमोघमंत्र है, जो उस विष को प्रतिबन्धित कर देता है। अतः स्याद्वाद में 'ही' अथवा 'ही' के वाचक 'सर्वथा' आदि शब्दों का प्रयोग हानिकारक नहीं है; अपितु विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादक होने से आवश्यक है, गुणकारक ही है।

यद्यपि जहर मूलतः तो जहर ही है, तथापि जब उसका समुचित परिष्कार कर लिया जाता है तो वह औषधि बन जाता है; उसीप्रकार एवकार तो एकान्त का ही सूचक है, परन्तु जब वह 'स्यात्' पद द्वारा परिष्कृत हो जाता है तो अनेकान्त के अशंरूप सम्यक्-एकान्त का वाचक होता है।

यद्यपि प्रकरण भिन्न है, तथापि 'समयसार' में भी इसप्रकार का उदाहरण दिया गया है, जो इसप्रकार है:–

"दूसरों के मरण के कारणभूत विष को भोगता हुआ भी विषवैद्य, अमोघ (रामबाण) विद्या की सामर्थ्य से विष की शक्ति निरुद्ध हो जाने से मरण को प्राप्त नहीं होता।[1]"

जिसप्रकार विषविद्या में पारंगत वैद्य विष का परिष्कार कर उससे अमृत का काम लेता है अर्थात् उससे औषधि बनाकर लोगों को जीवनदान देता है;

---

[1] समयसार, गाथा १९५ एवं उसकी अमृतचन्द्राचार्यकृत 'आत्मख्याति' टीका

उसीप्रकार स्याद्वादी 'सर्वथा', 'एकान्त', 'ही' आदि जहरीले शब्दों को 'स्यात्' पद से परिष्कृत कर उनसे ही वस्तु के सम्यक्स्वरूप का सम्यक् प्रतिपादन करते हैं।

(६) **प्रश्नः**—यदि विष से बनी हुई औषधि का असावधानी के कारण समुचित परिष्कार नहीं हो पाया तो लाभ के बदले हानि भी हो सकती है; अतः हम विषौषधि का प्रयोग ही न करें तो क्या हानि है? इसीप्रकार 'स्यात्' पद के समुचित प्रयोग न कर पाने से यदि एवकार का विष दूर नहीं हो पाया तो मिथ्या-एकान्ती हो जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है; अतः यदि एवकार का प्रयोग ही न करें तो क्या हानि है?

**उत्तरः**—हाँ, यह बात तो अवश्य है, पर इसका उपाय तो समुचित सावधानी रखना ही हो सकता है, औषधि का बहिष्कार नहीं; क्योंकि विषाणु के संसर्ग से उत्पन्न बहुत से रोग विषौषधि से ही जाते हैं। कहा भी है :—'विषस्य विषमौषधम्'। अतः यदि हम विषौर्षधि का प्रयोग नहीं करेंगे तो विषाणु से उत्पन्न होनेवाले सांघातिक रोगों से मुक्त कैसे होंगे? अतः विषौषधि से बचने के प्रयत्न की अपेक्षा उसके परिष्कार में सावधानी रखना ही समुचित उपाय है।

उसीप्रकार यह बात तो सम्पूर्णतः सत्य है कि यदि स्याद्वाद का समुचित सही प्रयोग नहीं हुआ तो एवकार से उत्पन्न एकान्त-विष का शमन संभव नहीं है; तथापि इसका उपाय समुचित सावधानी रखना ही हो सकता है, एवकार का बहिष्कार तो नहीं; क्योंकि वस्तु के अंशों की गहन पकड़ तो नयज्ञान से ही होती है। यहाँ तक कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति ही द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य के अवलोकन से ही होती है। इसके बिना तो मिथ्या-एकान्तरूपी सर्वाधिक खतरनाक सांघातिक रोग का शमन ही न हो सकेगा। अतः नयों के प्रयोग के निषेध की कल्पना करना उचित नहीं है।

(७) **प्रश्नः**—नयों के प्रयोग का निषेध हमने कब किया, हम तो एवकार के बहिष्कार की बात कर रहे थे?

**उत्तरः**—एवकार के बिना नयों का प्रयोग संभव ही नहीं है; अतः एवकार के बहिष्कार से समस्त नय प्रयोग ही बहिष्कृत हो जावेगा। नयों के प्रयोग में 'ही' की अनिवार्यता असिद्ध नहीं है, अपितु आगमसिद्ध ही है।

प्रमाणसप्तभंगी एवं नयसप्तभंगी का भेद स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं:—

**"पूर्वं पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभंगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव, यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभंगी ज्ञापनार्थमिति भावार्थः।** [1]

पहले पंचास्तिकाय में 'स्यादस्ति' (कथंचित् है) इत्यादि प्रमाणवाक्य से प्रमाणसप्तभंगी की व्याख्या की थी। यहाँ तो 'स्यादस्त्येव' (कथंचित् है ही) में जो एवकार (ही) का ग्रहण किया जा रहा है, वह नयसप्तभंगी बताने के लिए किया जा रहा है।"

उक्त कथन से अत्यन्त स्पष्ट है कि नयवाक्यों में 'ही' का प्रयोग अनिवार्य है। अतः एवकार (ही) के बहिष्कार से समस्त नयप्रयोगों का बहिष्कार अनिवार्य हो जाता है। इस सन्दर्भ में यह बात भी भूल जाने योग्य नहीं है कि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। 'ही' के सर्वथा निषेधरूप इस आत्मघाती कदम से समस्त जिनागम के निषेध का भी प्रसंग प्राप्त होगा।

असावधानी से गलत प्रयोग हो जाने से होनेवाली हानि की संभावना तो सर्वत्र संभावित है। 'स्यात्' एवं 'ही' में ही क्यों, गलत प्रयोग तो सर्वत्र ही खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। अतः सर्वत्र सावधानी ही अपेक्षित है, इन्कार नहीं। यदि इसप्रकार के काल्पनिक भय से इन्कार करने लगेंगे तो कहाँ-कहाँ इन्कार करेंगे, कुछ करना ही संभव न रह जाएगा।

(८) **प्रश्नः**—जब सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य के अवलोकन से ही होती है, तो फिर हमें आप पर्यायार्थिकनय के विषय को जानने में उलझाते ही क्यों हैं?

**उत्तरः**—भाई! तुझे हो क्या गया है? तुझे वस्तुस्वरूप जानना भी भार लगता है, उलझन लगती है। लड़ाई-झगड़े, धंधे-पानी एवं विषय-कषायों में तो दिन-रात रचा-पचा रहता है; वे तो भारभूत नहीं लगते, उनमें उलझते हुए तो उलझन भी नहीं लगती; किन्तु जब वस्तुस्वरूप समझाते हैं तो थोड़े से विस्तार में जाते ही घबड़ाने लगता है। इसमें तुझे समय, शक्ति एवं प्रकटज्ञान की बरबादी लगती है। इस समय, शक्ति एवं क्षयोपशमज्ञान को बचाकर कहाँ लगाना चाहता है? यदि त्रिकाली ध्रुव में लगावे तो हमें कुछ भी नही कहना है, किन्तु यदि वहाँ न लगाकर अन्यत्र बरबाद करे तो उससे यही अच्छा है कि जो हम बता रहे हैं, उसे समझने में पूरी शक्ति लगा दे।

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ११५ की जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका

पर्यायार्थिकनय की विषयभूत अनित्यता, अनेकता, भेद भी तो वस्तु के स्वभाव ही हैं; ये कोई विभाव तो हैं नहीं। इनके जानने का प्रयोजन भी आत्मस्वभाव को जानना, उसके समीप जाना ही तो है।

द्रव्यार्थिकनय के समान पर्यायार्थिकनय की भी अपनी उपयोगिता है। दोनों में से किसी भी नय एवं उसकी विषयभूत वस्तु का ज्ञान निरर्थक नहीं है; पर यह जानना आवश्यक अवश्य है कि इनकी उपयोगिता, आवश्यकता एवं सफलता का स्वरूप क्या है?

दोनों नयों की उपयोगिता, आवश्यकता एवं सफलता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इस युग के महान् आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी लिखते हैं :—

"जीव का स्वरूप दो नयों से बराबर ज्ञात होता है। अकेले द्रव्यार्थिकनय से या अकेले पर्यायार्थिकनय से ज्ञात नहीं होता; इसलिए दोनों नयों का उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

एकान्त द्रव्य को ही स्वीकार करे और पर्याय को स्वीकार न करे तो पर्याय के बिना द्रव्य का स्वीकार किसने किया और किसमें किया? और मात्र पर्याय ही को स्वीकार करे, द्रव्य को स्वीकार न करे तो पर्याय कहाँ दृष्टि लगाकर एकाग्र होगी? इसलिए दोनों नयों का उपदेश स्वीकार करके द्रव्य-पर्याय की संधि करने योग्य है।

द्रव्य-पर्याय की संधि का अर्थ क्या?

पर्याय को पृथक् करके लक्ष्य में न लेते हुए, अन्तर्मुख करके द्रव्य के साथ एकाकार करना अर्थात् द्रव्य-पर्याय के भेद का विकल्प तोड़कर एकतारूप निर्विकल्प अनुभव करना सो द्रव्य-पर्याय की संधि है; वही दोनों नयों की सफलता है।

पर्याय को जानते हुए उसी के विकल्प में रुक जावे तो वह नय की सफलता नहीं है; उसीप्रकार द्रव्य को जानते हुए यदि उसी में एकाग्रता न करे तो वह भी नय की सफलता नहीं है। द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर, दोनों के विकल्प तोड़कर, पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन-अभेद-एकाकार करके अनुभव करने में ही दोनों नयों की सफलता है।[1]"

अनादिकाल से यह आत्मा अनन्तगुणात्मक निज शुद्धात्मतत्त्व से अपरिचित ही है; क्योंकि अपने वैभव के सम्यक् परिज्ञान के अभाव में उसके

---

[1] आत्मधर्म (हिन्दी), वर्ष १६, अंक १८२, जून १९६०, कवर पृष्ठ २

उपभोग से वंचित ही रहा है।

जिसप्रकार औषधियों के भंडार औषधालय में सोता हुआ भी रोगी, औषधियों के अपरिचय एवं असेवन के कारण आरोग्यलाभ प्राप्त नहीं कर पाता है; उसीप्रकार यह आत्मा भी अनन्तसुख जैसे अनन्त गुणों का धनी होकर भी अपरिचय एवं असेवन के कारण रंचमात्र सुख-लाभ प्राप्त नहीं कर पा रहा है।

तथा जिसप्रकार 'बीमारियों और दवाइयों के विस्तार में जाने में समय और शक्ति व्यय करने से क्या लाभ है? सभी औषधियाँ हैं तो रोगों को मिटाने के लिए ही' —यह विचार कर यदि कोई आलसी रोगी सभी औषधियों को या बिना विचारे जिस किसी औषधि को छोड़कर, चाहे जिस औषधि का सेवन करने लगे तो लाभ के बदले हानि ही उठायेगा। उसीप्रकार 'मोह-राग-द्वेषरूपी रोगों एवं उनके अभाव के उपायों के विस्तार में जाने में समय और शक्ति व्यय करने में क्या लाभ है? जिनवाणी के सभी कथन हैं तो सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए ही'—यह विचार कर उनके मर्म को समझे बिना ही नयों का यद्वा-तद्वा प्रयोग करने लगे; अथवा बिना बिचारे किसी भी नय को व्यर्थ बताकर, किसी भी नय का यद्वा-तद्वा प्रयोग करने लगे तो लाभ के बदले हानि ही उठायेगा।

अतः उचित तो यही है कि सुयोग्य वैद्य से सलाह लेकर, बीमारी और औषधि का सम्यक् परिज्ञान कर उसका विधिपूर्वक सेवन करें, तभी आरोग्य लाभ प्राप्त होगा। उसीप्रकार जिनागम एवं जिन-अध्यात्म के विशेषज्ञ ज्ञानी से नयों के प्रयोजन का परिज्ञान कर, निजशुद्धात्मतत्त्व का विधिपूर्वक सेवन करो, तभी दःुख का अभाव एवं अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ प्राप्त होगा।

इसप्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों का प्रयोजन एवं उपयोगिता जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

(९) **प्रश्नः**—यदि ऐसी बात है तो कृपया द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक—दोनों नयों का प्रयोजन एवं उपयोगिता सोदाहरण विस्तार से समझाइये।

**उत्तरः**—प्रत्येक नय का प्रयोजन विवक्षित वस्त्वंश को गहराई से जानना एवं प्रतिपादन करना ही होता है। मुख्यरूप से प्रत्येक नय की उपयोगिता भी तत्सम्बन्धी अज्ञान के नाश में ही है, तथापि भेदज्ञान तथा वीतरागता की उत्पत्ति, वृद्धि एवं पूर्णता की प्राप्ति में भी नयज्ञान हेतु बनता है।

प्रमाण के फल का निरूपण करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दि लिखते हैं:-

"**अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।**[१]

प्रमाण का फल अज्ञाननिवृत्ति तथा त्याग, ग्रहण एवं उपेक्षा है।"

यहाँ पर सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का फल तत्सम्बन्धी अज्ञान के नाश के साथ-साथ जानी हुई हेय, उपादेय एवं ज्ञेय वस्तु के सन्दर्भ में क्रमशः त्याग़, ग्रहण एवं उपेक्षा (माध्यस्थभाव-उदासीनभाव) बताया गया है।

सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण का अंश होने से नय की उपयोगिता एवं प्रयोजन भी तत्सम्बन्धी अज्ञान का नाश तथा ग्रहण, त्याग एवं उपेक्षा है।

अज्ञान का नाश भेदज्ञानरूप होने से तथा हेय, उपादेय एवं ज्ञेयपदार्थों में ग्रहण, त्याग एवं उपेक्षा की वृत्ति वीतरागता की उत्पादक एवं पूर्णता की ओर ले जानेवाली होने से प्रत्येक नय की उपयोगिता तत्सम्बन्धी अज्ञान के नाश एवं वीतरागता की उत्पत्ति, वृद्धि एवं पूर्णता की प्राप्ति में ही है। तथा सभी नयों का प्रयोजन भी उक्त प्रयोजन की सिद्धि में ही निहित है।

अब यहाँ द्रव्यार्थिक नय उक्त प्रयोजन की सिद्धि में किसप्रकार उपयोगी है—इस बात पर विचार करते हैं:-

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग की उत्पत्ति, वृद्धि एवं पूर्णता—द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यस्वभाव के आश्रय से ही होती है; तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय वीतरागभावस्वरूप ही है; अतः रत्नत्रय की उत्पत्ति, वृद्धि एवं पूर्णता ही वीतरागभाव की उत्पत्ति, वृद्धि एवं पूर्णता है।

रत्नत्रय की पूर्णता मोक्षस्वरूप है, अनन्तसुखस्वरूप है, प्रयोजनभूत साध्य है। प्रयोजनभूत साध्य की सिद्धि से अधिक उपयोगिता और क्या हो सकती है?

इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय की उपयोगिता एवं प्रयोजन यद्यपि एकदम स्पष्ट एवं पूर्णतः असंदिग्ध है; तथापि विकल्पात्मक दृष्टि से विचार करने से भी द्रव्यार्थिकनय सम्बन्धी विषयवस्तु के परिज्ञान से पर्याय में निर्भयता, अदीनता एवं समताभाव का उदय होता है।

द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यस्वभाव अपरिवर्तनशील एवं पर्यायार्थिकनय का विषयभूत पर्यायस्वभाव परिवर्तनशील है। हमारी

---

[१] परीक्षामुख, पञ्चम परिच्छेद, सूत्र १

आत्मवस्तु का जो अंश (द्रव्यांश) अपरिवर्तनशील है, वह शुद्ध-बुद्ध है, अजर-अमर है, परिपूर्ण है; तथा जो अंश (पर्यायांश) परिवर्तनशील है, वह वर्तमान में अशुद्ध है, विकृत है, अपूर्ण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि वस्तु का स्वरूप हमारे ही पक्ष में है; क्योंकि जो हमें इष्ट है, वह अपरिवर्तनशील है, शाश्वत है तथा जो अनिष्ट है, जिसे हम स्वयं बदलना चाहते हैं, वह परिवर्तनशील है, क्षणभंगुर है।

जिसप्रकार अपरिवर्तनशील शुद्ध-बुद्ध तत्त्व हमें निर्भय बनाता है, दीनता का भाव उत्पन्न नहीं होने देता; उसीप्रकार परिवर्तनशील विकार भी हमें आश्वस्त करता है कि चिन्ता की कोई बात नहीं है, क्योंकि अशुद्धता शाश्वत नहीं है। संयोगों और विकारों की क्षणभंगुरता सहज ही वैराग्योत्पादक एवं वीतरागता की पोषक होती है।

एक राजा हाथी पर सवार होकर अपने ताम-झाम के साथ नगर के प्रमुख पथ से जा रहा था। एक शराबी दूर से ही चिल्लाकर उससे बोला :–

''ए हाथीवाले ! हाथी बेचेगा?''

राजा के आदेश से उसे तत्काल गिरफ़्तार कर दूसरे दिन दरबार में पेश किया गया।

राजा ने मुर्स्कराते हुए उससे पूछा :–''क्यों भाई, हाथी खरीदोगे?''

उसने हाथ जोड़कर नम्रता से उत्तर दिया :–'महाराज, मैं क्या हाथी खरीदूँगा? हाथी खरीदनेवाला तो गया। हाथी खरीदनेवाला तो नशा था, अब वह कहाँ है?''

राजा को उसका उत्तर सुनकर उस पर क्रोध न आकर करुणा आई।

तात्पर्य यह है कि पर्याय में उत्पन्न होनेवाली विकृति पर्याय के साथ ही नष्ट हो जाती है; अतः जब कोई हमसे आकर कहे कि वह आपको गाली दे रहा था, आपकी बुराई कर रहा था, तब उस पर क्रोधित न होकर यह विचारना चाहिए कि गाली देनेवाली, बुराई करनेवाली पर्याय तो उसीसमय काल-कवलित हो गई होगी। हो सकता है, इससमय वह हमारी प्रशंसा ही कर रहा हो। अतः इन आनी-जानी क्षणिक पर्यायों को देखकर किसी को शत्रु-मित्र मान लेना बुद्धिमानी नहीं है।

जब भगवान महावीर का जीव क्रूर शेर की पर्याय में था और हिरण को मारकर खा रहा था, तब उसका जो क्रूर परिणाम था, वह क्षण भर बाद ही बदल नहीं गया था क्या? अब आप ही बताइये कि वह शेर क्रोध का पात्र है या वात्सल्य का? पर्यायार्थिकनय की विषयभूत क्षणभंगुर पर्याय के लक्ष्य से

होनेवाले राग-द्वेष, शत्रु-मित्र भी शाश्वत नहीं होते। जो आज हमारा शत्रु है, वही कल घनिष्टतम मित्र भी हो सकता है। शत्रु और मित्रों के समान शत्रुता और मित्रता भी शाश्वत नहीं होती। पर्यायार्थिकनय की विषय-वस्तु पर इसप्रकार विचार करने पर वह वैराग्योत्पादक ही होती है, वीतरागता की पोषक ही होती है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाण एवं उसके अंशरूप नय–सभी अपने-अपने प्रयोजन की सिद्धि करनेवाले होने से उपयोगी ही हैं।

पर्यायार्थिकनय कहता है कि मारीचि मारीचि है और महावीर महावीर है; मारीचि महावीर नहीं और महावीर मारीचि नहीं। द्रव्यार्थिकनय कहता है कि न मारीचि मारीचि है; न महावीर महावीर; मारीचि भी आत्मा है और महावीर भी आत्मा; बस एक आत्मा ही है; मारीचि या महावीर कुछ नहीं। प्रमाण कहता है :–महावीर और मारीचि जुदे-जुदे भी हैं और एक भी। मारीचि ही महावीर है और महावीर ही मारीचि; क्योंकि जो आत्मा मारीचि है, वही आत्मा महावीर भी है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपने-अपने विषयों का प्रतिपादन करते हैं और प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु को स्पष्ट करने के लिए उन दोनों के विषयों को जोड़ देता है।

मारीचि और महावीर–दोनों पर्यायें हैं। इन दोनों में ही रहनेवाला आत्मा द्रव्य है। द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य पर दृष्टि जाने पर तो नियम से वीतरागता की ही उत्पत्ति होती है तथा जिसप्रकार अभी-अभी स्पष्ट किया है, उसप्रकार पर्यायार्थिकनय के विषय पर विचार किया जाय तो भी वीतरागता ही उत्पन्न होगी। यदि कदाचित् राग-द्वेष का जहर भी उत्पन्न हो जाता है, तो प्रमाण का प्रयोग उसका शमन कर देता है।

जैसे :–जब हमारा ध्यान भगवान आदिनाथ के विरुद्ध विषवमन करनेवाले मारीचि की ओर जाता है तो उसके प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है तथा जब भगवान महावीर की ओर जाता है तो भक्ति का राग उमड़ पड़ता है; किन्तु जब हम प्रमाण के रूप में यह विचार करते हैं कि मारीचि ही महावीर हैं, दोनों एक ही हैं तो कुछ बात ही और हो जाती है, समताभाव का उदय हो जाता है, वीतरागी माध्यस्थभाव उत्पन्न हो जाता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि प्रमाण और नय (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) दोनों वीतरागभाव के ही उत्पादक हैं; सार्थक हैं, उपयोगी हैं।

–o–

# द्रव्यार्थिक नय : भेद-प्रभेद

सामान्य-विशेषात्मक आत्मवस्तु के नित्य, एक, अभेदरूप सामान्यांश को विषय बनाने वाला द्रव्यार्थिकनय यद्यपि एक ही है, क्योंकि जिसका विषय एक हो, वह अनेक प्रकार का कैसे हो सकता है? जिसका विषय अभेद हो, उसके भेद कैसे सम्भव है? तथापि जिनागम में प्रयोजनवश उसके भी भेद किये गये हैं।

वस्तु का जो अंश (द्रव्यांश) द्रव्यार्थिकनय का विषय है, वह शुद्ध है या अशुद्ध अथवा दोनों से ही निरपेक्ष तत्त्व है? — इसप्रकार के जो अनेक प्रश्न (विकल्प) उसके सन्दर्भ में उपस्थित होते हैं, उनका समुचित समाधान करना ही जिनागम में निरूपित द्रव्यार्थिकनय के भेद-प्रभेदों का मूल प्रयोजन है।

जिनागम में द्रव्यार्थिकनय के सामान्यतया दो भेद किये गये हैं:—
(१) शुद्धद्रव्यार्थिकनय एवं (२) अशुद्धद्रव्यार्थिकनय।

विशेषरूप में इसके दश भेद भी बताये गये हैं, जिनकी चर्चा यथास्थान आगे करेंगे ही।

शुद्ध और अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का व्युत्पत्ति-अर्थ 'आलापपद्धति' में इसप्रकार दिया गया है:—

"**शुद्धमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः। अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धद्रव्यार्थिकः।**[1]

शुद्ध द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय है और अशुद्धद्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, वह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है।"

उक्त कथन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझने की बात यह है कि यहाँ द्रव्य की शुद्धता और अशुद्धता से क्या आशय है अर्थात् शुद्धता और अशुद्धता का आधार क्या है?

इस प्रकरण में कर्मोपाधि, भेदकल्पना एवं उत्पाद-व्यय से निरपेक्षता ही शुद्धता और इनसे सापेक्षता ही अशुद्धता है। इसी आधार पर शुद्धद्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक—दोनों ही नय तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं, जिनके नाम इसप्रकार हैं :—

(१) कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
(२) भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
(३) उत्पादव्ययनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय

---

[1] आलापपद्धति पृष्ठ २२६

(४) कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
(५) भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
(६) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय

इनमें आरम्भ के तीन शुद्धद्रव्यार्थिकनय हैं और शेष तीन अशुद्धद्रव्यार्थिकनय हैं।

इन्हें तीन जोड़ों में इसप्रकार भी रख सकते हैं:—

१-(क) कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
(ख) कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
२-(क) भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
(ख) भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय
३-(क) उत्पादव्ययनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय
(ख) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय

इनकी सोदाहरण परिभाषाएँ 'नयचक्र'[1] में इसप्रकार दी गई हैं:—

**"कम्माणं मज्झगदं जीवं जो गहइ सिद्धसंकासं ।**
**भण्णइ सो शुद्धणओ खलु कम्मोवाहिणिरवेक्खो ।।**

जो कर्मों के मध्य में स्थित अर्थात् कर्मों से लिप्त जीव को सिद्धसमान शुद्ध ग्रहण करता है, उसे कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

**उप्पादवयं गउणं किच्चा जो गहइ केवला सत्ता ।**
**भणइ सो शुद्धणयो इह सत्तागाहओ समए ।।**

जो नय उत्पाद-व्यय को गौण करके केवल सत्ता को ग्रहण करता है, उसे आगम में उत्पाद-व्ययनिरपेक्ष सत्ताग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

**गुणगणियाइचउक्के अत्थे जो णो करेइ खलु भेयं ।**
**सुद्धो सो दव्वत्थो भेयवियप्पेण णिरवेक्खो ।।**

जो नय गुण-गुणी आदि चतुष्करूप (गुण-गुणी, स्वभाव-स्वभाववान, पर्याय-पर्यायी एवं धर्म-धर्मी) अर्थ में भेद नहीं करता, वह भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय है।

**भावे सरायमादी सव्वे जीवामिह जो दु जंपेदि ।**
**सो हु असुद्धो उत्तो कम्माणउवाहिसावेक्खो ।।**

जो नय सब रागादि भावों को जीव या जीव के कहता है, वह कर्मोपाधिसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है।

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १९० से १९५

**उप्पादवयविमिस्सा सत्ता गहिऊण भणइ तिदयत्तं ।**
**दव्वस्स एयसमए जो सो हु असुद्धओ विदिओ।।**

जो नय उत्पाद-व्यय के साथ मिली हुई सत्ता को ग्रहण करके द्रव्य को एकसमय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप कहता है, वह उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है।

**भेए सदि संबंधं गुणगुणियाईहिं कुणइ जो दव्वे ।**
**सो वि असुद्धो विट्ठो सहिओ सो भेयकप्पेण।।**

जो नय द्रव्य में गुण-गुणी आदि का भेद करके उनके साथ सम्बन्ध कराता है, वह भेदकल्पना से सहित होने से भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है।

इनके सन्दर्भ में इसीप्रकार का भाव 'आलापपद्धति' में भी व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है:—

"**कर्मोपाधिनिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा संसारीजीवः सिद्धसदृक् शुद्धात्मा। उत्पादव्ययगौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यम्। भेदकल्पनानिरपेक्षः शुद्धद्रव्यार्थिको यथा निजगुणपर्यायस्वभावत्वाद् द्रव्यमभिन्नम्। कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा। उत्पादव्ययसापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। भेदकल्पनासापेक्षोऽशुद्धद्रव्यार्थिको यथा आत्मनो ज्ञानदर्शनादयो गुणाः।**[१]

कर्मोपाधिनिरपेक्ष (कर्म की उपाधि की अपेक्षा न करनेवाला) शुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे :—संसारीजीव सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा है। उत्पाद और व्यय को गौण करके सत्ता का ग्राहक शुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे :—द्रव्य नित्य है। भेदकल्पना से निरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे :—द्रव्य अपने गुण, पर्याय और स्वभाव से अभिन्न है। कर्म की उपाधि की अपेक्षा करनेवाला अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे :—कर्मजन्य क्रोधादिभावरूप आत्मा। उत्पाद-व्यय की अपेक्षा करनेवाला अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे :—द्रव्य एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, जैसे:—आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण हैं।"

इनके अतिरिक्त द्रव्यार्थिकनय के चार प्रकार और भी बताये गये हैं, जिनके नाम इसप्रकार हैं:—

---

[१] आलापपद्धति, पृष्ठ २९४

(१) अन्वय द्रव्यार्थिकनय
(२) स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
(३) परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय
(४) परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय

नयचक्रानुसार[1] इनकी परिभाषाएँ इसप्रकार हैं:-

**"णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण सव्वदव्वेहि ।**
**विवहावं णहि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिओ ।।**

जो नयसमस्त स्वभावों में 'यह द्रव्य है'—इसप्रकार अन्वयरूप से द्रव्य की स्थापना करता है, वह अन्वय द्रव्यार्थिकनय है।

**सद्दव्वादिचउक्के संतं दव्वं खु गिह्णए जो हु ।**
**णियदव्वादिसु गाही सो इयरो होइ विवरीओ ।।**

जो नय स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव में सत् द्रव्य को ग्रहण करता है, वह स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय है और जो नय परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव में असत् द्रव्य को ग्रहण करता है, वह परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय है।

**गेण्हइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोवयारपरिचत्तं ।।**
**सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ।।**

जो नय शुद्ध, अशुद्ध और उपचरितस्वभाव से रहित परमस्वभाव को ग्रहण करता है, उसे मोक्षाभिलाषियों द्वारा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानना चाहिए।

इनका स्वरूप 'आलापपद्धति' में इसप्रकार दिया गया है:-

**"अन्वयद्रव्यार्थिको यथा गुणपर्यायस्वभावं द्रव्यम् ।। स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यमस्ति। परद्रव्यादिग्राहकद्रव्यार्थिको यथा परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति। परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा।**[2]

अन्वय द्रव्यार्थिकनय, जैसे :—द्रव्य, गुण-पर्यायस्वभाववाला है। स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, जैसे :—द्रव्य, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा सत् है। परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय, जैसे :—द्रव्य, परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा असत् है। परमभावग्राहक

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १९६ से १९८
[2] आलापपद्धति, पृष्ठ २१५

द्रव्यार्थिकनय, जैसे :—आत्मा ज्ञानस्वरूप है।"

द्रव्यार्थिकनय के उक्त दश प्रकारों में तीन शुद्धद्रव्यार्थिक, तीन अशुद्धद्रव्यार्थिक, एक अन्वय द्रव्यार्थिक, एक स्वद्रव्यादिग्राहक, एक परद्रव्यादिग्राहक तथा एक परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय है।

श्री जैनेन्द्र वर्णी ने इन्हीं दश भेदों में पाँच को शुद्धद्रव्यार्थिक एवं पाँच को अशुद्धद्रव्यार्थिक बताया है। उनमें तीन शुद्ध और तीन अशुद्ध तो वे ही हैं, जो ऊपर बताये गये हैं। शेष में अन्वयद्रव्यार्थिक एवं परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय को अशुद्ध तथा स्वद्रव्यादिग्राहक एवं परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय को शुद्धद्रव्यार्थिकनय बताया गया है।

उक्त कथन का पोषक उनका कथन इसप्रकार है:—

"द्रव्यार्थिकनय के पहले दो मूल भेद किये गये :—शुद्धद्रव्यार्थिक व अशुद्धद्रव्यार्थिक। तथा इनके प्रतिबिम्बस्वरूप आगे दश भेद किये गये:— (१) उत्पादव्ययनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, (२) उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, (३) भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्धद्रव्याथिकनय, (४) भेदकल्पनासापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, (५) कर्मनिरपेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय, (६) कर्मसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय, (७) स्वद्रव्यादिचतुष्टयग्राही शुद्धद्रव्यार्थिकनय, (८) परद्रव्यादिचतुष्टयविच्छेदक अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (९) परमपारिणामिकभावग्राही शुद्धद्रव्यार्थिक और (१०) गुण व त्रिकाली पर्यायों में अनुगत पिण्ड अन्वय नामवाला अशुद्धद्रव्यार्थिक।[1]"

जैनेन्द्रजी के उक्त वर्गीकरण पर गम्भीरता से विचार करने पर भी सहमत हो पाना संभव नहीं हो रहा है; क्योंकि जिनागम में स्वद्रव्यादिग्राहक, परद्रव्यादिग्राहक, अन्वय और परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनयों के साथ 'शुद्ध' या 'अशुद्ध' शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आया है; जबकि शेष छह प्रकारों में प्रत्येक के साथ 'शुद्ध' या अशुद्ध' विशेषण स्पष्टरूप से लगा हुआ मिलता है। यहाँ तक कि जैनेन्द्रजी ने प्रमाणस्वरूप जो उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, उनमें भी 'शुद्ध' या 'अशुद्ध' विशेषण प्राप्त नहीं होते हैं।

दूसरे इस प्रकरण में कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय एवं भेदकल्पना की सापेक्षता को अशुद्धता एवं इनसे निरपेक्षता को शुद्धता का आधार बताया गया है, अतः यह स्पष्ट है कि यहाँ इनकी निरपेक्षता ही शुद्धता है और सापेक्षता ही अशुद्धता, इससे भिन्न कोई अपेक्षा अभीष्ट नहीं है।

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ ४७६

स्वद्रव्यादिग्राहक, परद्रव्यादिग्राहक, अन्वय एवं परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनयों में इसप्रकार की कोई सापेक्षता या निरपेक्षता नहीं है; अतः इनमें इसप्रकार के भेद भी सम्भव नहीं हैं।

तीसरे परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय की परिभाषा में ही यह बात साफ-साफ लिखी है कि जो नय शुद्ध, अशुद्ध और उपचार से रहित परमस्वभाव को ग्रहण करता है, उसे परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। इसप्रकार इस नय को शुद्धता और अशुद्धता – दोनों ही विशेषण अभीष्ट नहीं हैं; क्योंकि इस नय का विषय तो सापेक्षता एवं निरपेक्षता – दोनों ही विकल्पों से परे है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय की परिभाषा इसमें किसी भी प्रकार घटित नहीं होती, क्योंकि द्रव्य की शुद्धता या शुद्धता सहित द्रव्य शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय है, जबकि परमभावग्राहीनय का विषय शुद्धता, अशुद्धता और उपचार से रहित, इनके विकल्प से भी परे–परमपारिणामिकभाव (परमपारिणामिकभावरूप द्रव्य) है।

इसीप्रकार अस्तिस्वभाव के समान नास्तिस्वभाव भी प्रत्येक वस्तु का सहज धर्म है, उनमें अस्तिस्वभाव का ग्राहक नय शुद्ध एवं नास्तिस्वभाव का ग्राहक नय अशुद्ध कैसे कहा जा सकता है?

यद्यपि जैनैन्द्रजी ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने का बहुत प्रयत्न किया है, तथापि लगता है, वे स्वयं भी इस बात से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाये थे; क्योंकि चार्ट-एक[१] में वे स्वयं चार नयों को शुद्ध एवं छह नयों को अशुद्ध बताते हैं, पर चार्ट-दो[२] में पाँच शुद्ध और पाँच अशुद्ध नय बताते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि द्रव्यार्थिकनय छह भेदों को ही शुद्ध और अशुद्ध के भेदों में विभाजित किया जा सकता है, शेष चार द्रव्यार्थिकनयों में इसप्रकार का वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

यद्यपि इन दशों ही नयों की विषयवस्तु वस्तु का द्रव्यांश ही है, तथापि प्रयोजन-विशेष से विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर उसमें विविधता स्फुरायमान हो जाती है।

वे कौन से प्रयोजन हैं, जिनके कारण द्रव्यार्थिकनय में विविधता स्फुरायमान हो जाती है तथा वह दश भेदों में विभाजित हो जाता है?

---

[१] नयदर्पण, पृष्ठ २३० के साथ संलग्न चार्ट-१

[२] नयदर्पण, पृष्ठ ७२२ के साथ संलग्न चार्ट-२

सबसे बड़ा प्रयोजन तो विषयवस्तु को स्पष्ट करना ही है; क्योंकि जबतक तत्संबंधी ज्ञान निर्मल न होगा, तबतक उसके सन्दर्भ में शंकाएँ, आशंकाएँ तथा प्रश्न उत्पन्न होते ही रहेंगे।

द्रव्यार्थिकनय का विषय यद्यपि प्रत्येक वस्तु का द्रव्यांश होता है, तथापि आत्महित की मुख्यता होने से यहाँ आत्मा को लक्ष्य में रखकर ही इसके भेद-प्रभेद किये गये हैं।

द्रव्यार्थिकनय की विषयभूत आत्मवस्तु यद्यपि पर और पर्याय से भिन्न, भेद-विकल्पों से निरपेक्ष अनन्तगुणात्मक अभेदवस्तु है; तथापि वह उत्पाद-व्यय है स्वरूप जिनका ऐसी पर्यायों, पर्यायों की उपाधियों एवं भेद-विकल्पों से सर्वथा ही भिन्न (पृथक्त्वलक्षण) हो– ऐसी बात नहीं है।

यद्यपि देखना उसे (द्रव्यांश को) ही है, तथापि उसे उत्पाद-व्ययरूप पर्यायों, पर्यायों की उपाधियों एवं भेद-विकल्पों से सापेक्ष भी देखा जा सकता है और निरपेक्ष भी। सापेक्ष देखना अशुद्धता है और निरपेक्ष देखना शुद्धता।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें, पर्याय की उपाधिरूप औपाधिकभाव (रागादि) तथा भेदकल्पना – इन तीनों के ही पर्यायरूप होने से इन्हें तो पर्यायार्थिकनय का विषय होना चाहिए, इन्हें यहाँ द्रव्यार्थिकनय का विषय क्यों बताया जा रहा है?

पर बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यहाँ मुख्यता पर्याय की नहीं है, द्रव्य की ही है; क्योंकि देखा तो द्रव्य को ही जा रहा है, पर्यायों को नहीं। बात तो मात्र यह है कि पर्यायों से सापेक्ष (सहित) द्रव्य को देखना अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का काम है और पर्यायों से निरपेक्ष (रहित) द्रव्य को देखना शुद्धद्रव्यार्थिकनय का काम है।

यहाँ प्रयोजन तो मात्र द्रव्य को देखने का ही है, अतः यह द्रव्यार्थिकनय ही है; क्योंकि द्रव्यार्थिकनय को स्पष्ट करते हुए पहले कहा जा चुका है कि शुद्धद्रव्य को देखना है प्रयोजन जिसका, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय है और अशुद्धद्रव्य को देखना है प्रयोजन जिसका, वह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है।

पर्यायें द्रव्य से सर्वथा भिन्न तो हैं नहीं, पर यदि अशुद्धद्रव्यार्थिकनय का प्रयोग नहीं होता तो शुद्धद्रव्यार्थिकनय के जोर में उन्हें सर्वथा पृथक् मान लिए जाने पर भिन्नैकान्त का प्रसंग उपस्थित हो जाता; अतः अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयों का कथन सार्थक ही है, प्रयोजनभूत ही है, निरर्थक नहीं, अप्रयोजनभूत भी नहीं।

यदि अशुद्धद्रव्यार्थिकनयों की ही चर्चा करते तो पर्यायों से भिन्नतावाला

पक्ष अस्पष्ट रह जाता। उसके बिना तो आश्रयभूत द्रव्य ही स्पष्ट न हो पाता। अतः पर्यायों से द्रव्य को निरपेक्ष बतानेवाले शुद्धद्रव्यार्थिकनय भी अप्रयोजनभूत नहीं हैं, अपितु मूलभूत प्रयोजन की सिद्धि करनेवाले होने से अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

एक प्रश्न यह भी संभव है कि पर्यायों सहित द्रव्य को देखना तो प्रमाण का विषय होना चाहिए, न कि द्रव्यार्थिकनय का; पर यहाँ उसे द्रव्यार्थिकनय का विषय बताया जा रहा है।

प्रमाण के विषय में द्रव्यांश और पर्यायांश समानरूप से मुख्य रहते हैं, अथवा उसमें मुख्यता और गौणता की विवक्षा ही नहीं रहती; जबकि यहाँ द्रव्यांश मुख्य है एवं पर्यायांश गौण; अतः यह तो निर्विवादरूप से द्रव्यार्थिकनय का ही विषय है, न तो पर्यायार्थिकनय का है और न प्रमाण का ही।

वस्तु के सामान्यविशेषात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक होने से वस्तुभूत द्रव्य में पर्यायें हैं तो सही, पर उनके रहते हुए भी यह सम्भव है कि द्रव्यार्थिकनय उन्हें गौण कर दे, देखे ही नहीं; परन्तु वस्तु के द्रव्यांश को उनसे (पर्यायों से—कर्मोपाधियों, उत्पाद-व्यय एवं भेद-विकल्पों से) सापेक्ष देखे या निरपेक्ष—यह तो द्रव्यार्थिकनय की सीमा में ही आता है।

द्रव्य को पर्यायों से सापेक्ष देखना अशुद्धता का उत्पादक होने से अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहा जाता है एवं द्रव्य को पर्यायों से निरपेक्ष देखना शुद्धता का उत्पादक होने से शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहा जाता है अथवा सापेक्षता (सहितता) ही अशुद्धता है और निरपेक्षता (रहितता) ही शुद्धता है।

इसप्रकार कर्मोपाधि, उत्पाद-व्यय एवं भेदकल्पना की सापेक्षता की अपेक्षा तीन प्रकार के अशुद्धद्रव्यार्थिकनय तथा इन्हीं से निरपेक्षता की अपेक्षा तीन प्रकार के शुद्धद्रव्यार्थिकनय बन जाते हैं।

द्रव्यार्थिकनय की व्युत्पत्ति करते हुए 'आलापपद्धति' में जो कुछ लिखा है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि अन्वयद्रव्यार्थिक आदि चार नयों में शुद्ध-अशुद्ध का वर्गीकरण उन्हें इष्ट नहीं है। उक्त कथन मूलतः इसप्रकार है:—

**"द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। शुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति शुद्धद्रव्यार्थिकः। अशुद्धद्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येत्यशुद्धद्रव्यार्थिकः। सामान्यगुणादयोऽन्वयरूपेण द्रवति द्रव्यमिति व्यवस्थापयतीत्यन्वयद्रव्यार्थिकः। स्वद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति**

**स्वद्रव्यादिग्राहकः। परद्रव्यादिग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परद्रव्यादिग्राहकः। परमभावग्रहणमर्थः प्रयोजनमस्येति परमभावग्राहकः।**[१]

द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन है, वह द्रव्यार्थिकनय है। शुद्धद्रव्य ही जिसका अर्थ–प्रयोजन है, वह शुद्धद्रव्यार्थिकनय हैं। अशुद्ध द्रव्य ही जिसका अर्थ–प्रयोजन है, वह अशुद्धद्रव्यार्थिकनय है। सामान्य गुण आदि को अन्वयरूप से 'द्रव्य' 'द्रव्य'-ऐसी व्यवस्था जो करता है, वह अन्वयद्रव्यार्थिक है अर्थात् अविच्छिन्नरूप से चले आते गुणों के प्रवाह में जो द्रव्य की व्यवस्था करता है, उसे ही द्रव्य मानता है, वह अन्वयद्रव्यार्थिक है। जिसका अर्थ–प्रयोजन स्वद्रव्यादि को ग्रहण करना है, वह स्वद्रव्यादिग्राहकनय है। जिसका अर्थ–प्रयोजन परद्रव्यादि को ग्रहण करना है, वह परद्रव्यादिग्राहकनय है। और जिसका अर्थ–प्रयोजन परमभाव को ग्रहण करना है, वह परमभावग्राहकनय है।''

उक्त कथन में द्रव्यार्थिकनय के उन भेदों के नाम नहीं हैं, जिन्हें शुद्ध या अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय में गर्भित किया जा सकता है। उन्हें शुद्धद्रव्यार्थिक और अशुद्धद्रव्यार्थिक में ही गर्भित कर लिया गया है। शेष चार का पृथक् उल्लेख है। इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय निम्नानुसार छह प्रकार का ही रह जाता है:–

(१) शुद्धद्रव्यार्थिकनय,
(२) अशुद्धद्रव्यार्थिकनय,
(३) अन्वयद्रव्यार्थिकनय,
(४) स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय,
(५) परद्रव्यादिग्राहक द्रव्योर्थिकनय,
(६) परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय,

अनन्तगुणात्मक के समान वस्तु अनन्तस्वभावात्मक भी है। जैसे– आत्मा ज्ञानस्वभावी है, दर्शनस्वभावी है, सुखस्वभावी है; अस्तिस्वभावी है, नास्तिस्वभावी है; नित्यस्वभावी है, अनित्यस्वभावी है; भिन्नस्वभावी है, अभिन्नस्वभावी है; एकस्वभावी है, अनेकस्वभावी है; केवलज्ञानस्वभावी है, इत्यादि। इन सब स्वभावों में कुछ गुणस्वभाव हैं, कुछ पर्यायस्वभाव हैं–इसप्रकार आत्मा गुणपर्यायस्वभावी है। इन सभी स्वभावों में 'यह आत्मा है'–इसप्रकार अन्वयरूप से द्रव्य की स्थापना करना अन्वयद्रव्यार्थिकनय का काम है।

---

[१] आलापपद्धति, पृष्ठ २२६

यद्यपि द्रव्य के अनन्तस्वभावों का कथन सम्भव नहीं है, तथापि एकाधिक स्वभावों के कथन द्वारा उनके साथ अन्वयरूप से रहनेवाले अनंत स्वभावों को अभेदरूप से ग्रहण करना ही इस नय का मूल प्रयोजन है। जब हम आत्मा को ज्ञानस्वभावी, आनन्दस्वभावी या ज्ञानानन्दस्वभावी कहते हैं, तब हमारा अभिप्राय आत्मा को मात्र ज्ञानस्वभावी या आनन्दस्वभावी अथवा ज्ञानानन्दस्वभावी कहने का ही नहीं होता, अपितु ज्ञान और आनन्द जैसे अनन्त स्वभावों से संयुक्त अनन्तस्वभावी अखण्ड-अभेद आत्मा समझाने का होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनन्त स्वभावों से संयुक्त अखण्ड-अभेद वस्तु को उसी के किसी एक या एकाधिक स्वभाव के कथन द्वारा समझना, प्रतिपादन करना अन्वयद्रव्यार्थिकनय का काम है।

अन्वयद्रव्यर्थिकनय वस्तु के जिन अनन्त स्वभावों में अन्वय स्थापित करता है, उन अनन्त स्वभावों को पृथक्-पृथक् ग्रहण करनेवाले यद्यपि अनन्त नय हो सकते हैं; हो क्या सकते हैं, होते ही हैं; तथापि न तो अनन्त स्वभावों का ही कथन सम्भव है और न अनन्त नयों का।

यद्यपि अनन्त स्वभावों और उनके ग्राहक–प्रतिपादक अनन्त नयों का कथन सम्भव नहीं है; तथापि उन्हें जाना ही न जा सकता हो–ऐसी बात भी नहीं है। एक-दो को सोदाहरण समझकर शेष के सम्बन्ध में अनुमान तो किया ही जा सकता है। ध्यान रहे, जैनागम में अनुमान ज्ञान को भी प्रमाण-ज्ञान माना गया है। आगम-प्रमाण से भी ये यथासम्भव जाने जाते हैं। अतः वे अज्ञेय नहीं हैं।

इसी उद्देश्य से वस्तु के अनन्त स्वभावों में से मूलभूत स्वभाव अस्तिस्वभाव (भावस्वभाव) एवं नास्तिस्वभाव (अभावस्वभाव) रूप युगल के ग्राहक–प्रतिपादक स्वद्रव्यादिग्राहक एवं परद्रव्यादिकग्राहक द्रव्यार्थिकनय रखे गये हैं।

ये दोनों नय क्रमशः अस्तिस्वभाव और नास्तिस्वभाव के ग्राहक हैं–इस बात को 'वृहन्नयचक्रम्' में इसप्रकार बताया गया है :–

**"अस्तिस्वभावं द्रव्यं सद्द्रव्यादिषु ग्राहकनयेन ।**
**तदपि च नास्तिस्वभावं परद्रव्यादिग्राहकेण ।।**[1]

स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य अस्तिस्वभाववाला है तथा

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ ५०२ व ५०५

परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय से नास्तिस्वभाववाला है।"

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को चतुष्टय कहते हैं। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को स्वचतुष्टय एवं पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को परचतुष्टय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् (भावरूप–अस्तिरूप) है एवं परचतुष्टय की अपेक्षा असत् (अभावस्वरूप–नास्तिरूप) है। ये सत् और असत्, भाव और अभाव या अस्तित्व और नास्तित्व प्रत्येक द्रव्य के स्वयं के स्वभाव हैं, धर्म हैं, शक्तियाँ हैं। यद्यपि इन दोनों की अपेक्षाएँ जुदी-जुदी हैं, परन्तु द्रव्य में इन दोनों की अपेक्षा समानरूप से ही विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि नास्तित्व धर्म की सत्ता वस्तु में अस्तित्व धर्म के समान ही शक्तिरूप से विद्यमान है।

एक का कार्य स्वयं को विघटित होने से बचाने का है तो दूसरे का कार्य पर के हस्तक्षेप से सुरक्षा करने का है। यदि प्रथम गृह-मन्त्रालय का काम सँभालता है तो दूसरा रक्षा-मन्त्रालय का। तात्पर्य यह है कि अस्तिस्वभाव गृह-मन्त्रालय के समान आन्तरिक विघटन को रोकता है, तो दूसरा रक्षा-मन्त्रालय के समान अपनी सीमाओं को सुरक्षित रखता है।

'आलापपद्धति' में अस्तिस्वभाव एवं नास्तिस्वभाव का व्युत्पत्तिअर्थ इसप्रकार दिया गया है:–

**"स्वभावलाभादच्युतत्वादस्तिस्वभावः ।**
**परस्वरूपेणाभावान्नास्तिस्वभावः ।।**[1]

स्वभाव के लाभ से च्युत नहीं होने से द्रव्य अस्तिस्वभाववाला है तथा परस्वरूप नहीं होने से नास्तिस्वभाववाला है।"

वस्तुतः इन दोनों स्वभावों एवं इनके प्रतिपादक नयों का काम क्रमशः वस्तु की स्वतन्त्रता कायम रखना एवं उसका प्रतिपादन करना है। प्रत्येक द्रव्य पूर्ण स्वतन्त्र है, कोई किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता – इन नयों का प्रयोजन इस महान सिद्धांत का प्रतिपादन करना ही है।

इन दो नयों को द्रव्यार्थिकनय के भेदों में रखकर आचार्यदेव पाठकों से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे इनके आधार पर वस्तु के अनन्त स्वभावों के प्रतिपादक अनन्त नयों को अपनी शक्ति-अनुसार जितना भी सम्भव हो, घटित करें अर्थात् शेष को भी उसीप्रकार जानें-मानें।

स्वभावों की चर्चा करते हुए 'आलापपद्धति[2]' में ११ सामान्यस्वभाव

---

[1] आलापपद्धति, पृष्ठ २२०

[2] आलापपद्धति, पृष्ठ २१३

एवं १० विशेषस्वभाव – इसप्रकार २१ स्वभाव बताये गये हैं, जो कि इसप्रकार हैं:–

अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव, अनित्यस्वभाव, एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भेदस्वभाव, अभेदस्वभाव, भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव और परमस्वभाव–ये ग्यारह सामान्यस्वभाव हैं।

चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्त्तस्वभाव, अमूर्त्तस्वभाव, एकप्रदेशस्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्धस्वभाव और उपचरितस्वभाव – ये दश विशेषस्वभाव हैं।

उक्त २१ स्वभावों में आरम्भ के अस्तिस्वभाव और नास्तिस्वभाव के ग्राहक स्वद्रव्यादिग्राहक एवं परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय बताये ही गये हैं।

सामान्यस्वभावों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परमस्वभाव है, क्योंकि वह द्रव्यस्वभाव है। दशवाँ द्रव्यार्थिकनय उस परमस्वभाव का ही ग्राहक-प्रतिपादक है। इसकी परिभाषा 'नयचक्र'[1] में इसप्रकार दी गई है:–

**"गेह्णइ दव्वसहावं असुद्धसुद्धोवयारपरिचत्तं ।**
**सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ।।**

जो शुद्ध, अशुद्ध और उपचरितस्वभाव से रहित द्रव्यस्वभाव (परमस्वभाव) को ग्रहण करता है, वह परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय है। सिद्धि की कामना रखनेवालों को उसे अच्छी तरह जानना चाहिये।"

माइल्लधवलरचित नयचक्र का पूरा नाम 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' है। इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने तो सम्पूर्ण नयचक्र 'द्रव्यस्वभाव' के प्रकाशन के लिए ही बनाया है। यही कारण है कि उन्होंने द्रव्यस्वभाव को ग्रहण करनेवाले परमभावग्राही के स्वरूप के साथ 'णायव्वो सिद्धिकामेण' पद का प्रयोग किया है, जो कि अन्य नयों की प्ररूपणा में नहीं पाया जाता है।

द्रव्यस्वभाव की विशेषता बताते हुए वे उसे शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित स्वभाव से रहित बताते हैं; अतः पहले इन्हें जान लेना आवश्यक है।

शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित स्वभावों को ग्रहण करनेवाले नयों की चर्चा 'आलापपद्धति' में इसप्रकार की गयी है:–

**"शुद्धद्रव्यार्थिकेन शुद्धस्वभावः, अशुद्धद्रव्यार्थिकेन अशुद्धस्वभावः,**

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १९८

**असद्भूतव्यवहारेणोपचरितस्वभावः।** [१]

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुद्धस्वभाव है, अशुद्धद्रव्यार्थिकनय से अशुद्धस्वभाव है और असद्भूतव्यवहारनय से उपचरितस्वभाव है।"

उक्त कथन से यह प्रतीत होता है कि परमस्वभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यस्वभाव तीनों प्रकार के शुद्धनयों की विषयभूत शुद्धता (निरपेक्षता), तीनों प्रकार के अशुद्धनयों की विषयभूत अशुद्धता (सापेक्षता) एवं असद्भूतव्यवहारनय के विषयभूत संयोगादि से रहित है। सद्भूतव्यवहारनय के भेद भी शुद्ध एवं अशुद्ध के रूप में किये जाते हैं; अतः शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित से रहित में सद्भूत एवं असद्भूत दोनों प्रकार के व्यवहारनयों का निषेध भी समाहित हो जाता है।

इसप्रकार यह द्रव्यस्वभाव संयोग एवं सापेक्षता-निरपेक्षता के विकल्पों से भी परे परमस्वभावरूप है। परमपारिणामिकभावरूप होने से ही इस द्रव्यस्वभाव का नाम परमभाव पड़ा है।

आचार्य जयसेन के निम्नलिखित कथन से बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है:—

"औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिकभाव तो पर्यायरूप हैं, एक शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव ही द्रव्यरूप है। पदार्थ परस्पर सापेक्ष द्रव्य-पर्यायरूप हैं। जीवत्व भव्यत्व, अभव्यत्व – इन तीन पारिणामिकभावों में शुद्धजीवत्वशक्तिलक्षणवाला (परम) पारिणामिकभाव शुद्ध (परमभावग्राही) द्रव्यार्थिकनय के आश्रित होने से निरावरण है तथा शुद्ध (परम) पारिणामिकभाव के नाम से जाना जाता है। वह बन्धमोक्षरूप पर्याय से रहित है।[२]"

परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत इस द्रव्यस्वभाव परमस्वभाव की महिमा गाते हुए नयचक्रकार लिखते हैं:—

**"एवं पिय परमपदं सारपदं सासणे पठिदं ।**
**एदं पिय थिररूवं लाहो अस्सेव णिव्वाणं।।** [३]

जिनशासन में इस परमपारिणामिक भाव को ही परमपद और सारभूत कहा गया है। यही अविनाशी तत्त्व है। इसके लाभ को ही निर्वाण कहते हैं।

---

[१] आलापपद्धति, पृष्ठ २२४
[२] समयसार गाथा ३२० की 'तात्पर्यवृत्ति टीका
[३] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १४३

**सद्धाणणाणचरणं जाव ण जीवस्स परम सब्भावे ।**
**ता अण्णाणी मूढ़ो संसारमहोदहि भमइ ।।[1]**

जबतक जीव का अपने इस परमस्वभाव में श्रद्धान, ज्ञान और आचरण नहीं है, तबतक वह मूढ़ अज्ञानी संसार-समुद्र में भटकता है।''

निश्चय-व्यवहार के प्रकरण में जिसे परमशुद्धनिश्चयनय का विषय कहा गया है, वही यहाँ परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय की विषयवस्तु है। जिसप्रकार निश्चय-व्यवहार के प्रकरण में परमशुद्धनिश्चयनय नयाधिराज है, उसीप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय के प्रकरण में परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय नयाधिराज है।

इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय के दश भेदों का सामान्यस्वरूप स्पष्ट हुआ। इनके सम्बन्ध में उठनेवाले प्रश्नों के उत्तर आगे यथास्थान दिये ही जावेंगे। अब पर्यायार्थिकनय के छह भेदों की चर्चा प्रसंगोपात्त है।

—o—

हमें आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है, जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे, जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते, तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे ?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं ? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है।

**– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १११**

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा ३७४

## पर्यायार्थिक नय : भेद-प्रभेद

जिनागम में पर्यायार्थिकनय के भेदों की चर्चा करते हुए उन्हें छह प्रकार का बताया गया है। 'आलापपद्धति' में उक्त छह प्रकारों को सोदाहरण इसप्रकार स्पष्ट किया है:—

**"अथ पर्यायार्थिकस्य षड्भेदा उच्यन्ते :— अनादिनित्यपर्यायार्थिको, यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेर्वादिः। सादिनित्यपर्यायार्थिको, यथा सिद्धपर्यायो नित्यः। सत्तागौणत्वेनोत्पादव्ययग्राहकस्वभावोऽनित्यशुद्ध-पर्यायार्थिको, यथा समयं समयं प्रति पर्यायाः विनाशिनः। सत्तासापेक्ष स्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको, यथा कस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः। कर्मोपाधिनिरपेक्षस्वभावोऽनित्यशुद्धपर्यायार्थिको, यथा सिद्धपर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः। कर्मोपाधिसापेक्षस्वभावोऽनित्याशुद्धपर्यायार्थिको, यथा संसारिणामुत्पत्तिमरणे स्तः।**[1]

अब पर्यायार्थिकनय के छह भेद कहते हैं :—

(१) अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय, जैसे:—पुद्गल की पर्याय सुमेरु पर्वत आदि नित्य हैं।

(२) सादिनित्यपर्यायार्थिकनय, जैसे:—सिद्धपर्याय नित्य है।

(३) सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करने का है स्वभाव जिसका ऐसा अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे:—पर्यायें प्रतिसमय विनाशशील हैं।

(४) सत्तासापेक्ष पर्याय को ग्रहण करना है स्वभाव जिसका ऐसा अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे:—एकसमय में पर्याय त्रयात्मक (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक) है।

(५) कर्मोपाधि से निरपेक्ष पर्याय को ग्रहण करना है स्वभाव जिसका ऐसा अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे :— संसारी जीवों की पर्याय सिद्धजीवों की पर्याय के समान शुद्ध है।

---

[1] आलापपद्धति (द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, परिशिष्ट १, पृष्ठ २१५)

(६) कर्मोपाधि से सापेक्ष पर्याय को ग्रहण करना है स्वभाव जिसका ऐसा अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय, जैसे :—संसारी जीवों का जन्म और मरण होता है।''

पर्यायार्थिकनय के उक्त छह भेदों को द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्रकार माइल्लधवल इसप्रकार स्पष्ट करते हैं:—

**''अक्किट्टिमा अणिहणा ससिसूराईय पज्जयागाही ।**
**जो सो अणाइणिच्चो जिणभणिओ पज्जयत्थिणओ ।।**

जो नय अकृत्रिम और अनिधन अर्थात् अनादि-अनन्त चन्द्रमा, सूर्य आदि पर्यायों को ग्रहण करता है, उसे जिनेन्द्र भगवान ने अनादि नित्यपर्यायार्थिकनय कहा है।

**कम्मखयादुप्पणो अविणासी जो हु कारणाभावे ।**
**इदमेवमुच्चरंतो भण्णई सो साइणिच्च णओ ।।**

जो पर्याय कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण सादि है और विनाश का कारण न होने से अविनाशी है—ऐसी सादिनित्यपर्याय को ग्रहण करनेवाला सादिनित्यपर्यायार्थिकनय है।

**सत्ता अमुक्खरूवे उत्पादवयं हि गिह्णए जो हु ।**
**सो हु सहावाणिच्चो गाही खलु सुद्धपज्जाओ ।।**

जो सत्ता को गौण करके उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है, वह अनित्यस्वभावग्राही शुद्धपर्यायार्थिकनय है.

**जो गहइ एयसमये उत्पाद-व्वयधुवत्तसंजुतं ।**
**सो सब्भावाणिच्चो असुद्धपज्जत्थिओ णेयो ।।**

जो एक समय में ध्रुवत्व (सत्ता) से संयुक्त उत्पाद-व्यय को ग्रहण करता है, वह अनित्यस्वभावग्राही अशुद्धपर्यायार्थिकनय है।

**देहीणं पज्जाया सुद्धा सिद्धाण भणइ सारिच्छा ।**
**जो सो अणिच्चसुद्धो पज्जयगाही हवे स णओ ।।**

जो संसारी जीवों की पर्याय को सिद्धों के समान शुद्ध कहता है, वह अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय है।

**भणइ अणिच्चासुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जो हु ।**
**होइ विभावअणिच्चो असुद्धओ पज्जत्थिणओ ।।**

---

१. द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा १९९ से २०४

जो चार गतियों के संसारी जीवों की अनित्य, अशुद्ध पर्यायों का कथन करता है, वह विभाव-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय है।"

'आलापपद्धति' एवं 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' के उक्त कथनों से एक बात हाथ पर रखे आँवले की भाँति स्पष्ट हो जाती है कि पर्यायार्थिकनय के उक्त भेदों में आरम्भ के दो भेद नित्यपर्यायग्राही हैं एवं शेष चार अनित्यपर्यायग्राही हैं। नित्यपर्यायग्राही अनादिनित्य व सादिनित्य नयों में 'शुद्ध' और 'अशुद्ध' विशेषणों का प्रयोग नहीं है, जबकि अनित्यपर्यायग्राही नयों में इसप्रकार के विशेषण पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार द्रव्यार्थिकनय के दश भेदों में से मात्र आरम्भ के छह भेदों में ही 'शुद्ध-अशुद्ध' का वर्गीकरण सम्भव है, शेष चार में नहीं; उसीप्रकार पर्यायार्थिकनय के छह भेदों में से अन्त के चार भेदों में ही शुद्ध-अशुद्ध का वर्गीकरण सम्भव है, शेष दो में नहीं।

पर्यायार्थिकनयों में भी द्रव्यार्थिकनयों के समान शुद्धता और अशुद्धता का आधार निरपेक्षता एवं सापेक्षता ही है। आरम्भ के दो पर्यायार्थिकनयों में सापेक्षता एवं निरपेक्षता का आधार नहीं होने से उनमें शुद्ध-अशुद्ध के भेद सम्भव नहीं हैं। तीसरा नय सत्तानिरपेक्ष उत्पादव्यय ग्राहक होने से अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय है तथा चौथा नय सत्तासापेक्ष उत्पादव्ययग्राहक अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य—तीनों का ग्राहक होने से अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय है। इसीप्रकार पाँचवाँ नय कर्मोपाधिनिरपेक्ष होने से 'शुद्ध' कहा जाता है, छठवाँ नय कर्मोपाधिसापेक्ष होने से 'अशुद्ध' कहा जाता है।

इसप्रकार पर्यायार्थिकनय निम्नानुसार छह प्रकार का है :—

१. अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय
२. सादिनित्यपर्यायार्थिकनय
३. सत्तानिरपेक्ष-अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय
४. सत्तासापेक्ष-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय
५. कर्मोपाधिनिरपेक्ष-अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय
६. कर्मोपाधिसापेक्ष-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय

पर्यायार्थिकनय के उक्त छह प्रकारों में तीसरा एवं पाँचवाँ 'शुद्ध' तथा चौथा एवं छठवाँ 'अशुद्ध' नय है। पहले एवं दूसरे में इसप्रकार का कोई वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

उक्त तथ्यों को निम्नलिखितानुसार भी प्रस्तुत कर सकते हैं:—

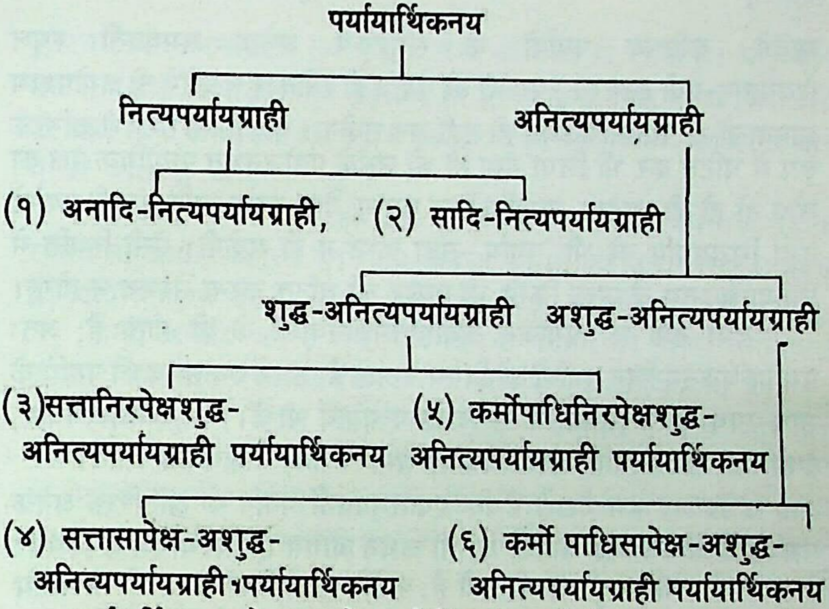
पर्यायार्थिकनय
नित्यपर्यायग्राही
अनित्यपर्यायग्राही
(१) अनादि-नित्यपर्यायग्राही,
(२) सादि-नित्यपर्यायग्राही
शुद्ध-अनित्यपर्यायग्राही
अशुद्ध-अनित्यपर्यायग्राही
(३)सत्तानिरपेक्षशुद्ध-अनित्यपर्यायग्राही पर्यायार्थिकनय
(५) कर्मोपाधिनिरपेक्षशुद्ध-अनित्यपर्यायग्राही पर्यायार्थिकनय
(४) सत्तासापेक्ष-अशुद्ध-अनित्यपर्यायग्राही पर्यायार्थिकनय
(६) कर्मो पाधिसापेक्ष-अशुद्ध-अनित्यपर्यायग्राही पर्यायार्थिकनय

पर्यायार्थिकनय के उक्त भेद-प्रभेदों एवं उनकी विषय-वस्तु पर दृष्टि डालने पर एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि जब पर्याय अनित्य ही होती है, एक समय की ही होती है तो फिर उसे अनादिनित्य या सादिनित्य कैसे कहा जा सकता है?

यद्यपि यह बात पूर्णतः सत्य है कि पर्याय एकसमय की ही होती है, तथापि एकसमय की पर्याय को प्रत्यक्ष तो केवली भगवान ही जानते हैं। क्षयोपशमज्ञानवाले तो उसे सर्वज्ञकथित आगम एवं अनुमान से ही जानते हैं, प्रतिसमय होनेवाला परिणमन क्षयोपशमज्ञानियों की पकड़ में तत्समय नहीं आता।

बालक की ऊँचाई, मोटाई एवं वजन यद्यपि प्रतिपल बढ़ता है, तथापि प्रतिपल देखने वालों को वह बढ़ता दिखाई नहीं देता। मान लीजिये एक वर्ष में उसकी चार इंच ऊँचाई, दो इंच मोटाई एवं चार किलो वजन बढ़ गया।

क्या यह सब अचानक एक दिन में बढ़ा है?

नहीं, कदापि नहीं। वह तो निरन्तर ही बढ़ता रहा है। फिर भी यदि उसकी वृद्धि का रिकार्ड बनाया जायगा तो वार्षिक ही बनेगा, क्योंकि प्रतिपल की वृद्धि का विवरण न तो व्यावहारिक ही है और न किसी व्यावहारिक प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला ही।

यदि एक समयवर्ती सूक्ष्म (निश्चय-वास्तविक) पर्याय को ही पर्याय

मानेंगे, कतिपय पर्यायों के समूहरूप अनेक समयवर्ती स्थूल (व्यवहार-प्रयोजनपरक) पर्यायों को पर्याय ही स्वीकार न करेंगे तो क्षयोपशम ज्ञानवालों के पर्यायार्थिकनय ही नहीं बन सकेगा। यदि किसी तरह सैद्धान्तिक रूप में घटित कर भी लिया गया तो भी उसके प्रयोजनभूत प्रायोगिक पक्ष का लोप तो हो ही जावेगा; क्योंकि फिर मनुष्य, देव, नरक आदि संसारी पर्यायों तथा सिद्धपर्याय को भी 'पर्याय'-संज्ञा प्राप्त न हो सकेगी। ऐसी स्थिति में पर्यायार्थिकनय के उक्त किसी भी प्रकार को घटित करना सम्भव न होगा।

तथा नयों का प्रयोजन क्षयोपशमज्ञानवालों के ही होता है; अतः पर्यायार्थिकनय जिन पर्यायों को विषय बनाता है, उनमें एकसमय की पर्याय के साथ-साथ अनेक समयों के समुदायरूप पर्यायें भी हैं। जैसे :-मनुष्यपर्याय, देवपर्याय, नरकपर्याय, तिर्यंचपर्याय, संसारपर्याय, सिद्धपर्याय आदि।

इसप्रकार हम देखते हैं कि एकसमयवर्ती पर्याय के अतिरिक्त अनेक समयवर्ती औपचारिक पर्यायों का भी कथन आगम एवं परमागम में विस्तार से आता है। यह अनुचित भी नहीं है, क्योंकि पर्यायों का समूह भी तो पर्याय (स्थूल पर्याय) ही है। जो भी पर्यायार्थिकनय का विषय है, वह सभी पर्याय है—यह बात पहले स्पष्ट की ही जा चुकी है।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए आगम में पर्यायों का वर्गीकरण निम्नानुसार चार प्रकारों में भी पाया जाता है:—

(१) अनादि-अनन्त पर्याय, (२) अनादि-सान्त पर्याय,
(३) सादि-अनन्त पर्याय, (४) सादि-सान्त पर्याय।

(१) जो अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक रहेगी, उसे अनादि-अनन्त पर्याय कहते हैं। जैसे :—सुमेरु पर्वत, अकृत्रिम जिनबिम्ब एवं जिनचैत्यालय आदि पुद्गलपर्यायें।

(२) जो पर्यायें हैं तो अनादिकाल से, पर जिनका अन्त हो जाता है, उन्हें अनादि-सान्त कहते हैं। जैसे :—जीव की संसारपर्याय।

(३) जो पर्यायें न तो अनादि ही हैं और न अनन्त ही, उन्हें सादि-सान्त कहते हैं। जैसे :—जीव की मनुष्यपर्याय आदि। एक समय की पर्याय भी इसी में आती है।

(४) जो पर्यायें अनादि तो नहीं हैं, पर अनन्तकाल तक रहनेवाली हैं, उन्हें सादि-अनन्त कहते हैं। जैसे :—जीव की सिद्धपर्याय।

ध्यान रहे, जिन पर्यायों को यहाँ अनादि-अनन्त आदि बताया जा रहा है, वे भी पलटती तो प्रतिसमय ही हैं, फिर भी लगभग वैसी की वैसी ही रहती हैं—इस अपेक्षा उन्हें एक पर्याय कहा जाता है। सिद्धपर्याय तो प्रतिसमय

पलटकर भी अनन्तकाल तक पूर्णतः वैसी की वैसी ही रहती है। मनुष्यादि संसारी पर्यायों में थोड़ा-बहुत बदलाव भी आ जाता है, फिर भी लगभग वैसी की वैसी रहती हैं। इसीप्रकार सुमेरु पर्वतादि पुद्गलस्कन्धरूप पर्यायों के बारे में भी समझना चाहिए।

इसीप्रकार सभी पर्यायें होती तो अनित्य ही हैं, तथापि अनन्तकाल तक रहनेवाली अनादि-अनन्त एवं सादि-अनन्त पर्यायों को नित्य भी कहा जाता है। यहाँ नित्यता की नियामक अनन्तता ही है, अनादिपना नहीं।

इन्हीं अनादि-अनन्त एवं सादि-अनन्त पर्यायों को विषय बनानेवाले क्रमशः अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय एवं सादिनित्यपर्यायार्थिकनय हैं।

अनन्तता से रहित पर्यायों को विषय बनानेवाले शेष चार नय अनित्यपर्यायग्राही कहे जाते हैं। अनित्यपर्यायग्राहीनय शुद्ध और अशुद्ध इन दो भेदों में विभाजित होता है। शुद्धता और अशुद्धता का आधार भी दो प्रकार का है। इसप्रकार अनित्यपर्यायग्राही-पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का हो जाता है।

पर्याय का सामान्यस्वरूप उत्पाद-व्यय है। जब इस उत्पाद-व्ययरूप पर्याय को सत्ता से निरपेक्ष देखा जाता है, तब उसे शुद्ध अर्थात् सत्तानिरपेक्ष-उत्पादव्ययग्राही अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय कहा जाता है। तथा जब उत्पादव्ययरूप पर्याय की सत्ता से सापेक्ष देखा जाता है, तब उसे अशुद्ध अर्थात् सत्तासापेक्ष-उत्पादव्ययग्राही अनित्यअशुद्धपर्यायार्थिकनय कहा जाता है।

इसीप्रकार जब कर्म की उपाधि से निरपेक्ष देखा जाता है, तब शुद्ध अर्थात् 'कर्मोपाधिनिरपेक्ष-अनित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय कहा जाता है; तथा जब कर्म की उपाधि से सापेक्ष देखा जाता है, तब 'अशुद्ध' अर्थात् 'कर्मोपाधिसापेक्ष-अनित्य-अशुद्धपर्यायार्थिकनय' कहा जाता है।

ध्यान रहे, इन नयों के नाम अपनी सार्थकता को स्पष्टरूप से अपने में समेटे होने के कारण इतने बड़े हो गये हैं कि जिनका कथन सहज नहीं रह पाता; इसकारण इनका प्रयोग प्रायः संक्षिप्त करके ही किया जाता है। नामों के सम्बन्ध में संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति मानव-समाज का सहज स्वभाव भी है। इसकारण भी इसप्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है। छन्दानुरोध से कहीं-कहीं संक्षिप्तीकरण के साथ-साथ कुछ शब्दों में परिवर्तन भी देखा जाता है। इन कारणों से अध्ययनकाल में कभी-कभी संशय की स्थिति बनने लगती है। जिज्ञासु पाठकों से हार्दिक अनुरोध है कि इन्हें अच्छी तरह हृदयंगम कर लें, जिससे इनके संदर्भ में संशयात्मक स्थिति से बचा जा सके। □

## चतुर्थ अध्याय

# नैगमादि सप्त नय

## ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय

जिनागम में प्रतिपादित नयों का वर्गीकरण निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक एवं नैगमादिक सप्तनयों के अतिरिक्त ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय के रूप में भी किया गया है। नैगमादि सप्तनयों की चर्चा करने के पूर्व इन्हें समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि नैगमादि नयों को इन तीन भेदों में भी विभाजित किया जाता है।

वैसे तो सभी नय सम्यक् श्रुतज्ञान के अश होने से ज्ञानात्मक ही होते हैं, तथापि यहाँ विषयवस्तु की अपेक्षा उनके तीन भेद किये गये हैं, उनमें ज्ञान को जाननेवाले नय ज्ञाननय, शब्दों को जाननेवाले नय शब्दनय एवं अर्थ को जाननेवाले नय अर्थनय कहे जाते हैं।

जगत के सम्पूर्ण पदार्थों को भी तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—ज्ञानात्मक, अर्थात्मक एवं शब्दात्मक।

ज्ञान की जिस पर्याय में सत्-असत् पदार्थ झलकते हैं, वह ज्ञानपर्याय ज्ञानात्मक वस्तु है, ज्ञानपर्याय में झलकने वाले पदार्थ अर्थात्मक वस्तु हैं और उन पदार्थों को प्रतिपादन करनेवाले शब्द शब्दात्मक वस्तु हैं।

'गाय' नामक पदार्थ अर्थात्मक वस्तु है, उसे जाननेवाली ज्ञानपर्याय ज्ञानात्मक वस्तु है और 'गाय' नामक शब्द शब्दात्मक वस्तु है।

इसप्रकार 'गाय' नामक शब्द के तीन अर्थ हो गये:—

१. गाय को जाननेवाला ज्ञान।

२. गाय नामक पशु।

३. गाय नामक शब्द।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि गाय नामक पशु को तो गाय कहते ही हैं, गाय को जाननेवाले ज्ञान को भी गाय कहा जाता है तथा गाय शब्द की भी गाय संज्ञा है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ज्ञान में प्रतिबिम्बित गाय ज्ञानात्मक गाय है, उच्चरित या लिखित 'गाय' शब्द शब्दात्मक गाय है और दूध देनेवाली असली गाय अर्थात्मक गाय है।

इसीप्रकार ज्ञान में प्रतिबिम्बित वस्तु ज्ञानात्मक वस्तु है, वस्तुस्वरूप

का प्रतिपादन करनेवाले शब्द शब्दात्मक वस्तु हैं और द्रव्य-गुण-पर्यायमय पदार्थ अर्थात्मक वस्तु हैं।

इसी आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञानात्मक वस्तु को विषय बनानेवाले नय ज्ञाननय हैं, अर्थात्मक वस्तु को विषय बनानेवाले नय अर्थनय हैं और शब्दात्मक वस्तु को विषय बनानेवाले नय शब्दनय हैं।

शब्दनय से अर्थनय का विषय अधिक है और अर्थनय से ज्ञाननय का। ज्ञाननय की विषयवस्तु असीम है, क्योंकि वह सत्पदार्थों संबंधी ज्ञान को तो अपना विषय बनाता ही है, साथ में असत्कल्पनायें भी ज्ञाननय का विषय बनती हैं।

लोक में जो वस्तु है, उसे तो ज्ञान जानता ही है, किन्तु जिनकी लोक में सत्ता ही नहीं है—ऐसी वस्तुएं भी ज्ञान का ज्ञेय बनती हैं। असीम कल्पनालोक में विचरण करनेवाले ज्ञान को रोकने में कौन समर्थ है?

लोक में गधा नामक पशु भी है और सींग भी हैं ही; न सही गधे के शिर पर, किसी और के शिर पर सही; गाय के, भैंस के, किसी के भी शिर पर सही; पर सींगों की भी सत्ता तो है ही। ज्ञान को यह जरूरी नहीं कि वह उन सींगों को गाय के शिर पर ही देखे; वह अपने विकल्पों में, अपनी कल्पना में गधे के शिर पर भी सींग देख सकता है।

जिस ज्ञान की पर्याय में सींगों वाला गधा दिखायी दिया, उस ज्ञानपर्याय की सत्ता तो जगत में हैं ही। न सही सींगों वाले गधे की सत्ता, पर तत्संबंधी ज्ञानपर्याय की सत्ता से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः कहा जा सकता है कि सींगोंवाला गधा कथंचित् है भी और कथंचित् नहीं भी है। वस्तुरूप से तो नहीं है, पर उसरूप परिणत ज्ञानपर्याय के रूप में तो वह है ही।

व्यंग्यचित्रकारों के कमाल तो आपने देखे ही होंगे। वे सम्पूर्ण शरीर शेर का बना दें और उस पर चेहरा प्रधानमंत्री का चिपका दें; शरीर गधे का बना दें, पर उसका मुख आदमी का। यदि ऐसी असत् वस्तुयें उनके ज्ञान का ज्ञेय नहीं बनतीं तो उनके चित्र कागज पर नहीं उतर सकते थे।

यद्यपि लोक का विस्तार भी कम नहीं है, अनन्त है; पर कल्पनालोक का विस्तार तो उससे भी अनन्तगुणा है। मान लीजिये मैं एक ऐसे आदमी की कल्पना करता हूँ, जिसके हजार मुख हों, दो हजार हाथ। क्या कोई मनः पर्ययज्ञान का धारी मेरे मन की इस बात को नहीं जान सकेगा?

यह एकदम काल्पनिक भी नहीं है, क्योंकि दशमुखवाले रावण की कल्पना तो अगणित लोगों ने कर ही रखी है। यद्यपि दशमुखवाले रावण की

सत्ता लोक में संभव नहीं है, तथापि हमने और आपने भी दशमुखवाले रावण के पुतले तो देखे ही हैं। क्या वे सब असत् हैं? क्या उनकी सत्ता का सर्वथा अभाव है?

यह तो निश्चित ही है कि जमीन पर आने से पहले वे किसी के ज्ञान में आये होंगे, कल्पना में आये होंगे। दशमुखवाला आदमी भले ही असंभव हो, पर उसके पुतले असंभव नहीं; तो फिर सींगोंवाला गधा चाहे हो या न हो, पर उसके भी पुतले, चित्र तो बन ही सकते हैं। लोक में बनने के पहले वे ज्ञान में बनेंगे।

वास्तविक लोक जितना सुन्दर है, विचित्र है, ज्ञान का लोक उससे भी सुन्दर और विचित्र हो सकता है।

यह ज्ञान का लोक, कल्पनाजगत, विकल्पजाल या संकल्पितज्ञान नैगमनयरूप ज्ञाननय का विषय है। सत् और असत् सम्पूर्ण कल्पनाओं, विकल्पों और संकल्पों का यह जगत नैगमनय का विषय है, ज्ञाननय का विषय है; इसीकारण नैगमनय ज्ञाननय भी कहा जाता है, अर्थनय तो वह है ही।

दर्पण में प्रतिबिम्बित मोर मोर तो है ही नहीं, मोर का परिणमन भी नहीं है; दर्पण की ही स्वच्छ अवस्था है, दर्पण का ही परिणमन है। उसे जाननेवाले ज्ञान का ज्ञेय भी दर्पण है, दर्पण की निर्मल अवस्था है, मोर नहीं।

इसीप्रकार ज्ञान में प्रतिबिम्बित होनेवाले सत्-असत् पदार्थ, तत्संबंधी विकल्प-संकल्प-कल्पनायें ज्ञान ही हैं, ज्ञान का ही परिणमन हैं, ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं। उन्हें जाननेवाले ज्ञान का ज्ञेय, वह ज्ञान ही है, ज्ञानपर्याय ही है, उस ज्ञेयरूप ज्ञान में झलकनेवाले अन्य पदार्थ नहीं।

ऐसी स्थिति होने पर भी जिसप्रकार मोर में मुग्ध लोग दर्पण में प्रतिबिम्बित मोर को देखकर उसे 'दर्पण' न कहकर 'मोर' ही कह देते हैं, उसीप्रकार ज्ञानपर्याय में प्रतिबिम्बित सत्-असत् ज्ञेयों को देखकर उस ज्ञानपर्याय को उसमें प्रतिबिम्बित ज्ञेयोंरूप भी कह दिया जाता है। यही कारण है कि गाय को जाननेवाले ज्ञान को भी 'गाय' कह दिया जाता है। लोक में भी ऐसे प्रयोग अप्रचलित नहीं हैं। दर्पण में प्रतिबिम्बित या दीवाल पर चित्रित मोर को देखकर हम कह ही देते हैं कि देखो कितना सुन्दर मोर है!

यद्यपि दर्पण में मोर की सत्ता नहीं है, अतः वह असत् ही है; तथापि उसका प्रतिबिम्ब तो है ही – इस अपेक्षा उसे कथंचित् सत् भी कह सकते हैं। अतः वह कथंचित् सत् भी है और कथंचित् असत् भी।

इसीप्रकार के सत् और असत् संकल्पित ज्ञेयों को जाननेवाली ज्ञानपर्याय

को जानना ज्ञाननय का कार्य है।

उक्त तीनों नयों की विषयवस्तु के संबंध में जैनेन्द्र वर्णी के निम्नांकित विचार द्रष्टव्य हैं:-

"ज्ञान सत् व असत् सब प्रकार के अर्थ को जानने के लिये समर्थ है। सत्ताभूत पदार्थों को तो ज्ञान जानता ही है, परन्तु कल्पना के आधार पर गधे का सींग, आकाश पुष्प, हौआ, अट्ट-विट्ट आदि बे-सिर-पैर की बातों को जानने के लिए उसे कौन रोक सकता है? अतः ज्ञान में अर्थ व शब्दजन्य प्रतिभास भी होता है और कल्पनाजन्य प्रतिभास भी।

कल्पनाजन्य प्रतिभास नियम से ज्ञानविषयक ही होता है, अर्थ व शब्द विषयक नहीं। कल्पनाजन्य प्रतिभास का विषय अर्थ व शब्द दोनों से अधिक है, क्योंकि अर्थ व शब्द तो सीमित हैं और वह असीम। इसलिये ज्ञान सबसे बड़ी वस्तु है।

शब्द व अर्थ में से अर्थ बड़ा है और शब्द छोटा, क्योंकि द्रव्य-गुण-पर्यायों में सूक्ष्म-स्थूल रूप से तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से रहनेवाला अर्थ तो अनन्त है, परन्तु शब्द संख्यात मात्र से अधिक होने ही असंभव है।

दूसरी बात यह है कि शब्द केवल स्थूल अर्थ को ही विषय कर सकता है, सूक्ष्म को नहीं और जगत में स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अर्थ बहुत हैं; इसलिये शब्द का विषय अर्थ की अपेक्षा अत्यन्त अल्प है।

इसप्रकार तीनों नयों के विषय में महान व लघुपना जान लेना चाहिये। ज्ञाननय का विषय महान है, अर्थनय का उससे कम और शब्दनय का सबसे कम।[१]"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि क्या कल्पनाजन्य असत् प्रतिभास को जाननेवाला ज्ञान भी सम्यक् हो सकता है? क्या ज्ञानीजन भी इसप्रकार के कल्पनालोक में विचरण करते हैं? क्या ज्ञानीजनों का ज्ञान भी बे-सिर-पैर की बातों को अपने ज्ञान का विषय बनाता है?

यदि हाँ तो फिर इसका कोई उदाहरण भी है क्या?

भाई ! जब यहाँ सम्यक् श्रुतज्ञान के अंशरूप नयों की चर्चा चल रही है तथा ज्ञाननय भी सम्यक् नयों का ही एक भेद है तो फिर यह सहज ही सिद्ध है कि ज्ञानीजनों के भी इसप्रकार के संकल्प, विकल्प व कल्पनायें पाई ही जाती हैं

---

१. नयदर्पण, पृष्ठ २१४-२१५

एवं उन्हें जाननेवाला ज्ञाननय भी उनके ही होता है।

क्या ज्ञानीजन स्वप्न नहीं देखते हैं? स्वप्न में दिखाई देने वाला सम्पूर्ण वस्तुजगत असत् – काल्पनिक ही तो होता है। जो कुछ स्वप्न में दिखाई देता है, वह सब-कुछ ज्ञानपर्याय के अतिरिक्त और क्या है?

यद्यपि स्वप्न में दिखाई देनेवाले पदार्थ एवं घटनायें वास्तविक नहीं हैं, असत् हैं, ज्ञानपर्याय के परिणमनमात्र हैं; तथापि स्वप्न असत् नहीं हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान भी असत् नहीं है, सत् है, सम्यक् है।

तीर्थंकर की माँ को सोलह स्वप्न आते हैं, अन्त में मुख में प्रवेश करता हुआ धवल वृषभ दिखायी देता है। क्या ऐसा कुछ घटित भी होता है?

नहीं, तो क्या स्वप्न असत् हैं? उनके आधार पर होनेवाला तीर्थंकरों के जन्मसंबंधी ज्ञान भी असत् है क्या?

नहीं, कदापि नहीं।

इसीप्रकार ज्ञानीजनों को तत्त्वप्रचारसंबंधी सत्-असत् विकल्प भी होते ही हैं। न जाने कितनी योजनायें उनकी कल्पना में अवतरित होती हैं। उनके सभी संकल्प या विकल्प पूरे तो नहीं हो जाते? हजारों में एकाध योजना ही क्रियान्वित हो पाती है। क्रियान्वित न हो पाने मात्र से सभी संकल्प-विकल्प या कल्पनायें अवस्तु तो नहीं मानी जा सकतीं, ज्ञानात्मक वस्तु तो वे हैं ही।

उक्त ज्ञानात्मक वस्तु को जाननेवाला नय ही ज्ञाननय है और वह नियम से ज्ञानी के ही होता है।

क्या हमारे सम्यग्ज्ञानी आचार्य भगवन्तों ने काल्पनिक कथायें लिखकर हमें समझाने का प्रयास नहीं किया है? किसी विषय को समझाने के लिये ज्ञानीजन काल्पनिक उदाहरणों को भी प्रस्तुत करते ही हैं। धर्मपरीक्षा आदि ग्रन्थ इसके सशक्त उदाहरण हैं।

ये सब चीजें ज्ञाननय के विषयभूत ज्ञानात्मक जगत में ही आती हैं। यह ज्ञानात्मक जगत कथंचित् सत् है और कथंचित् असत् है। ज्ञानपर्याय में उसप्रकार की कल्पना सचमुच ही उत्पन्न हुई है, अतः वह सत् ही है; तथापि यह भी सत्य है कि वस्तुजगत उस कल्पना के अनुरूप नहीं है, अतः वह असत् भी है। विभिन्न अपेक्षाओं से देखने पर वह सत् भी है और असत् भी है।

भाई! इस कल्पनालोक या संकल्पजगत को विषय बनानेवाला यह ज्ञाननय मात्र है ही नहीं, अपितु अत्यन्त उपयोगी भी है। यदि यह नहीं होता तो फिर ज्ञानपर्याय सबको तो जानती, पर स्वयं को नहीं जान पाती; स्वयं में प्रतिबिम्बित सत्-असत् काल्पनिक संकल्प-विकल्पों को भी नहीं जान पाती।

अधिक क्या कहें? ज्ञानियों द्वारा तत्त्वप्रचार की योजनायें भी न बन पातीं और न वे क्रियान्वित ही हो पातीं।

भाई! यह ज्ञाननय कल्पनालोक में विचरण करनेवाले पागलों का प्रलाप नहीं, अपनी उर्वर कल्पना से परमसत्य को उद्घाटन करनेवाले आत्म-शोधी खोजी ज्ञानियों का नयसंबंधी रहस्योद्घाटन है।

—o—

## ज्ञानी और अज्ञानी

णमोकार मन्त्र पढ़ने से कभी किसी धर्मात्मा की रक्षा करने देवता आ गये थे—यह पौराणिक आख्यान सत्य हो सकता है, इसमें शंका करने की कोई आवश्यकता नहीं है; पर इससे यह नियम कहाँ से सिद्ध होता है कि जब-जब कोई संकट में पड़ेगा और वह णमोकार मन्त्र बोलेगा; तब-तब देवता आयेंगे ही, अतिशय होगा ही।

शास्त्रों में तो मात्र जो घटा था, उस घटना का उल्लेख है। उसमें यह कहाँ लिखा है—ऐसा करने से ऐसा होता ही है? यह तो इसने अपनी ओर से समझ लिया है; अपनी इस समझ पर भी इसको विश्वास कहाँ है? होता तो आकुलित क्यों होता, भयाक्रान्त क्यों होता?

ज्ञानी भी णमोकार मन्त्र पढ़ रहा है, शान्त भी है; पर उसकी शान्ति का आधार णमोकार मन्त्र पर यह भरोसा नहीं कि हमें बचाने कोई देवता आवेंगे। णमोकार मन्त्र तो वह सहज अशुभभाव से तथा आकुलता से बचने के लिए बोलता है।

**—क्रमबद्धपर्याय, पृष्ठ ११५**

# ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय : नैगमादि सप्त नयों के रूप में

यदि हम नैगमादि सप्तनयों को इन तीन नयों के रूप में विभाजित करें तो आचार्य विद्यानन्दि के अनुसार आरंभ के चार नय – नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र – अर्थनय हैं और अन्त के तीन नय – शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत – शब्दनय हैं। जैसा कि कहा गया है:–

> ''तत्रर्जुसूत्रपर्यन्ताश्चत्वारोऽर्थनया मताः ।
> त्रयः शब्दनयाः शेषाः शब्दवाच्यार्थगोचरा ।।[1]

उक्त सात नयों में आरंभ के ऋजुसूत्र पर्यन्त चार नय अर्थनय माने गये हैं; शेष तीन नय शब्दनय हैं, क्योंकि वे शब्द के वाच्यार्थ को विषय करते हैं।''

यद्यपि उक्त कथन में सातों नयों को अर्थनय और शब्दनय में ही विभाजित किया गया है, तथापि नैगमनय अर्थनय के साथसाथ ज्ञाननय भी है, क्योंकि वह अर्थात्मक वस्तु के साथ-साथ ज्ञानात्मक वस्तु को भी विषय बनाता है। यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि उसका विषय सत् और असत् सभी पदार्थों के संबंध में किया गया विकल्प है।

जैनेन्द्र वर्णी के शब्दों में:–

''सात नयों में नैगमनय ज्ञाननय भी है और अर्थनय भी। संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र – ये तीन नय अर्थनय ही हैं। शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत – ये तीन नय शब्दनय ही हैं। इसप्रकार इन सात नयों में एक नैगमनय ज्ञाननय है; नैगम, संग्रह, व्यवहार एवं ऋजुसूत्र – ये चार नय अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत – ये तीन नय शब्दनय हैं।[2]''

नयों का यह विभाजन मुख्यता और गौणता की अपेक्षा ही समझना चाहिये; वैसे तो सातों ही नय ज्ञाननय भी हैं अर्थनय भी हैं और शब्दनय भी हैं।

---

[1] श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ९५

[2] नयदर्पण, पृष्ठ २१५

उक्त संदर्भ में 'श्लोकवार्तिक' का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:-

**"सर्वे शब्दनयास्तेन परार्थप्रतिपादने ।**
**स्वार्थप्रकाशने मातुरिमे ज्ञाननयाः स्थिताः ।।**
**तैर्नीयमानवस्त्वंशा कथ्यन्तेऽर्थनयाश्च ते ।**
**त्रैविध्यं व्यवतिष्ठन्ते प्रधानगुणभावतः ।।[1]**

उक्त सभी नय दूसरों के लिये अर्थ का कथन करने पर शब्दनय हैं और ज्ञाता के लिये अर्थ का प्रकाशन करने पर ज्ञाननय हैं तथा उनके द्वारा ज्ञात किये वस्तु के धर्म कहे जाते हैं, इसलिये वे अर्थनय हैं। अतः प्रधानता और गौणता से नयों के तीन भेद होते हैं।"

तात्पर्य यह है कि जब कोई व्यक्ति स्वयं समझने के लिये इन नयों का मौन रहकर विचारात्मक प्रयोग करता है, तब ये नय श्रुतज्ञान के अंश होने से ज्ञानस्वरूप ही होते हैं, किन्तु जब वह इनके माध्यम से वस्तु का स्वरूप शब्दों द्वारा दूसरों को समझाता है, तब इनका प्रयोग वचनात्मक होता है और इसीकारण इन सभी को शब्दनय कहा जाता है। द्रव्य-गुण-पर्यायरूप वस्तु के प्रतिपादक होने से अर्थनय तो ये हैं ही।

इनके ज्ञाननय, शब्दनय और अर्थनय—ऐसे भेद तो मुख्यता और गौणता की दृष्टि से किये गये हैं।

नयों को द्रव्यनय और भावनय—इन दो प्रकारों में भी विभाजित किया जाता रहा है। एक प्रकार से शब्दनय ही द्रव्यनय है और ज्ञाननय भावनय।

इनकी चर्चा 'पंचाध्यायी' में इसप्रकार की गई है:-

**"द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद् द्विधा व सोऽपि यथा ।**
**पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ।।[2]**

द्रव्यनय और भावनय के भेद से नय दो प्रकार के हैं। पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है और जीव का ज्ञानगुण भावनय कहलाता है।"

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये ज्ञाननय, अर्थनय एवं शब्दनय अथवा द्रव्यनय और भावनय नैगमादि सप्तनयों के ही वर्गीकृत भेद हैं।

—o—

---

[1] श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ११० व १११

[2] पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, श्लोक ५०५

## नैगमादि सप्त नय : स्वरूप एवं भेद-प्रभेद

मूलनयों के रूप में निश्चय-व्यवहार एवं द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों तथा ज्ञाननय, अर्थनय एवं शब्दनय की चर्चा अपेक्षित विस्तार के साथ हो चुकी है। अब नैगमादि सप्तनयों की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।

नैगमादि सप्तनय भी प्रकारान्तर से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के ही उत्तर भेद हैं। उक्त संदर्भ में 'धवल' का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

**"स एवंविधो नयो द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति....तत्र योऽसौ द्रव्यार्थिकनयः सः त्रिविधो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदेन....पर्यायार्थिको नयश्चतुर्विधः ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदेन।**[1]

इसप्रकार वह नय दो प्रकार का है:—द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक। वहाँ जो द्रव्यार्थिकनय है, वह तीन प्रकार का है:—नैगम, संग्रह एवं व्यवहार। पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है:—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत।"

### १. नैगमनय

उक्त नयों में नैगमनय संकल्पमात्र का ग्राहक है। जैसा कि कहा गया है :—

**"तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।**[2]"

इसे सोदाहरण समझाते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं:—

"अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करनेवाला नय नैगमनय है। जैसे:—हाथ में फरसा लेकर जाते हुए किसी पुरुष को देखकर कोई अन्य पूछता है:—'आप किस काम से जा रहे हैं?'

वह कहता है:—'प्रस्थ लेने जा रहा हूँ।'

यद्यपि उस समय वह प्रस्थ पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि प्रस्थ बनाने का संकल्प होने से प्रस्थ शब्द का व्यवहार किया गया है।

इसीप्रकार ईंधन एवं जलादि के संग्रह में संलग्न पुरुष से यदि कोई पूछता है:—'आप क्या कर रहे हैं?'

वह उत्तर देता है:—'भात पका रहा हूँ।'

यद्यपि उस समय भात (पके हुए चावल) पर्याय सन्निहित नहीं है, तथापि भात के लिये किये जा रहे व्यापार में भात का प्रयोग किया गया है।

इसप्रकार का जितना भी लोकव्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के अवलम्बन से

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग—२, पृ० ५२५

[2] आचार्य विद्यानन्दि : श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक—३१

संकल्पमात्र को विषय करता है, वह नैगम का विषय है।[1]"

स्वामी कार्तिकेय नैगमनय को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं:–

**"जो साहेदि अदीदं वियप्परूवं भविस्समट्ठं च ।**
**संपडिकालाविट्ठं सो हु णयो णेगमो णेयो ।।[2]**

जो नय अतीत, अनागत और वर्तमान को विकल्परूप से साधता है, वह नैगमनय है।"

उक्त परिभाषा के आधार पर इसके तीन भेद किये जाते हैं:–

१. भूतनैगमनय,
२. भावीनैगमनय,
३. वर्तमाननैगमनय।

उक्त तीनों की परिभाषायें 'नयचक्र'[3] में इसप्रकार दी गई हैं:–

**"णिप्पण्णमिव पयंपदि भाविपदत्थं खु जो अणिप्पण्णं ।**
**अप्पत्थे जह पत्थं भण्णइ सो भाविणइगमुत्ति णओ ।।**
**णिव्वत्त अत्थकिरिया वट्टणकाले तु जं समायरणं ।**
**तं भूदणइगमणयं जहजदिणं णिव्वुओ वीरो ।।**
**पारद्धा जा किरिया पचणविहाणादि कहइ जो सिद्धा ।**
**लोएसु पुच्छमाणो भण्णइ तं वट्टमाणणयं ।।**

जो अनिष्पन्न भावि पदार्थ को निष्पन्न की तरह कहता है, उसे भाविनैगमनय कहते हैं। जैसे:-अप्रस्थ को प्रस्थ कहना।

जो कार्य हो चुका हो, उसका वर्तमान काल में आरोप करना भूतनैगमनय है। जैसे:– आज के दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था।

जो प्रारम्भ की गई पकाने आदि क्रिया को लोगों के पूछने पर सिद्ध या निष्पन्न कहता है, वह वर्तमाननैगमनय है।"

जो कार्य अभी सम्पन्न नहीं हुआ है, उसे अनिष्पन्न कहते हैं। भविष्य में होनेवाले कार्य में भूतकाल में हो गये कार्य के समान व्यवहार करना अर्थात् अनिष्पन्न कार्य में निष्पन्न (सम्पन्न) कार्य के समान व्यवहार करना भावीनैगमनय है।

इसे यहाँ प्रस्थ का उदाहरण देकर समझाया गया है। पुराने समय में अनाज नापने के लिए लकड़ी का एक बर्तन हुआ करता था, जिसे प्रस्थ कहते थे। एक व्यक्ति प्रस्थ बनाने के लिए लकड़ी लेने के लिए वन जा रहा था। जब उससे पूछा गया कि कहाँ जा रहे हो, तब वह कहता है कि प्रस्थ लेने जा रहा

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र ३३ की टीका

[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २७१

[3] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २०५ से २०७

हूँ। वह वन से प्रस्थ नहीं, लकड़ी लायेगा; पर उसका विचार उस लकड़ी से प्रस्थ बनाने का है; अतः वह ऐसा न कहकर कि मैं लकड़ी लेने जा रहा हूँ, अपने संकल्पानुसार ऐसा कहता है कि मैं प्रस्थ लेने जा रहा हूँ। उसका यह कथन भावीनैगमनय से सत्य है, क्योंकि नैगमनय संकल्पग्राहीनय है।

इसीप्रकार जो कार्य भूतकाल में सम्पन्न हो चुका है, उसे वर्तमान के समान व्यवहार करना भूतनैगमनय है। यद्यपि भगवान महावीर के निर्वाण को पच्चीस सौ से भी अधिक वर्ष हो गये हैं, तथापि लोक में कहा जाता है कि आज दीपावली के दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ। भूतनैगमनय से यह कथन सत्य है, क्योंकि भूतनैगमनय भूतकालीन कार्यों में वर्तमानवत् ही व्यवहार करता है।

जो आरम्भ किये गये कार्य में सम्पन्न कार्य के समान व्यवहार करता है, वह वर्तमाननैगमनय है। इसे भात पकाने की क्रिया का उदाहरण देकर समझाया जाता रहा है। पके हुए चावल को भात कहते हैं। कोई व्यक्ति चावल पकाने के संकल्पपूर्वक चावल धोने आदि के कार्य में लगा है; यद्यपि उसने अभी चूल्हा भी नहीं जलाया है, पर पूछे जाने पर वह यही कहता है कि मैं भात पका रहा हूँ। उसका यह कहना वर्तमाननैगमनय से सत्य है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि भावीनैगमनय एवं वर्तमाननैगमनय में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, क्योंकि दोनों में ही वर्तमान में कार्य असम्पन्न ही है; न तो अभी प्रस्थ ही बना है और न भात ही पका है।

यद्यपि यह पूर्णतः सत्य है कि न तो अभी प्रस्थ ही बना है और न भात ही पका है; तथापि भात बनना जितना सन्निकट है, प्रस्थ बनना उतना निकट नहीं है; क्योंकि भात बनने की प्रक्रिया तो आरम्भ हो चुकी है, पर अभी प्रस्थ का तो ठिकाना ही नहीं है। यह निकटता और दूरी ही वर्तमाननैगमनय एवं भावीनैगमनय की विभाजनरेखा है।

एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि वर्तमान और भावीनैगमनय के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि अभी कार्य निष्पन्न नहीं हुआ है, पर भूतनैगमनय के विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह कार्य अभी निष्पन्न नहीं हुआ है, क्योंकि भूतकालीन कार्य तो सम्पन्न हो ही चुकते हैं।

अतः अनिष्पन्न कार्य में निष्पन्न कार्य के समान व्यवहार करने की बात भूतनैगमनय पर किसप्रकार घटित होगी?

भाई ! यहाँ 'अनिष्पन्न' का अर्थ मात्र इतना ही है कि जिस कार्य को निष्पन्न होता बताया जा रहा है, वह कार्य अभी वर्तमान में निष्पन्न नहीं हो

रहा है। 'अनिष्पन्न' का अर्थ 'वर्तमान में निष्पन्न नहीं हो रहा' ही है।

वह कार्य पहले निष्पन्न हो चुका है या नहीं, भविष्य में निष्पन्न होगा या नहीं – इन सबसे यहाँ कुछ भी प्रयोजन नहीं है, यहाँ तो बस बात इतनी सी ही है कि वह कार्य अभी निष्पन्न नहीं हो रहा है और संकल्प के आधार पर ऐसे कहा जा रहा है कि मानो वह कार्य अभी ही सम्पन्न हो रहा हो।

यहाँ मात्र इतना ही प्रयोजन है, इससे अधिक कुछ नहीं।

यह नय संकल्प को ग्रहण करनेवाला नय है। जगत में कुछ घटित हो रहा है या नहीं – इससे इसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह तो संकल्पजगत में वर्तमान में जो कुछ भी घटित हो रहा होता है, उसे ही अपना विषय बनाता है। संकल्पजगत में तो वह सबकुछ वर्तमान में घटित ही हो रहा होता है, जो कुछ यह कहता है। अनिष्पन्न तो उसे वस्तुजगत की दृष्टि से कहा जाता है, क्योंकि वस्तुजगत में तो वह वर्तमान में अनिष्पन्न ही है।

उक्त विश्लेषण से अत्यन्त स्पष्ट है कि वर्तमान और भावीनैगमनयों के समान भूतनैगमनय पर भी संकल्प के आधार पर अनिष्पन्न में निष्पन्नवत् व्यवहार करनेवाली बात घटित हो जाती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि संकल्प के आधार पर अनिष्पन्न कार्य में प्रयोजनवश निष्पन्न कार्य के समान व्यवहार करनेवाला यह नय सत् और असत् सभी को अपना विषय बनाता है।

सत् (अर्थात्मक जगत) व असत् (ज्ञानात्मक जगत) को विषय बनानेवाला नैगमनय ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनयों में अर्थनय के साथ-साथ ज्ञाननय भी है।

इस परिवर्तनशील जगत का प्रत्येक प्राणी अपने विचारात्मक जगत में अनेक प्रकार की कल्पनायें तो किया ही करता है, साथ में अपने संभव-असंभव विकल्पों को साकार करने के लिये अनेक प्रकार के संकल्प भी करता रहता है; तथापि यह आवश्यक नहीं कि जो योजनायें उसने अपने विचारों में बनाई हैं, वे साकार हो ही जावें। चाहे वे कभी साकार हों या न हों, पर अभी विकल्पों में तो हैं ही।

उन संकल्पविकल्पों को विषय बनाने के कारण ही यह नैगमनय ज्ञाननय कहा जाता है, क्योंकि वे संकल्पविकल्प ज्ञानात्मक वस्तु ही हैं।

जिसतरह की कल्पनायें और संकल्पविकल्प किये गये हैं, वर्तमान जगत में वे वस्तुयें उसरूप में नहीं हैं, इसकारण उन्हें असत् कहा जाता है और उन संकल्पों-विकल्पों को विषय बनाने के कारण नैगमनय को असत् को विषय

बनानेवाला नय कहा जाता है।

असत् अर्थात् ज्ञानात्मक जगत को विषय बनानेवाला यह नैगमनय (ज्ञाननय) लोकव्यवहार में सर्वाधिक प्रचलित एवं अत्यन्त उपयोगी नय है। यदि इस नय के संदर्भ में हम अपने दैनिक जीवन के व्यावहारिक प्रयोगों पर दृष्टि डालें तो हमें इसकी उपयोगिता सहज ही भासित होगी।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव भूतनैगमनय के सशक्त उदाहरण हैं। एक कोड़ाकोड़ी सागर पहले हुये ऋषभदेव एवं उनके पंचकल्याणकों को वर्तमान में होनेवाले पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों में वर्तमानवत् ही व्यवहार किया जाता है।

'आज नीलांजना का नृत्य होगा और राजा ऋषभदेव दीक्षा ग्रहण करेंगे'—प्रतिष्ठाचार्यों द्वारा दी गई इसप्रकार की सूचनाओं को क्या हम असत्य मानते हैं?

नहीं, कदापि नहीं।

तो क्या सचमुच आज नीलांजना का नृत्य होगा या राजा ऋषभदेव दीक्षा लेंगे?

नहीं, यह भी सत्य नहीं है; क्योंकि राजा ऋषभदेव तो एक कोड़ाकोड़ी सागर पहले ही दीक्षा ले चुके हैं, आज तो वे सिद्धदशा में विराजमान हैं।

सम्पूर्ण स्थिति को भलीभाँति समझनेवाले श्रोताओं या दर्शकों को प्रतिष्ठाचार्यों की इसप्रकार की घोषणाओं से कोई परेशानी खड़ी नहीं होती; क्योंकि वे अच्छी तरह से जानते हैं कि यहाँ भूतकालीन घटनाओं को वर्तमानवत् व्यवहार किया जा रहा है।

यह सम्पूर्ण व्यवहार भूतनैगमनय की अपेक्षा ही संभव है। साधारण जनता भले ही नैगमनय का नाम न जानती हो, उसकी परिभाषा भी न समझती हो, तथापि उसकी कथन शैली से भलीभाँति परिचित है। यही कारण है कि उसे कोई उलझन खड़ी नहीं होती।

यह पंचकल्याणक प्रतिष्ठा विधि सबसे पहले किसी के कल्पनालोक अर्थात् ज्ञानजगत में ही अवतरित हुई होगी, पश्चात् कागज पर आई होगी और उसके बाद इसका क्रियान्वयन आरंभ हुआ है। यह ज्ञानजगत का अद्भुत उत्पादन है, जिसे नैगमनय अपना विषय बनाता है।

इसीप्रकार भावीचौबीसी की प्रतिष्ठा को भावीनैगमनय एवं विद्यमान सीमन्धरादि बीस तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा को वर्तमाननैगमनय के उदाहरण माने जा सकते हैं।

श्रीपाल-मैनासुन्दरी आदि नाटकों को भी भूतनैगमनय की विषयभूत वस्तु मानी जा सकती है, क्योंकि उनमें भी भूतकालीन कार्यकलापों का वर्तमानवत् व्यवहार होता है।

'धवल' में कहा गया है:-

> **"कं पि णरं दठ्ठूण य पावजणं समागमं करेमाणं ।**
> **णेगमणयेण भण्णई णेरइओ एस पुरुषोत्ति।।**[१]

किसी मनुष्य को पापी लोगों का समागम करते देखकर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है।"

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पापियों की संगति में रहने मात्र से किसी को नारकी कह देना कहाँ तक उचित है? क्या ये सब कल्पनालोक की उड़ानें नहीं हैं? क्या लोक में भी ऐसे प्रयोग होते देखे जाते हैं? क्या संकल्पग्राही नैगमनय की परिभाषा उक्त कथन पर घटित हो सकती है? यदि हाँ तो किसप्रकार?

हाँ, यह सत्य है कि नैगमनय का यह विषय कल्पनालोक में ही उत्पन्न होता है। कल्पनालोक का अर्थ है:-ज्ञानजगत। किसी पुरुष को पापियों की संगति में देखकर किसी ज्ञानी धर्मात्मा के चित्त में यह विकल्प उत्पन्न हुआ कि यह पुरुष इनकी संगति में पड़कर घोर पापभाव करेगा और अगले भव में नरक जायेगा, अतः यह भविष्य का नारकी ही है।

अनिष्पन्न कार्य में निष्पन्न कार्य जैसा अर्थात् भविष्य की पर्याय में भूत या वर्तमानपर्याय जैसा व्यवहार करनेवाला नैगमनय उसे आज ही नारकी कहेगा। दूसरी बात यह भी तो है कि संकल्पग्राही नैगमनय ने ज्ञानी के चित्त में उत्पन्न उक्त विकल्प या संकल्प को ही तो ग्रहण किया है।

इसप्रकार नैगमनय की यह परिभाषा कि अनिष्पन्न भावीकार्य में निष्पन्न भूत या वर्तमानकार्यवत् व्यवहार करनेवाले संकल्पग्राही ज्ञान भावीनैगमनय है, उक्त कथन पर भलीभाँति घटित होगी।

लोक में भी हम इसप्रकार के अगणित प्रयोग प्रतिदिन करते रहते हैं।

मेडिकल कॉलेज में प्रविष्ट छात्र को डॉक्टर कहना, राजपुत्र को राजासाहब कहना—इसीप्रकार के प्रयोग हैं, जो क्रमशः वर्तमान व भावीनैगमनय के उदाहरण हैं। सेवानिवृत्त न्यायाधीश को जजसाहब कहना, दीक्षित या सिद्धदशा को प्राप्त भरत को भी भरत चक्रवर्ती कहना भूतनैगमनय के उदाहरण हैं।

---

[१] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृष्ठ ५२७

भाई! यहाँ पापियों की संगति में रहनेवाले को नारकी कहकर कोई गाली नहीं दी जा रही है, अपितु उसकी भावीपर्याय का संकेत किया जा रहा है। इसी नय के आधार पर हम धर्मात्मा साधुओं की संगति करनेवालों को सिद्ध भी कह सकते हैं। भावलिंगी संतों को सिद्ध कहना भी इसीप्रकार का प्रयोग है। इस संदर्भ में पूजन की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:–

**"चलते-फिरते सिद्धों-से गुरु, चरणों में शीश झुकाते हैं।**
**हम चलें आपके कदमों पर, नित यही भावना भाते हैं।।**[1]"

उक्त पंक्तियों में गुरुओं को चलते-फिरते सिद्धों के समान अथवा चलते-फिरते सिद्ध ही कहा गया है। सिद्ध तो कभी चलते-फिरते नहीं हैं, तथापि सच्चे साधक भविष्य में निश्चित रूप से सिद्ध होने वाले हैं; अतः उन्हें आज ही सिद्ध या सिद्ध जैसा कहा गया है। यह एक प्रकार से भावीनैगमनय का ही प्रयोग है।

ज्ञाननय का स्वरूप स्पष्ट करते समय गत प्रकरण में जो कुछ भी कहा गया है, लगभग वह सब इस नैगमनय के सन्दर्भ में भी समझना चाहिए; क्योंकि यह नैगमनय ही एकमात्र ज्ञाननय है।

अभी तक नैगमनय का जितना भी कथन किया गया है, वह सब ज्ञाननय के रूप में ही किया गया है, परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि नैगमनय ज्ञाननय के साथ-साथ अर्थनय भी है।

अतः नैगमनय की परिभाषा एवं भेद-प्रभेद दोनों ही दृष्टियों से किये जाना आवश्यक है। यदि ज्ञाननय की अपेक्षा यह संकल्पग्राही नय है और इसके भूत, भावी एवं वर्तमाननैगमनय - ऐसे कालकृत तीन भेद हैं तो अर्थनय की दृष्टि से इसकी परिभाषा क्या है और इसे कितने विभागों में बाँटा जा सकता है—यह भी विचारणीय विषय है।

द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक वस्तु ही अर्थ है; अतः अर्थनय की दृष्टि से नैगमनय की विषयभूत वस्तु में द्रव्य, गुण, पर्याय-सभी समा जाते हैं।

अब यह देखना है कि यह नैगमनय द्रव्य, गुण व पर्याय को किस रूप में अपना विषय बनाता है।

अर्थनय की अपेक्षा नैगमनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्र वर्णी लिखते हैं:–

"अर्थनय की अपेक्षा करने पर नैगमनय का लक्षण 'एक को ग्रहण न

---

[1] अर्चना: देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला

करके दो को ग्रहण करना' है। अर्थात् संग्रहनय के विषयभूत अभेद को तथा व्यवहारनय के विषयभूत भेद को दोनों को ही युगपत्, परन्तु मुख्य-गौण के विकल्प से ग्रहण करना नैगमनय है।

वहाँ संग्रहनय अनेकों में अनुगत सामान्य को ग्रहण करके वस्तु को एक मानता है और व्यवहारनय उसी वस्तु में अनेकों द्रव्य, गुण व पर्यायगत विशेषों का ग्रहण करके उसे अनेकरूप मानता है। जैसे 'जीव एक है–यह संग्रहनय कहलाता है और 'जीव दो प्रकार का है :–संसारी व मुक्त'–यह व्यवहारनय कहलाता है, परन्तु इन दोनों नयों के विषयों को मुख्य-गौणभाव से युगपत् ग्रहण करना नैगमनय का विषय है।

उससे कहीं संग्रहनय का अभेद विषय मुख्य होता है तो व्यवहारनय का भेद विषय गौण हो जाता है। जैसे :–; जो यह संसारी व मुक्त दो प्रकार का कहा जा रहा है, वह वास्तव में एक जीव ही है। कहीं व्यवहारनय का भेद विषय मुख्य हो जाता है और संग्रहनय का अभेद विषय गौण हो जाता है। जैसे:– यह जो एक जीव कहा जा रहा है, वही संसारी व मुक्त के भेद से दो प्रकार का है।

नैगम के इस लक्षण का विषय सत्ताभूत पदार्थ ही है, क्योंकि यह अर्थनय है।[1]''

इस संदर्भ में आचार्य विद्यानंदि का निम्नांकित कथन भी द्रष्टव्य है:–

**''यद्वा नैकं गमो योऽत्र स सतां नैगमो मतः ।**
**धर्मयोर्धर्मिणोवापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः ।।[2]''**

अथवा 'नैकं गमो नैगमः'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो एक को विषय नहीं करता, उसे नैगमनय कहते हैं। अर्थात् जो मुख्य-गौण रूप से दो धर्मों को, दो धर्मियों को अथवा धर्म व धर्मी दोनों को विषय करता है, वह नैगमनय है।''

उक्त कथन पर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट होती है कि इस दृष्टिकोण से देखने पर इसमें तीन बातें मुख्य हैं:–

१. दो धर्मियों में एकता का संकल्प
२. दो धर्मों में एकता का संकल्प
३. धर्म व धर्मी में एकता का संकल्प

उक्त तीनों बातों को ध्यान में रखकर द्रव्य-गुण-पर्याय सभी को विषय

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ २२३
[2] तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ३५

बनानेवाले इस व्यापकनय को मुख्यतः तीन भेदों में विभाजित किया जा सकता है:–

१. द्रव्यनैगमनय (धर्मियों की अपेक्षा),
२. पर्यायनैगमनय (धर्मों की अपेक्षा),
३. द्रव्यपर्यायनैगमनय (धर्म व धर्मी युगपद् दोनों की अपेक्षा)।

दो धर्मियों में एकता के संकल्प का नाम ही द्रव्यनैगमनय है। इसके दो भेद हैं:–

१. शुद्धद्रव्यनैगमनय, २. अशुद्धद्रव्यनैगमनय।

दो धर्मों में एकता के संकल्प का नाम पर्यायनैगमनय है। इसके तीन भेद हैं:–

१. अर्थपर्यायनैगमनय, २. व्यंजनपर्यायनैगमनय,
३. अर्थ-व्यंजनपर्यायनैगमनय।

धर्म व धर्मी में एकता के संकल्प का नाम द्रव्यपर्यायनैगमनय है। इसके चार भेद हैं:–

१. शुद्धद्रव्य-अर्थपर्यायनैगमनय, २. अशुद्धद्रव्य-अर्थपर्यायनैगमनय,
३. शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगमनय, ४. अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगमनय।

नैगमनय के उक्त सम्पूर्ण भेद-प्रभेदों को निम्नलिखित चार्ट के माध्यम से भी भली-भाँति समझा जा सकता है:–

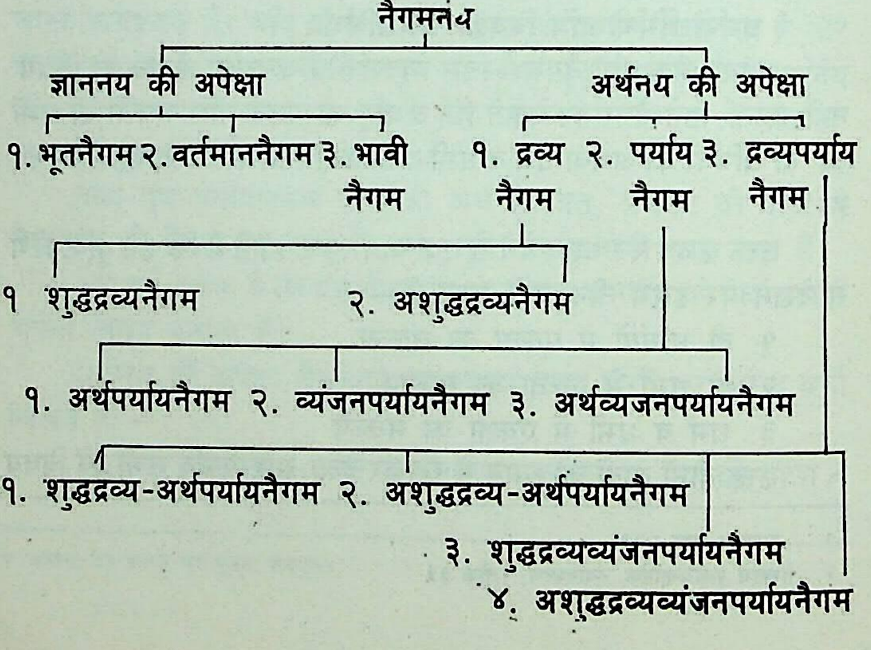
नैगमनय
ज्ञाननय की अपेक्षा
अर्थनय की अपेक्षा
१. भूतनैगम
२. वर्तमाननैगम
३. भावी नैगम
१. द्रव्य नैगम
२. पर्याय नैगम
३. द्रव्यपर्याय नैगम
१ शुद्धद्रव्यनैगम
२. अशुद्धद्रव्यनैगम
१. अर्थपर्यायनैगम
२. व्यंजनपर्यायनैगम
३. अर्थव्यजनपर्यायनैगम
१. शुद्धद्रव्य-अर्थपर्यायनैगम
२. अशुद्धद्रव्य-अर्थपर्यायनैगम
३. शुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम
४. अशुद्धद्रव्यव्यंजनपर्यायनैगम

इसप्रकार ज्ञाननय की अपेक्षा तीन भेद एवं अर्थनय की अपेक्षा नौ भेद –कुल मिलाकर नैगमनय के बारह भेद हो जाते हैं।

इन सबकी विशेष जानकारी के लिए श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये, विस्तारभय से यहाँ इससे अधिक लिखना इष्ट प्रतीत नहीं होता।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन पर सूक्ष्म दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि नैगमनय अत्यन्त व्यापक नय है। इसके पेट में द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अर्थात्मक सत्-जगत एवं भूत, भविष्य और वर्तमानरूप ज्ञानात्मक असत्-जगत सब-कुछ समाया हुआ है।

### २. संग्रहनय

संग्रहनय का विषय मात्र सत् पदार्थ ही है। 'सत्' का अर्थ है:– सत्ता – अस्तित्व। जिस पदार्थ की लोक में सत्ता है, अस्तित्व है, उसे ही सत् कहते हैं। यह सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त होता है और इसे ही द्रव्य का लक्षण कहा गया है।[1] अतः यह सहज सिद्ध है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्ता ही द्रव्यसामान्य का स्वरूप है।

यह सत्ता दो प्रकार की होती है:– महासत्ता और अवान्तरसत्ता। महासत्ता को विषय बनानेवाला संग्रहनय शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है और अवान्तरसत्ता को विषय बनानेवाला संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय कहा जाता है। शुद्धसंग्रहनय को सामान्यसंग्रह, परसंग्रह एवं अशुद्धसंग्रहनय को विशेषसंग्रह, अपरसंग्रह नामों से भी अभिहित किया जाता है।

संग्रहनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए नयचक्रकार लिखते हैं:–

"**अवरोप्परमविरोहे सव्वं अत्थित्ति सुद्धसंगहणे ।**
**होइ तमेव असुद्धं इगिजाइविसेसगहणेण ।।**[2]

शुद्धसंग्रहनय में परस्पर में विरोध न करके सत्रूप से सब का ग्रहण किया जाता है और उसकी एक जातिविशेष को ग्रहण करने से वही अशुद्धसंग्रहनय कहा जाता है।"

संग्रहनय की परिभाषा देते हुये आचार्य विद्यानन्दि लिखते हैं:–

"**ऐकध्येन विशेषाणां ग्रहणं संग्रहो नयः ।**
**स्वजातेरविरोधेन दृष्टेष्टाभ्यां कथंचन ।।**[3]

---

[1] –उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। सद् द्रव्यलक्षणम्: तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५, सूत्र २९-३०

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २०८

[3] श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ६३

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों द्वारा अपनी जाति का विरोध न करते हुए सभी विशेषों का कथंचित् एकत्वरूप से ग्रहण करना संग्रहनय है।"

किसी एक विशेषता के आधार पर अनेक पदार्थों में एकत्व स्थापित करना संग्रहनय की विशेषता है। 'सत्ता' एक ऐसी विशेषता है, जिसके आधार पर अलोकसहित लोक के सभी पदार्थों का संग्रह किया जा सकता है; क्योंकि सत्सामान्य की दृष्टि से सभी पदार्थ एक हैं।

सभी पदार्थों को अपने में समेट लेने में समर्थ सत्सामान्य को ग्रहण करनेवाला संग्रहनय शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है। चूँकि 'सत्ता' द्रव्य का लक्षण है, अतः 'द्रव्य' शब्द से भी जगत की सभी वस्तुओं का ग्रहण हो जाता है।

छह द्रव्यों में एक द्रव्य जीव भी है। ध्यान रहे, न तो द्रव्य ही छह हैं और न जीव एक। द्रव्य छह नहीं, छह प्रकार के हैं। इसीप्रकार जीव भी एक नहीं, अनन्त हैं, तथापि द्रव्यों के छह प्रकारों में जीव भी एक प्रकार है। यही कारण है कि उसे एक द्रव्य कह दिया जाता है।

सत्सामान्य द्रव्य का लक्षण है तो चित्सामान्य जीव का लक्षण है; अतः चित्सामान्य की अपेक्षा सभी जीव एक हैं।

वस्तुतः बात यह है कि उक्त कथन में 'द्रव्य' या 'जीव' शब्द व्यक्तिवाचक शब्द नहीं, जातिवाचक शब्द हैं। जातिवाचक शब्द अपने में अपनी सम्पूर्ण जाति को समेटे रहते हैं, अतः वे किसी एक वस्तु के वाचक न होकर अपनी जाति की अनेक वस्तुओं के वाचक होते हैं।

'जीव' शब्द अनन्त जीवों को अपने में समेटे है, अतः वह संग्रहनय का विषय है; पर यह संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय है, क्योंकि इसमें लोक के समस्त पदार्थों का संग्रह नहीं हो पाया है। एक जातिविशेष के पदार्थों का संग्रह होने से यह संग्रहनय तो है, पर सम्पूर्ण पदार्थों का संग्रह न होने से इसे शुद्धता प्राप्त नहीं है।

अस्तित्व महासत्ता है और चेतनत्व अवान्तरसत्ता। महासत्ता का ग्राहक संग्रहनय शुद्ध होता है और अवान्तरसत्ता का ग्राहक संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय है।

एक जाति के आधार पर जगत के अनन्तानन्त पदार्थों में एकता स्थापित करनेवाला यह नय मात्र वस्तु के स्वरूप को समझने में ही उपयोगी नहीं, अपितु लौकिक दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है।

इस नय के अनुसार 'होना' भी एक जाति है; मात्र एक जाति नहीं,

अपितु सबसे बड़ी जाति है; एकमात्र शुद्ध जाति है; इसके अतिरिक्त और सभी जातियाँ अशुद्ध हैं, क्योंकि वे सबको संगृहीत करने में समर्थ नहीं हैं।

एकमात्र 'होना' अर्थात् 'अस्तित्व' ही एक ऐसी जाति है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण जगत में एकता स्थापित हो सकती है। यही कारण है कि अस्तित्व के आधार पर एकता स्थापित करनेवाले नय को ही शुद्धसंग्रहनय कहा जाता है, शेष सभी संग्रहनय अशुद्धसंग्रहनय हैं।

क्षुद्र जातिवाद के आडम्बर में उलझे इस जगत ने कभी सोचा भी न होगा कि 'होना' भी एक जाति हो सकती है। इस जाति के अनुसार सभी चेतन और जड़ पदार्थ एक ही जाति के हैं। हम भी, तुम भी, और भी जो हैं, वे सभी एक 'हैं' जाति के ही हैं। 'हैं' के अतिरिक्त कोई ऐसी जाति नहीं, जो शुद्ध जाति हो, क्योंकि 'हैं' – इस एकमात्र जाति के आधार पर जो एकता स्थापित होती है, उसे ही शुद्धसंग्रहनय कहते हैं।

जो जातिवाद संग्रह का हेतु है, उसे आज हमने अपनी भूल से विग्रह का हेतु बना लिया है।

एक वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के उपासक, एक वीतरागधर्म के अनुयायी हम सब आज एक तो कल्पित जातिवाद क चक्कर में वैसे ही विघटित होते जा रहे हैं, उस पर भी कुछ निहित स्वार्थों द्वारा निरन्तर यह प्रचार किया जा रहा है कि अन्तर्जातीय संबंध करनेवालों के यहाँ मुनिराज आहार नहीं ले सकते। उनके अनुसार एक धर्म के अनुयायी होकर भी खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि जातियों में विभाजित लोग परस्पर में शादी-विवाह नहीं कर सकते हैं।

कैसी नादानी भरी बात है कि जैन अग्रवाल वैष्णव अग्रवाल के यहाँ शादी भले ही कर ले, पर वह जैन खण्डेलवाल के यहाँ शादी नहीं कर सकता। धर्म की तुलना में क्षुद्र जातिवाद को अधिक महत्त्व देना धर्म का अवर्णवाद नहीं तो और क्या है?

मुनिराज तो धर्मगुरु हैं, जातियों की सुरक्षा उनका उत्तरदायित्व नहीं। क्षुद्र जातिवाद की सुरक्षा जातियों के ठेकेदार करें तो भले ही करें, धर्मगुरुओं को तो धर्म को ही प्रधानता देना चाहिये। वे कैसे धर्मगुरु हैं, जो धर्म की परवाह किये बिना क्षुद्र जातिवाद की सुरक्षा में अपना सब कुछ दांव पर लगा रहे हैं।

भाई ! क्षायिक सम्यग्दृष्टी चक्रवर्ती भरत ने म्लेच्छ राजाओं की बत्तीस हजार कन्याओं से शादी की थी। भरत चक्रवर्ती ने ही क्यों, तीर्थंकर

शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भी तो बत्तीस हजार म्लेच्छ कन्याओं से शादी की थी। क्या उनके घर भी मुनिराज आहार नहीं लेते होंगे?

यदि जिनधर्म में अन्तरजातीय शादियों का निषेध होता तो जिनधर्म के कर्णधार तीर्थंकर और चक्रवर्ती ऐसा क्यों करते? क्या आज के लोग उनसे भी अधिक धर्मात्मा हो गये हैं?

दूसरी बात यह भी तो है कि जगत से कटे वीतरागी सन्तों को यह पता भी कैसे चलेगा कि किन-किन लोगों ने अपनी जाति में शादियाँ की हैं और किन-किन ने अन्तरजातीय? निरन्तर विहार करनेवाले वनवासी सन्तों को इतनी फुर्सत कहाँ कि वे किसी की जाति पूछते फिरें? वे तो निरन्तर अपनी आत्मा में ही मग्न रहनेवाले वीतरागी सन्त हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो मुनिराजों के लिये लौकिक जनों से संसर्ग का बड़ी कड़ाई से निषेध किया है, पर कलियुग की बलिहारी है कि सन्त भी इन लौकिक बातों में लौकिक जनों के समान ही उलझते जा रहे हैं।

वीतरागी मुनिराज तो इस लौकिक क्षुद्र जातिवाद से बहुत ऊपर उठ चुकते हैं। उन्हें इन बातों से क्या? उन्हें तो जो भी साधर्मी नवधा भक्तिपूर्वक उनकी विधि के अनुसार निर्दोष आहार दे, उसी के यहाँ ३२ अंतराय और ४६ दोष टालकर आहार ग्रहण कर लेना चाहिये; पर पंथव्यामोह में फँसे लोगों को जितनी चिन्ता येन-केन-प्रकारेण अपने पंथ के प्रचार की रहती है, उतनी मूल जिनधर्म की नहीं, अपने आत्मा के हित-अहित की भी नहीं।

'तत्त्वार्थसूत्र' में नामकर्म की प्रकृतियों के प्रकरण में पांच प्रकार की जातियों का निरूपण किया गया है; जो इसप्रकार हैः—एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति एवं पंचेन्द्रिय जाति।

इसके अनुसार हम सभी पंचेन्द्रिय जाति के जीव हैं; जिनमें देव, नारकी और मनुष्यों के साथ-साथ पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी समा जाते हैं। भाई! अकेली खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि ही जातियाँ नहीं हैं, जितने भी समूहवाचक शब्द हैं, लगभग सभी जातिवाचक संज्ञायें ही हैं।

इसके अनुसार द्रव्य भी एक जाति है, जीव भी एक जाति है, मनुष्य भी एक जाति है और पुरुष भी एक जाति है। इसप्रकार अनन्त प्रकार की अनन्त जातियाँ हैं और हम उनमें से किसी एक जाति के नहीं, अनेक जातियों में एक साथ ही शामिल हैं, क्योंकि हम द्रव्य भी हैं, जीव भी हैं, मनुष्य भी हैं और पुरुष भी हैं।

उक्त संदर्भ में यदि कोई प्रश्न करे कि हमें अपनी ही जाति में शादी

करनी चाहिये या अन्य जाति में, तो यही कहा जायेगा कि यदि आपका तात्पर्य मनुष्यजाति से है तो अपनी जाति में शादी करना चाहिये, क्योंकि किसी मनुष्य का देव या तिर्यंच से शादी करना व्यावहारिक नहीं हैं; तथा यदि आपका आशय पुरुषजाति से है तो अन्य जाति में ही शादी करना चाहिये; क्योंकि पुरुष की शादी पुरुष से संभव नहीं है, स्त्रीजाति में ही पुरुष को शादी करना उचित है।

यद्यपि 'जैन' एक धर्म का नाम है, तथापि 'जैन' शब्द समूहवाचक होने से जातिवाचक संज्ञा है; अतः जैन भी एक जाति ही है और धर्मानुकूल जाति है। अतः जैनों का जैनों के यहाँ किया गया संबंध भी जातीय संबंध ही है, अन्तरजातीय नहीं।

संग्रहनय के स्वरूप पर गहरी दृष्टि डालने पर प्रतीत होता है कि यह नय सामाजिक एकता की दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी नय है, क्योंकि यह नय जाति का सम्यक् स्वरूप बताकर जातिवाद का जहर उतारनेवाला सम्यक्नय है।

यह नय विभिन्न स्तरों पर किसी भी एक जाति (समानता) को आधार बनाकर विभिन्न पदार्थों में एकता स्थापित करने के लिये एकता के सूत्र खोजनेवाला नय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस नय का एकमात्र कार्य विभिन्न सत् पदार्थों में समानता के आधार पर एकता स्थापित करना ही है।

### ३. व्यवहारनय

संग्रहनय द्वारा संगृहीत पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करना व्यवहारनय है।[1] संग्रहनय के समान यह भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। जैसा कि कहा गया है:—

**"जं संगृहेण गहियं भेयइ अत्थं असुद्ध सुद्धं वा ।**
**सो ववहारो दुविहो असुद्धसुद्धत्थभेयकरो ।।[2]**

जो संग्रहनय के द्वारा गृहीत शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थ का भेद करता है, वह व्यवहारनय है। अशुद्ध अर्थ का भेद करनेवाला अशुद्ध व्यवहारनय है और शुद्ध अर्थ का भेद करनेवाला शुद्धव्यवहारनय।"

---

[1] संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः ।
योऽवहारो विभागः स्याद् व्यवहारो नयः स्मृतः ।।
—श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ७२

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २०९

शुद्धव्यवहारनय को सामान्यव्यवहारनय एवं अशुद्धव्यवहारनय को विशेषव्यवहारनय भी कहते हैं।

महासत्ता की अपेक्षा सभी पदार्थ सन्मात्र हैं, एक हैं, द्रव्य हैं- इस शुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित करके कहना है कि द्रव्य छह प्रकार के हैं:— जीव, पुदंगल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल। इसप्रकार भेद करनेवाला व्यवहारनय शुद्धव्यवहारनय है, क्योंकि इसने शुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित किया है।

अवान्तरसत्ता के आधार पर सभी जीवों में एकत्व स्थापित करनेवाले अशुद्धसंग्रहनय के विषयभूत 'जीव' नामक द्रव्य को भी विभाजित करके कहना कि जीव दो प्रकार के होते हैं :— संसारी और मुक्त, अशुद्धव्यवहारनय का कार्य है, क्योंकि इस कथन में अशुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित किया गया है।

अशुद्धव्यवहारनय के माध्यम से किया जानेवाला यह विभाजन निरन्तर तबतक चलता रह सकता है, जबतक कि स्थिति अविभाज्य अंश तक न पहुँच जाय।

इस सन्दर्भ में स्वामी कार्तिकेय का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

**"जो संगहेण गहिदं, विसेसरहिदं पि भेददे सददं ।**
**परमाणूपज्जंत ववहारणओ हवे सो हु।।**[1]

जो नय संग्रहनय के द्वारा अभेदरूप से गृहीत वस्तुओं का परमाणु पर्यन्त भेद करता है, वह व्यवहारनय कहलाता है।"

यदि व्यवहारनय संग्रहनय के द्वारा संगृहीत पदार्थों को अन्तिम बिन्दु तक विभाजित करता है तो संग्रहनय व्यवहारनय द्वारा विभाजित पदार्थों को उस अन्तिम बिन्दु तक संगृहीत करता है कि जिसमें सम्पूर्ण जगत ही समाहित हो जाता है।

इसप्रकार संग्रह और व्यवहारनय एक-दूसरे के विरुद्ध कार्य करनेवाले होने पर भी एक-दूसरे के पूरक नय हैं। यदि संग्रहनय संधि है, समास है तो व्यवहारनय विच्छेद है, विग्रह है। यदि संग्रहनय भेद में अभेद स्थापित करनेवाला अभेदकनय है तो व्यवहारनय अभेद में भेद करनेवाला भेदकनय।

इन दोनों नयों की दिशा एकदम एक-दूसरे के विपरीत है। ये दोनों नय

---

[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २७३

मथानी की डोरी के उन दोनों छोरों के समान हैं, जो एक-दूसरे के विरुद्ध ताकत लगाते हैं। एक छोर के आगे बढ़ने पर दूसरे का पीछे हटना अनिवार्य हो जाता है। एक-दूसरे के आगे बढ़ने और पीछे हटने की निरन्तर गतिशील इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही दही में से मक्खन निकलता है।

तत्त्वरूपी मक्खन की प्राप्ति के लिये संग्रह-व्यवहार की यह मंथन-प्रक्रिया निरन्तर चलना अत्यन्त आवश्यक है। सादृश्यास्तित्व से स्वरूपास्तित्व के छोर तक और स्वरूपास्तित्व से सादृश्यास्तित्व के छोर तक निरन्तर घूमनेवाला यह नयचक्र वस्तुस्वरूप समझने का, प्रतिपादन करने का अमोघ चक्र है।

इन दोनों नयों के परस्पर संबंध के संदर्भ में जैनेन्द्र वर्णी के विचार द्रष्टव्य हैं:—

"सामान्य रूप को ग्रहण करनेवाला संग्रहनय है और विशेष रूप को ग्रहण करनेवाला व्यवहारनय है। संग्रहनय किसी भी वस्तु को—चाहे वह महासत्ता रूप हो या अवान्तरसत्ता रूप हो-अद्वैत रूप में देखता है और व्यवहारनय उसके द्वारा ग्रहण की गई उसी अद्वैत महासत्ता में व अवान्तर सत्ता में द्वैत उत्पन्न कर देता है।[1]

अद्वैत देखने के कारण संग्रहनय शुद्धद्रव्यार्थिकनय कहलाता है और द्वैत देखने के कारण व्यवहारनय अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहलाता है। अशुद्ध कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उसका विषय असत् है, बल्कि यह है कि वह भेद-ग्राहक है।

सामान्य व विशेष दोनों अंश वस्तु में साथ-साथ रहते हैं, इसलिये उनके ग्राहक संग्रह व व्यवहारनय भी सदा साथ रहते हैं, या यों कहिये कि वे दोनों सगे भाई हैं। संग्रह के बिना व्यवहार का और व्यवहार के बिना संग्रह का कोई विषय नहीं, जैसे कि पिता के बिना पुत्र और पुत्र के बिना पिता का कोई अर्थ नहीं।

"यहाँ यह समझना कि जहाँ भेद डालने का काम हो, वहाँ तो व्यवहारनय का व्यापार होता है और जहाँ उन भेदों में से किसी एक को पृथक् निकालकर एक जातिरूप स्थापित करने का काम हो, वहाँ संग्रहनय का व्यापार होता है। यही व्यवहार व संग्रहनय की मैत्री है।[2]"

उक्त कथन में संग्रहनय को शुद्धद्रव्यार्थिकनय और व्यवहारनय को

---

१. नयदर्पण, पृष्ठ ३२०

२. वही, पृष्ठ ३२१

अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहा गया है। यद्यपि उक्त कथनानुसार संग्रहनय शुद्धव्यार्थिकनय है, तथापि उसे शुद्धसंग्रहनय व अशुद्धसंग्रहनय के रूप में भी विभाजित किया गया है। इसीप्रकार व्यवहारनय उक्त कथनानुसार अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है, तथापि उसके भी शुद्धव्यवहारनय व अशुद्ध व्यवहारनय—ऐसे दो भेद किये गये हैं।

संग्रह को शुद्धद्रव्यार्थिक व व्यवहार को अशुद्धद्रव्यार्थिक कहने की अपेक्षायें जुदी हैं और संग्रह-व्यवहार दोनों के ही शुद्धाशुद्ध भेद करने की अपेक्षायें जुदी। सभी अपेक्षाओं का स्पष्टीकरण यथास्थान किया जा चुका है, उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

वस्तुस्वरूप को समझने में तथा प्रतिपादन करने में परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले इन संग्रह और व्यवहारनयों की उपयोगिता को गहराई से समझने के लिये वस्तु के उन पक्षों को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है, जिन पक्षों पर ये नय प्रकाश डालते हैं।

इस लोक में जो भी अनन्तानन्त पदार्थ हैं, वे सभी एक-दूसरे से अत्यन्त पृथक् सर्वप्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र पदार्थ हैं और अपनी-अपनी परिणति के कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता भी स्वयं ही हैं।

परस्पर भिन्न उन सभी पदार्थों में यदि कुछ विशेषतायें ऐसी होती हैं, जो उनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों में नहीं पायी जाती हैं तो कुछ ऐसी भी विशेषतायें हैं, जो अन्य पदार्थों में भी पाई जाती हैं। तात्पर्य यह है कि उन पदार्थों में जहाँ एक ओर अनेक समानतायें पाई जाती हैं तो दूसरी ओर असमानतायें भी कम नहीं हैं।

इन समानताओं और असमानताओं के आधार पर ही संग्रह और व्यवहारनय अपना काम करते हैं।

समानताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न पदार्थों में एकता स्थापित करना संग्रहनय का काम है और असमानताओं के आधार पर उन्हें अनेक भेदों में विभाजित करना व्यवहारनय की विशेषता है।

ध्यान रखने की बात यह है कि समानताओं के आधार पर जो एकता स्थापित की जाती है, उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं होता कि अनेक पदार्थ मिलकर एक हो जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ की सत्ता तो भिन्न-भिन्न ही रहती है। प्रत्येक पदार्थ की भिन्न-भिन्न सत्ता की स्वीकृतिपूर्वक भिन्नता को गौण करके समानता के आधार पर एकता को जानना या मुखरित करना संग्रहनय का काम है। यदि अनेक पदार्थों में सर्वथा एकत्व या अद्वैत स्वीकार कर लिया

जायेगा तो अद्वैतैकान्त का प्रसंग उपस्थित होगा।

इसीप्रकार सर्वथा द्वैत भी जैनदर्शन को स्वीकृत नहीं है, क्योंकि सामान्य गुणों के आधार पर जो एकता स्थापित हुई है; वह भी काल्पनिक तो नहीं है, क्योंकि अनेक द्रव्यों में विभिन्न अपेक्षाओं से समानता तो है ही; जो है, उससे इन्कार कैसे किया जा सकता है?

यदि समानता के आधार पर जातिगत एकता को स्वीकार न किया गया तो फिर आपने जिनकी कल्पना भी न की होगी, ऐसी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ खड़ी हो जायेंगी। जातिवाचक संज्ञाओं के अभाव में कोई मनुष्य तो होगा ही नहीं; सब रमेश, सुरेश ही होंगे। न किसी को अध्यापक कहना संभव होगा और न किसी को छात्र, क्योंकि अध्यापक और छात्र संज्ञाएँ समानता के आधार पर ही स्थापित होती हैं। अधिक क्या कहें, न तो किसी को जीव कहना संभव होगा, न द्रव्य; क्योंकि किसी व्यक्तिविशेष को उसके जीवत्व के आधार पर ही जीव कहा जाता है।

व्यक्ति का अपने माँ-बाप द्वारा दिया हुआ तो एक ही निरर्थक नाम होता है, पर वह अपनी अनेक विशेषताओं के कारण अनेक समुदायों का सदस्य होने से अनेक जातिगत नामों से प्रतिदिन अभिहित किया जाता है।

क्या एक ही व्यक्ति जैन, डॉक्टर, श्रावक, प्रौढ़, मुमुक्षु, गुजराती, पुरुष – सब एकसाथ नहीं हो सकता है?

हो सकता है, अवश्य हो सकता है; क्योंकि उसमें ये सब विशेषतायें एकसाथ विद्यमान हैं।

इसीप्रकार क्या जैन वह अकेला ही है, डॉक्टर वह अकेला ही है, मुमुक्षु वह अकेला ही है, पुरुष वह अकेला ही है, श्रावक भी वह अकेला ही है?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि और भी अनेक व्यक्ति डॉक्टर, जैन, श्रावक, मुमुक्षु एवं पुरुष हैं। यह डॉक्टर आदि शब्द या नाम मात्र उसे ही अभिहित नहीं करते, उसके साथ अन्य अनेक व्यक्तियों को भी अभिहित करते हैं। पर यह भी ध्यान रखने की बात है कि डॉक्टर आदि शब्द यदि अनेक व्यक्तियों के वाचक हैं तो इस कारण अनेक डॉक्टर मिलकर एक नहीं हो जावेंगे, रहेंगे तो सब भिन्न-भिन्न ही।

इसप्रकार हम देखते हैं कि व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न होने पर भी यदि हम उनमें समानता के आधार पर भी एकता स्वीकार न करेंगे तो समस्त व्यवहार के लोप का प्रसंग उपस्थित हो जावेगा।

इसीप्रकार अकेली जातिगत समानताओं के आधार पर स्थापित एकता

से ही सम्पूर्ण व्यवहार संचालित नहीं हो जाता, विभिन्नताओं के आधार पर व्यवहारनय द्वारा किया गया विभाजन भी अत्यन्त आवश्यक है।

यदि व्यवहारनय द्वारा शुद्धसंग्रहनय के विषय को विभाजित नहीं किया जाता तो सभी सन्मात्र होकर रह जाते; कोई जीव नहीं होता, अजीव नहीं होता, संसारी नहीं होता, मुक्त नहीं होता। अधिक क्या कहें? जब जीव ही नहीं होता, मनुष्य ही नहीं होता तो फिर रमेश, सुरेश की बात ही कहाँ रह जाती है? ऐसी स्थिति में व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता ही समाप्त हो जाती तो फिर व्यक्तियों के समूहरूप समुदाय भी कहाँ रहता?

इसप्रकार व्यक्ति और जाति दोनों के ही लोप का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

व्यक्ति से लेकर सन्मात्र द्रव्य तक और सन्मात्र द्रव्य से लेकर व्यक्ति तक के बीच अनेक छोटी-बड़ी जातियाँ हैं, जिनके आधार पर समस्त व्यवहार संचालित होता है।

संगठन का आधार संग्रहनय है और विघटन का आधार व्यवहारनय। समाज के विकास और व्यवस्था के लिये दोनों की ही अत्यन्त आवश्यकता है। सामाजिक विकास के लिये संगठन की आवश्यकता से तो सभी भली-भाँति परिचित हैं, इसके संबंध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु विघटन भी समाज के लिये कितना उपयोगी है, इस पर किंचित् विचार अवश्य अपेक्षित है।

हमारे इस भारत देश की समृद्धि के लिये जितनी आवश्यक इसकी अखण्डता है, प्रान्तों, जिलों आदि में विभाजित करना भी उससे कम आवश्यक नहीं; विकास और व्यवस्था के लिये विभाजन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

ध्यान रखने की बात यह है कि यह विभाजन अखण्डता को खण्डित करनेवाला नहीं होना चाहिये। जिसप्रकार अखण्डता को कायम रखकर व्यवस्था के लिये किया गया विभाजन देश को सुखी और समृद्धि करता है, उसीप्रकार सन्मात्र को कायम रखकर किया गया विभाजन वस्तुस्वरूप को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

समष्टि की ओर ले जाने वाला संग्रहनय है और व्यष्टि की ओर ले जानेवाला व्यवहारनय।

व्यक्तियों को समाज के रूप में संग्रह करनेवाला नय संग्रहनय है और समाज को अपने वर्गों में विभाजित करते हुए व्यक्ति तक पहुँचाना

व्यवहारनय का कार्य है।

लोक में व्यक्ति और समाज दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। व्यक्ति की उपेक्षा करनेवाला समाज और समाज की उपेक्षा करनेवाला व्यक्ति—दोनों ही अभीष्ट की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होते। दोनों में से किसी की भी उपेक्षा उचित नहीं है; संभव भी नहीं है; दोनों के समुचित समादर में ही समाज व व्यक्ति का हित निहित है।

सादृश्यास्तित्व से लेकर स्वरूपास्तित्व के बीच ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जो संग्रह व व्यवहार दोनों ही नयों के विषय बनते हैं, पर दोनों नयों के दृष्टिकोण अलग-अलग होने से दोनों के मुख परस्पर विरुद्ध ही रहते हैं।

संग्रहनय संग्रहोन्मुखी है और व्यवहारनय विभाजनोन्मुखी। जब हम जीवों को गतियों की अपेक्षा चार भागों में विभाजित करते हैं और कहते हैं कि जीव के चार प्रकार हैं:—देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; तब 'मनुष्य' व्यवहारनय का विषय बनता है; किन्तु जब हम 'मनुष्य' शब्द से मनुष्य गति के समस्त जीवों का संग्रह करते हैं, तब वह संग्रहनय का विषय बनता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टियों से देखे जाने पर 'मनुष्य' संग्रह और व्यवहार दोनों ही नयों का विषय बन जाता है।

संग्रह-व्यवहार के इस चक्र के मध्य स्थित असंख्य बिन्दुओं को हम अपनी आवश्यकतानुसार ग्रहण करते रहते हैं और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये उनके संग्रह और व्यवहारपने का उपयोग किया करते हैं।

परस्पर विरुद्ध दिखनेवाले संग्रहनय और व्यवहारनय उन दो व्यापारी बन्धुओं के समान हैं, जिनमें एक माल खरीदने का काम करता है और दूसरा बेचने का। यद्यपि खरीदने और बेचने की क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं, तथापि उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक क्रियाएँ हैं; क्योंकि यदि खरीदनेवाला भाई माल खरीदकर न लाये तो फिर बेचनेवाला भाई बेचेगा क्या? इसीप्रकार यदि माल बेचा न जायेगा तो खरीदने मात्र से क्या लाभ होनेवाला है? लाभ तो खरीदने एवं बेचने—दोनों क्रियाओं के सम्पन्न हो जाने पर ही होनेवाला है। खरीदने-बेचने, बेचने-खरीदने की यह क्रिया जितनी अधिक होगी, लाभ भी उतना ही अधिक होनेवाला है।

इसीप्रकार व्यवहारनय संग्रहनय द्वारा संगृहीत विषयों को विभाजित करता है और संगृहनय व्यवहारनय द्वारा विभाजित विषयों को संगृहीत करता है। यद्यपि संग्रह और विभाजन की ये क्रियाएँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं, तथापि उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है, अपितु वे एक-दूसरे की पूरक

क्रियाएँ ही हैं; क्योंकि यदि संग्रहनय द्वारा अनेक पदार्थ संगृहीत नहीं किये जावेंगे तो व्यवहारनय विभाजन किसका करेगा? इसीप्रकार यदि व्यवहारनय द्वारा पदार्थ विभाजित नहीं होंगे तो संग्रहनय किसका संग्रह करेगा?

संग्रह और विभाजन की यह क्रिया ज्ञान में जितनी अधिक सम्पन्न होगी, वस्तुस्वरूप भी ज्ञान में उतना ही अधिक स्पष्ट प्रतिभासित होगा।

इसप्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तुस्वरूप के प्रतिपादक, अद्वैत और द्वैत के ग्राहक ये संग्रह और व्यवहारनय लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी एवं जिनागम के आधारभूत नय हैं।

### ४. ऋजुसूत्रनय

यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि द्रव्यार्थिकनय सामान्यग्राही होता है और पर्यायार्थिकनय विशेषग्राही। सामान्यग्राही द्रव्यार्थिकनयों में अद्वैतग्राही संग्रहनय, द्वैतग्राही व्यवहारनय एवं उभयग्राही व संकल्पग्राही नैगमनय की चर्चा अपेक्षित विस्तार से हो चुकी है। अब विशेषग्राही पर्यायार्थिकनय के रूप में ऋजुसूत्रनय की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।

क्षणध्वसी पर्यायों को ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्रनय है। आचार्य श्री विद्यानंदि के अनुसार ऋजुसूत्रनय का स्वरूप इसप्रकार है:–

"ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु सत् सूत्रयेद् ऋजु ।
प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात् सतः ।।[1]

ऋजुसूत्रनय मुख्यरूप से क्षण-क्षण में ध्वंस होनेवाली पर्यायों को वस्तुरूप से विषय करता है, विद्यमान होते हुए भी विवक्षा नहीं होने से इसमें द्रव्य की गौणता है।"

यह ऋजुसूत्रनय भी दो प्रकार का है :– १. सूक्ष्मऋजुसूत्रनय एवं २. स्थूलऋजुसूत्रनय।

इन दोनों ऋजुसूत्रनयों की परिभाषा नयचक्र में इसप्रकार दी गई है:–

"जो एयसमयवट्टी गेह्णइ दव्वे धुवत्तपज्जायं ।
सो रिउसुत्तो सुहुमो सव्वंपि सद्दं जहा खणियं।।
मणुवाइयपज्जाओ मणुसोत्ति सगट्ठिदीसु वट्टंतो ।
जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो ।।[2]

---

[1] श्लोकवार्तिक, नयविवरण, श्लोक ७५

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २१०-२११

जो द्रव्य में एक समयवर्ती अध्रुव पर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्मऋजुसूत्रनय कहते हैं। जैसे:– सभी शब्द क्षणिक हैं। और जो अपनी स्थिति-पर्यन्त रहनेवाली मनुष्य आदि पर्याय को उतने समय तक एक मनुष्य-पर्यायरूप से ग्रहण करता है, वह स्थूलऋजुसूत्रनय है।''

आचार्य देवसेन कृत नयचक्र में भी इसीप्रकार की गाथायें उपलब्ध हैं। मात्र इतना अन्तर है कि जहाँ इसमें 'सद्दं जहा खणियं' पाठ है, वहाँ उसमें 'सदं जहा खणियं' पाठ है। 'सद्द' का अर्थ है शब्द और 'सद्' का अर्थ है सत्।

सूक्ष्मऋजुसूत्रनय एकसमयवर्ती अर्थपर्याय अर्थात् गुणपर्याय को अपना विषय बनाता है और स्थूलऋजुसूत्रनय अनेकसमयवर्ती व्यंजनपर्याय अर्थात् द्रव्यपर्याय को अपना विषय बनाता है।

सूक्ष्मऋजुसूत्रनय को शुद्धऋजुसूत्र एवं स्थूलऋजुसूत्रनय को अशुद्धऋजुसूत्रनय भी कहते हैं।

ऋजुसूत्रनय के विषय के संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद का निम्नांकित कथन भी दृष्टव्य है:–

**''पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। तच्च वर्तमानसमयमात्रम्। तद्विषय पर्यायमात्रग्राह्यमृजुसूत्रः।**[1]

यह नय पूर्वापर तीनों कालों के विषयों को ग्रहण न करके वर्तमानकाल के विषयभूत पदार्थों को ग्रहण करता है, क्योंकि अतीत के विनष्ट और अनागत के अनुत्पन्न होने से उनमें व्यवहार नहीं हो सकता। और वह वर्तमान काल एकसमय मात्र का होता है। तथा एक समयवर्ती पर्यायमात्र को विषय करनेवाला ऋजुसूत्रनय है।''

उक्त कथन पर ध्यान देने पर एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि जब ऋजुसूत्रनय मात्र वर्तमान को ही विषय करता है और वर्तमान एक समयमात्र है तो फिर स्थूलऋजुसूत्रनय का विषय अनेकसमयवर्ती मनुष्यादि पर्यायें कैसे हो सकती हैं?

यद्यपि यह बात परमसत्य है कि वर्तमान एक समयमात्र ही होता है, क्योंकि वर्तमान के एक समय पूर्व तक का काल भूतकाल तथा वर्तमान के एक समय बाद का काल भविष्य काल कहा जाता है। भूत-भविष्य के बीच मात्र एक समय ही रहता है, जो वर्तमानकाल कहा जाता है। वास्तविक

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, सूत्र ३३ की टीका

अर्थपर्याय–गुणपर्याय भी एक समयमात्र ही स्थिर रहती है और वही वास्तविक पर्याय है, अतः उसे ही शुद्धपर्याय कहते हैं।

यहाँ शुद्धपर्याय से तात्पर्य निर्विकारी निर्मल पर्याय से नहीं है, अपितु अनेक पर्यायों के समुदायरूप पर्याय न होकर अकेली एक पर्याय से है। चाहे वह पर्याय समल हो या निर्मल, पर अकेली हो तो शुद्ध ही है। यहाँ उसका एकत्व ही शुद्धता है। यही कारण है कि एकसमयवर्ती पर्याय को विषय बनाने वाले ऋजुसूत्रनय को शुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है।

एकसमयवर्ती पर्याय के अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसे विषय करनेवाले नय को सूक्ष्मऋजुसूत्रनय भी कहा जाता है और यही वास्तविक ऋजुसूत्रनय है; तथापि यह भी तो सत्य है कि वह एकसमयवर्ती पर्याय क्षयोपशम ज्ञान वालों की पकड़ में अनेक समय बाद ही आती है। बाद में भी वह सीधी पकड़ में कहाँ आती है? उसे तो अनुमान और आगम प्रमाण से ही जाना जाता है। उसके माध्यम से कुछ भी व्यवहार संभव नहीं है।

यही कारण है कि अनेक पर्यायों के समूहरूप मनुष्यादि व्यंजनपर्यायों–द्रव्यपर्यायों के आधार पर ही ऋजुसूत्रनय संबंधी समस्त व्यवहार चलता है, जो कि अनुचित भी नहीं है; क्योंकि जिनागम में भी मनुष्य, देव, नारकी, तिर्यंच आदि पर्यायों को 'पर्याय' संज्ञा दी गई है। पर्यायार्थिकनय के छह भेदों के संदर्भ में इनकी चर्चा हो ही चुकी है।

ये मनुष्यादि पर्यायें अनेक पर्यायों के समूहरूप पर्याय हैं, अतः अशुद्ध कही जाती हैं और इन्हें विषय बनानेवाले नय को भी अशुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है। ये पर्यायें सामान्यजन के भी बुद्धिगोचर होने से स्थूल हैं, अतः इन्हें ग्रहण करनेवाले नय को स्थूलऋजुसूत्रनय भी कहा जाता है।

यद्यपि वास्तविक वर्तमान एकसमय का ही होता है, तथापि आज, इसी माह, इसी वर्ष, इसी शताब्दी में, इसी पंचम काल में, इसी अवसर्पिणी में आदि को भी तो वर्तमान के रूप में ही कहा जाता है। क्या जिनागम में ऋषभदेव से लेकर महावीर तक के तीर्थंकरों को वर्तमान-चौबीसी के रूप में नहीं बताया गया है? क्या एक कोड़ा-कोड़ी सागर पहले हुए ऋषभदेव को वर्तमान तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता है?

इसतरह हम देखते हैं कि यदि निश्चयवर्तमान एकसमय का ही होता है तो व्यवहारवर्तमान दो समयों से लेकर करोड़ों वर्ष तक का भी माना जाता रहा है। इस व्यवहारवर्तमान को ही स्थूलवर्तमान – अशुद्धवर्तमान नाम से अभिहित किया जाता है और इसके ग्राहक ऋजुसूत्रनय को स्थूलऋजुसूत्रनय

या अशुद्धऋजुसूत्रनय कहा जाता है।

आचार्य पूज्यपाद ने जो कथन किया है, वह सूक्ष्मऋजुसूत्रनय को लक्ष्य में रखकर किया है; इसलिये उक्त कथन का स्थूलऋजुसूत्रनय के कथन से कोई विरोध नहीं है।

ऋजुसूत्रनय के संदर्भ में वर्तमानकाल की व्याख्या 'धवल' में इसप्रकार दी गई है:–

"**प्रश्न**:–यहाँ वर्तमान काल का क्या स्वरूप है?

**उत्तर**:–विवक्षित पर्याय के प्रारंभ काल से लेकर उसका अन्त होने तक जो काल है, वह वर्तमानकाल है। अर्थ और व्यंजनपर्यायों की स्थिति के अनेक प्रकार होने से यह काल अनेक प्रकार का है।

शुद्ध ऋजुसूत्र प्रत्येक क्षण में परिणमन करनेवाले पदार्थों को विषय करता है, अतः उसकी अपेक्षा वर्तमानकाल का प्रमाण एक समयमात्र है और अशुद्धऋजुसूत्र के विषयभूत पदार्थों का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट छह माह अथवा संख्यात वर्ष है, क्योंकि चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य व्यंजनपर्यायें द्रव्य की प्रधानता से रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पाई जाती हैं।

**प्रश्न**:–यदि ऐसा भी पर्यायार्थिकनय है तो 'पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा पदार्थ नियम से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं'–इस सन्मतिसूत्र के साथ विरोध होगा?

**उत्तर**:–नहीं होगा; क्योंकि अशुद्धऋजुसूत्र के द्वारा व्यंजनपर्यायें ही विषय की जाती हैं, शेष पर्यायें अप्रधान (गौण) है।[1]"

यद्यपि ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिकनय ही है, जैसा कि पहले 'धवल' के आधार पर स्पष्ट भी किया जा चुका है; तथापि स्थूलऋजुसूत्र की अपेक्षा उसे कथंचित् द्रव्यार्थिक भी कहा गया है। 'धवल' में इस संबंध में इसप्रकार प्रश्नोत्तर किये गये हैं:–

"**प्रश्न**:– ऋजुसूत्र चूँकि पर्यायार्थिकनय है, अतः उसका द्रव्य विषय कैसे हो सकता है?

**उत्तर**:–नहीं, क्योंकि व्यंजनपर्याय को प्राप्त द्रव्य उसका विषय है:– ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं आता है। अर्थात् अशुद्धऋजुसूत्र को द्रव्यार्थिक मानने में कोई विरोध नहीं है।

**प्रश्न** :–ऋजुसूत्र के विषयभूत द्रव्य को उत्पादविनाशलक्षण मानने में

---

[1] जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग २, पृष्ठ ५३५

विरोध आता है?

**उत्तर** :–सो भी बात नहीं है; क्योंकि विवक्षित पर्याय का सद्भाव ही उत्पाद है और उसका अभाव ही व्यय है; इसके सिवाय अवस्थान स्वतंत्र रूप से नहीं पाया जाता है।

**प्रश्न** :–प्रथम समय में पर्याय उत्पन्न होती है और द्वितीयादि समयों में उसका अवस्थान होता है?

**उत्तर** :–यह बात नहीं बनती; क्योंकि उसमें प्रथम व द्वितीयादि समयों की कल्पना का कोई कारण नहीं है।

**प्रश्न** :–फिर तो उत्पाद ही अवस्थान बन बैठेगा?

**उत्तर** :–सो भी बात नहीं है; क्योंकि एक तो ऐसा मानने में विरोध आता है, दूसरे उत्पादस्वरूप भाव को छोड़कर अवस्थान का और कोई लक्षण पाया नहीं जाता। इसकारण अवस्थान का अभाव होने से उत्पाद व विनाशस्वरूप द्रव्य है–यह सिद्ध हुआ। यही व्यंजनपर्यायरूप द्रव्य स्थूलऋजुसूत्रनय का विषय है।[1]''

उक्त कथन में एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि ऋजुसूत्रनय मूलतः तो पर्यायार्थिक अर्थनय ही है और सूक्ष्मऋजुसूत्रनय ही वास्तविक ऋजुसूत्रनय है; तथापि सूक्ष्मऋजुसूत्रनय की विषयभूत एकसमयवर्ती वास्तविक अर्थपर्याय के माध्यम से कोई भी लोकव्यवहार संभव नहीं है, समस्त व्यवहार स्थूलव्यंजनपर्याय के माध्यम से ही चलता है।

अनेकसमयवर्ती मनुष्यादि व्यंजनपर्यायें अनादि-अनन्त न होने से न तो उन्हें शुद्धद्रव्य ही कह सकते हैं और एकसमयवर्ती न होने से उन्हें शुद्धपर्याय भी नहीं कहा जा सकता है। अनेकसमयवर्ती द्रव्यपर्यायें होने से उन्हें कथंचित् द्रव्य और असम्पूर्ण अनेक पर्यायों का समुदाय होने से कथंचित् पर्याय कहा गया है।

अतः सूक्ष्म-अर्थपर्यायों का ग्राहक होने से ऋजुसूत्रनय मूलतः तो पर्यायार्थिकनय ही है, पर स्थूलव्यंजनपर्यायों का ग्राहक होने से उसे कथंचित् द्रव्यार्थिकनय भी कह दिया जाता है।

ऋजुसूत्रनय का स्वरूप राजवार्तिक आदि ग्रंथों में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। विशेष जिज्ञासु पाठकों को अपनी जिज्ञासा वहाँ से शान्त करना चाहिए।

---

[1] जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग २, पृष्ठ ५३४

### ५. शब्दनय

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय के भेद से की गई नयों की चर्चा में ज्ञाननय के रूप में नैगमनय एवं अर्थनय के रूप में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय की चर्चा अपेक्षित विस्तार से हो चुकी है। अब शब्दनयों की चर्चा प्रसंगप्राप्त है।

ये शब्दनय तीन प्रकार के हैं :–

(१) शब्दनय,
(२) समभिरूढ़नय,
(३) एवंभूतनय।

ध्यान रखने की बात यह है कि उक्त तीनों नयों का सामूहिक नाम भी शब्दनय है और इनमें से प्रथम का नाम भी शब्दनय है। उक्त तीनों नय शब्दों के प्रयोगों पर विचार करते हैं, उन्हें सुसंगत रीति से नियंत्रित करते हैं। यही कारण है कि उक्त तीनों को ही शब्दनय संज्ञा प्राप्त है।

उक्त तीनों नयों के समुदायरूप शब्दनय को व्यंजननय भी कहते हैं; क्योंकि उक्त तीनों नयों के विषयभूत लिखे व बोले जानेवाले शब्द पुद्गलद्रव्य की व्यंजनपर्यायरूप होते हैं। इसीकारण ये तीनों नय पर्यायार्थिकनय भी कहे जाते हैं।

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा के बिना वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भाषा के सुसंगत एवं निर्दोष प्रयोग के बिना प्रतिपादन में अनेक ऐसी गंभीर भूलें भी संभव हैं कि जिनसे अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

यह तो आरंभ में ही स्पष्ट किया जा चुका है कि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। अतः जिनागम में निर्दोष प्रतिपादन के लिये व्याकरणसंमत भाषा के प्रयोगों में भी और अधिक कसावट लाने के लिए इन शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूतनयों का प्रयोग किया गया।

उक्त तीनों शब्दनयों (व्यंजननयों) में से शब्दनय किसप्रकार के प्रयोगों को उचित स्वीकार करता है–यह जानने के लिये आचार्य पूज्यपाद का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:–

**"लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः। तत्र लिंगव्यभिचारः पुष्यस्तारका नक्षत्रमिति। संख्याव्यभिचारः जलमापः, वर्षा ऋतुः, आम्रा वनम्, वरणा नगरमिति। साधनव्यभिचारः सेना पर्वतमधिवसति। पुरुषव्यभिचारः एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि**

**यास्यसि, यातस्ते पितेति। कालव्यभिचारः विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो जनिता। भावि कृत्यमासीदिति। उपग्रहव्यभिचारः संतिष्ठते प्रतिष्ठते विरमत्युपरमतीति। एवंप्रकारं व्यवहारमन्याय्यं मन्यते, अन्यार्थस्यान्यार्थेन संबन्धाभावात्। लोकसमयविरोध इति चेत्। विरुध्यताम्। तत्त्वमिह मीमांस्यते, न भैषज्यमातुरेच्छानुवर्ति।**[1]

लिंग, संख्या और साधन आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करनेवाला शब्दनय है।

लिंगव्यभिचार, यथाः—पुष्य, तारका और नक्षत्र—ये भिन्न-भिन्न लिंग के शब्द हैं। इनका मिलाकर प्रयोग करना लिंगव्यभिचार है।

संख्याव्यभिचार, यथाः—'जलं आपः, वर्षा ऋतुः, आम्रा वनम्, वरणाः नगरम्'—ये एकवचनान्त और बहुवचनान्त शब्द हैं। इनका विशेषणविशेष्यरूप से प्रयोग करना संख्याव्यभिचार है।

साधनव्यभिचार, यथाः—सेनापर्वतमधिवसति—'सेना पर्वत पर है'। यहाँ अधिकरण कारक के अर्थ में सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति है, इसलिये यह साधनव्यभिचार है।

पुरुषव्यभिचार, यथाः—'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्ते पिता'—'आओ, तुम समझते हो कि मैं रथ से जाऊँगा, नहीं जाओगे' तुम्हारे पिता गये'। यहाँ 'मन्यसे' के स्थान में 'मन्ये' और 'यास्यामि' के स्थान में यास्यसि क्रिया का प्रयोग किया गया है, इसलिये यह पुरुषव्यभिचार है।

कालव्यभिचार, यथाः—'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता'—'इसका विश्वदृश्वा पुत्र होगा'। यहाँ 'विश्वदृश्वा' कर्त्ता रखकर 'जनिता' क्रिया का प्रयोग किया गया है, इसलिये यह कालव्यभिचार है। अथवा 'भाविकृत्यमासीत्'—'होनेवाला कार्य हो गया'। यहाँ होनेवाले कार्य को हो गया बतलाया गया है, इसलिये यह कालव्यभिचार है।

उपग्रहव्यभिचार, यथाः—'संतिष्ठते, प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति'। यहाँ 'सम्' और 'प्र' उपसर्ग के कारण 'स्था' धातु का आत्मनेपद प्रयोग तथा 'वि' और 'उप' उपसर्ग के कारण 'रम्' धातु का परस्मैपद में प्रयोग किया गया है, इसलिये यह उपग्रहव्यभिचार है।

यद्यपि व्यवहार में ऐसे प्रयोग होते हैं, तथापि इसप्रकार के व्यवहार को शब्दनय अनुचित मानता है, क्योंकि पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अन्य अर्थ

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, सूत्र ३३ की टीका, पेज १००

का अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता।

**शंका**:—इससे लोकसमय का (व्याकरण शास्त्र का) विरोध होता है।

**समाधान**:—यदि विरोध होता है तो होने दो, इससे हानि नहीं; क्योंकि यहाँ तत्त्व की मीमांसा की जा रही है। दवाई कुछ पीड़ित पुरुष की इच्छा का अनुकरण करनेवाली नहीं होती।''

यहाँ 'व्यभिचार' शब्द का अर्थ सदोष कथन है। शब्दनय का कहना है कि वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में निर्दोष भाषा का प्रयोग होना चाहिए। लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह संबंधी व्याकरणिक नियमों का पालन कड़ाई से किया जाना शब्दनय की आवश्यक शर्त है।

यद्यपि व्याकरण भी भाषासंबंधी नियमों के पालन पर जोर देता है, तथापि वह अपंवाद के रूप में अनेक ऐसे प्रयोगों को भी स्वीकार कर लेता है, जो व्याकरण के सामान्य नियमों की अवहेलना करते हैं; पर शब्दनय उन्हें स्वीकार नहीं करता। इसीप्रकार के प्रयागों को उक्त उद्धरण में सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

ध्यान रहे, इन शब्दनयों के प्रकरण में संस्कृत-व्याकरण के नियमों को आधार बनाकर ही बात स्पष्ट की गई है।

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार लिंग तीन होते हैं:—स्त्री, पुरुष और नपुंसक; संख्या अर्थात् वचन भी तीन प्रकार के होते हैं:—एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन; काल भी तीन ही होते हैं:—भूत, वर्तमान और भविष्य; कारक छह प्रकार के होते हैं:—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण; और पुरुष तीन प्रकार के होते हैं:—प्रथम (अन्य), मध्यम और उत्तम; तथा मूल शब्दों के आरंभ में लगने वाले प्र, अप, वि आदि उपसर्गों को उपग्रह कहते हैं।

अन्य लिंग के स्थान पर अन्य लिंग का प्रयोग लिंगव्यभिचार है, अन्य संख्या या वचन के स्थान पर अन्य संख्या या वचन का प्रयोग संख्याव्यभिचार है, अन्यकालवाचक शब्द के स्थान पर अन्यकालवाचक शब्द का प्रयोग कालव्यभिचार है, अन्य कारक के स्थान पर अन्य कारक का प्रयोग कारक व्यभिचार है तथा अन्य उपग्रह (उपसर्ग) के स्थान पर अन्य उपग्रह का प्रयोग उपग्रहव्यभिचार है।

आचार्य पूज्यपाद के उक्त उद्धरण में दिये गये उदाहरणों को संस्कृत-व्याकरण के उक्त नियमों को ध्यान में रखकर ही समझना चाहिये। हिन्दी भाषा के व्याकरण में दो वचन और दो ही लिंग होते हैं, उसके अनुसार

विचार करने पर उदाहरण घटित न हो सकेंगे।

शब्दनय की विषयवस्तु का प्रतिपादन करते हुए जैनेन्द्र वर्णी लिखते हैं:—

''लौकिक व्याकरण का अनुसरण करनेवाला ऋजुसूत्रनय लिंग, संख्या आदि के व्यभिचारों को व्याकरण के नियमों के अपवाद रूप से स्वीकार कर लेता है, पर शब्दनय को वह सहन नहीं होते; अतः समान लिंग व संख्या-वाचक शब्दों को ही एकार्थवाचक रूप से ग्रहण करता है।

जिसप्रकार भिन्नस्वभावी पदार्थ भिन्न ही होते हैं, उनमें किसी प्रकार भी अभेद नहीं देखा जा सकता; उसीप्रकार भिन्नलिंग आदि वाले शब्द भी भिन्न ही होने चाहिए, उनमें किसी प्रकार की भी एकार्थता घटित नहीं हो सकती और इसप्रकार दार, भार्या, कलत्र—ये भिन्नलिंग वाले तीन शब्द अथवा नक्षत्र, पुनर्वसू, शतभिषज ये भिन्नसंख्यावाचक तीन शब्द और इसीप्रकार अन्य भी भिन्नस्वभाववाची शब्द, भले ही व्यवहार में या लौकिक व्याकरण में एकार्थवाची समझे जायें, परन्तु शब्दनय इनको भिन्न अर्थ का वाचक समझता है।[1]''

''अतः समान लिंग व संख्या वाले शब्दों में ही एकार्थवाचकता बन सकती है। जैसे:—इन्द्र, पुरन्दर, शक्र—यह तीनों शब्द समान पुल्लिगी होने के कारण एक 'शचीपति' के वाचक है—ऐसा शब्दनय कहता है।

तात्पर्य यह है कि काल, कारक, लिंग, संख्या, वचन और उपसर्ग के भेद से शब्द के अर्थ में भेद मानने को शब्दनय कहते हैं।

## ६. समभिरूढ़नय

यद्यपि शब्दनय लिंग, संख्या, वचन, काल एवं उपग्रह संबंधी व्यभिचारों को स्वीकार नहीं करता, तथापि इन दोषों से रहित एकार्थवाची शब्दों की सत्ता स्वीकार करता है। इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दों का अर्थ एक देवराज ही है, शचीपति ही है— यह उसे सहर्ष स्वीकार है।

यद्यपि यह सत्य है कि उक्त तीनों शब्द देवराज के पर्यायवाची हैं, एक देवराज के लिये ही प्रयुक्त होते हैं, तथापि निरुक्ति की दृष्टि से विचार करें तो उनके अर्थ में अन्तर भी विद्यमान है। 'इन्द्र' शब्द ऐश्वर्य, 'शक्र' शब्द सामर्थ्य एवं 'पुरन्दर' शब्द पुर को भेदन करने की क्रिया की ओर संकेत करता है। ऐश्वर्यवान इन्द्र, सामर्थ्यवान शक्र एवं पुर को भेदनेवाला पुरन्दर

---

१. नयदर्पण. पृष्ठ ६०३

२. वही. पृष्ठ ६०६

कहा जाता है।

शब्दनय शब्द के भेद से अर्थ में भेद होनेवाले इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देता और वह इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द को समान अर्थ के द्योतक पर्यायवाची शब्द ही स्वीकार कर लेता है; पर समभिरूढ़नय की दृष्टि में कोई शब्द पर्यायवाची होते ही नहीं हैं।

समभिरूढ़नय का कहना है कि लोक में जितने पदार्थ हैं, उनके वाचक शब्द भी उतने ही हैं। यदि अनेक शब्दों का एक ही अर्थ माना जायेगा तो उनके वाच्य पदार्थों को भी मिलकर एक हो जाना होगा, जो कि संभव नहीं है। अतः यही उचित है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न ही स्वीकार किया जावे।

अतः स्पष्ट है कि शब्दनय के द्वारा ग्रहण किये गये समानस्वभावी एकार्थवाची शब्दों में निरुक्ति या व्युत्पत्ति-अर्थ से अर्थभेद की स्थापना करना समभिरूढ़नय का मुख्य कार्य है।

इस संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

"**अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। तत्रैकस्यार्थस्यैकेन गतार्थत्वात्पर्यायशब्दप्रयोगोऽनर्थकः। शब्दभेदश्चेदस्ति अर्थभेदेनाप्यवश्यं भवितव्यमिति। नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः। इन्दनादिन्द्रः शकनाच्छक्रः पूर्दारणात्पुरन्दर इत्येवं सर्वत्र।**[1]

अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में एक अर्थ का एक शब्द से ज्ञान हो जाता है, इसलिये पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना निष्फल है। यदि शब्दों में भेद है तो उनमें अर्थभेद भी अवश्य होना चाहिये। इसप्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण करनेवाला होने से समभिरूढ़नय कहलाता है। जैसे:—इन्द्र, शक्र और पुरन्दर —ये तीन भिन्न शब्द होने से इनके अर्थ भी भिन्न-भिन्न तीन ही होते हैं। 'इन्द्र' का अर्थ आज्ञा व ऐश्वर्यवान है, 'शक्र' का अर्थ समर्थ है और 'पुरन्दर' का अर्थ नगरों का विभाजन करनेवाला है। इसीप्रकार सर्वत्र पर्यायवाची शब्दों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।"

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सभिरूढ़नय व्युत्पत्यर्थ की प्रधानता से एक व्यक्ति या वस्तु के वाचक अनेक शब्दों में अर्थभेद स्वीकार करता है, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह उन व्यक्तियों या वस्तुओं

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय, सूत्र ३३ का टीका पृष्ठ १४१

को भी भिन्न-भिन्न जान लेता है। जैसे:– इन्द्र, शक्र एवं पुरन्दर शब्दों के व्युत्पत्यर्थ भिन्न-भिन्न हैं, तथापि वे देवराज की विशेषताओं को ही बताते हैं। तीनों शब्दों का वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी तीनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में एक देवराज को ही इंगित करते हैं, अन्य व्यक्ति को नहीं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रादि तीनों शब्द हाथी, घोड़ा एवं बैल शब्दों के समान भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के वाचक नहीं हैं।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि हाथी, घोड़ा एवं बैल शब्दों के समान इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द सर्वथा भिन्न अर्थों के वाचक शब्द नहीं हैं; उन्हें हाथी, घोड़ा, बैल आदि के समान सर्वथा भिन्न अर्थों का द्योतक मानना समभिरूढ़नयाभास है।

उक्त संदर्भ में जैनन्द्र वर्णी के विचार भी द्रष्टव्य हैं :–

"भिन्नार्थता का अर्थ यहाँ इतना ही समझना चाहिये कि एक ही व्यक्ति में उन-उन शब्द की वाच्यभूत अनेक योग्यतायें हैं, जिनका दर्शन उसी व्यक्ति या पदार्थ में भिन्न-भिन्न समयों पर होना सम्भव है। और इसीलिये स्थूल दृष्टि से देखने पर हम उस एक पदार्थ को उन पर्यायवाची शब्दों में से किसी एक शब्द का वाच्य बना सकते हैं।

यद्यपि शब्दनय और समभिरूढ़नय दोनों ही उन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग एक पदार्थ के लिये कर देते हैं, परन्तु दोनों के प्रयोग में कुछ अन्तर है। पहिला तो व्युत्पत्ति-अर्थ की अपेक्षा न करके उन्हें परमार्थ रूप से एकार्थक स्वीकार करता है और दूसरा उनकी भिन्नार्थता को देखता हुआ उस-उस योग्यता के कारण उपचारमात्र से या रूढ़िवश उन्हें एकपदार्थवाची मानता है। जैसे :–भले ही ऐश्वर्य का उपयोग करते समय भी समभिरूढ़नय 'इन्द्र' को रूढ़िवश 'पुरन्दर' कहना स्वीकार कर ले, परन्तु इतने मात्र से वह यह नहीं भूल जाता कि यह प्रयोग उपचारमात्र है, वास्तव में इन्द्र और पुरन्दर शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। हाथी, घोड़ा आदि सर्वथा भिन्नार्थवाची शब्दों में तो इसप्रकार का उपचार भी सम्भव नहीं है।[१]"

यह तो सर्वविदित ही है कि यदि एक वस्तु के वाचक अनेक शब्द होते हैं तो एक शब्द के भी अनेक अर्थ पाये जाते हैं। जिसप्रकार इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि देवराज के ही नाम हैं; उसीप्रकार 'गो' शब्द के भी गाय, वाणी, पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थ होते हैं।

समभिरूढ़नय की जो व्याख्या अभी तक की गयी है, वह एक वस्तु के

---

[१] नयदर्पण, पृष्ठ ४१९

वाचक अनेक शब्दों के संदर्भ में ही की गई है, अब अनेकार्थवाची शब्दों के संदर्भ में विचार करते हैं।

अनेकार्थवाची शब्दों के सब अर्थों को गौण करके एक लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही ग्रहण करना समभिरूढ़नय का काम है।

आचार्य पूज्यपाद के शब्दों में :–

**"यतो नानार्थान्समतीत्येकमर्थमाभिख्येन रूढः समभिरूढः। गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु वर्तमानः पशावभिरूढः।**[1].

जो नाना अर्थों को छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है, वह समभिरूढ़नय है। जैसे:–'गो'-इस शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह गाय नामक पशु के अर्थ में रूढ़ है।"

एकार्थवाची अनेक शब्द एवं अनेकार्थवाची एक शब्द–दोनों ही दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए समभिरूढ़नय की अतिसंक्षिप्त परिभाषा नयचक्रकार ने इसप्रकार दी है:–

**"सद्दारूढो अत्थो अत्थारूढो तहेव पुण सद्दो ।**
**भणइ इह समभिरूढो जह इंद पुरंदरो सक्को ।।**[2]

जो अर्थ को शब्दारूढ़ एवं शब्द को अर्थारूढ़ कहता है, वह समभिरूढ़नय है। जैसे इन्द्र, शक्र और पुरन्दर।"

'गौ' शब्द का गाय के अर्थ में रूढ़ हो जाना अर्थारूढ़ का उदाहरण है और इन्द्र, शक्र, पुरन्दर का भिन्न-भिन्न अर्थ में रूढ़ होना शब्दारूढ़ का उदाहरण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि समभिरूढ़नय के मूल दो कार्य हैं:–

(१) अर्थारूढ़:–समानस्वभावी एकार्थवाची शब्दों में व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद की स्थापना करना। एक देवराज के वाचक शक्र, इन्द्र और पुरन्दर शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार करना इसका उदाहरण है।

(२) शब्दारूढ़:–अनेकार्थवाची शब्दों के एक लोकप्रसिद्ध अर्थ को स्वीकार कर अन्य अर्थों की उपेक्षा कर देना। ग्यारह अर्थों वाले 'गो' शब्द का मात्र 'गाय' के अर्थ में ही प्रयोग करना इसका उदाहरण है।

### ७. एवंभूतनय

व्याकरणसंमत अपवादों को भी अस्वीकार कर शब्दनय ने एवं एकार्थवाची शब्दों के व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ स्वीकार कर समभिरूढ़नय ने प्रतिपादन-शैली एवं भाषा को बहुत कुछ सुगठित कर दिया

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १०१

[2] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २१४

था; तथापि एवंभूतनय का कहना है कि 'गच्छतीति गो:'— इस निरुक्ति के अनुसार गमन करती हुई गाय को ही 'गो' कहा जा सकता है, बैठी हुई गाय को नहीं।

यद्यपि समभिरूढ़नय भी शब्दनय के समान एकार्थवाची अनेक शब्दों की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसका स्पष्ट मत है कि जितने शब्द हैं, उनके वाच्य पृथक्-पृथक् उतने ही होने चाहिये; तथापि वह यह स्वीकार कर लेता है कि विशिष्ट अर्थवाले विशिष्ट शब्द जिस व्यक्ति या वस्तु के वाचक हैं, वे उस व्यक्ति या वस्तु के वाचक मात्र उस क्रिया को करते समय ही नहीं, अपितु आगे-पीछे भी उन्हें उन नामों से अभिहित किया जा सकता है, पर एवंभूतनय को यह स्वीकार नहीं है।

एवंभूतनय का तो स्पष्ट कहना है कि जो पदार्थ जिससमय जो क्रिया कर रहा हो, उसे उससमय उसी नाम से पुकारा जाय। देवराज को इन्दनक्रिया करते समय ही इन्द्र कहा जा सकता है, पुर का दारण करते समय नहीं।

उक्त सदर्भ में आचार्य पूज्यपाद का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:—

**"येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवंभूत:। स्वाभिप्रेतक्रिया-परिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यदेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदेव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो न शयति इति। अथवा येनात्मना येन ज्ञानेन भूत: परिणतस्तेनैवाध्यवसाययति। यथेन्द्राग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्चेति।** [१]

जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई, उसीरूप निश्चय करानेवाले नय को एवंभूतनय कहते हैं। आशय यह है कि जिस शब्द का जो वाच्य है, उस रूप क्रिया के परिणमन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना युक्त है, अन्य समय में नहीं। जब आज्ञा-ऐश्वर्यवाला हो, तभी इन्द्र है, अभिषेक करनेवाला नहीं और न पूजा करनेवाला ही। जब गमन करती हो, तभी गाय है, बैठी हुई नहीं और न सोती हुई ही। अथवा जिस रूप से अर्थात् जिस ज्ञान से आत्मा परिणत हो, उसी रूप से उसका निश्चय करानेवाला नय एवंभूतनय है। यथा—इन्द्ररूप ज्ञान से परिणत आत्मा इन्द्र है और अग्निरूप ज्ञान से परिणन आत्मा अग्नि है।"

उक्त कथन में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिससमय जो आत्मा जिस पदार्थ को जान रहा हो, उससमय वह आत्मा वही है, अर्थात् उसे उससमय उसी नाम से पुकारा जाना चाहिए। अग्नि को जानने में संलग्न आत्मा अग्नि ही है—यह अभिप्राय है एवंभूतनय का।

---

[१] सर्वार्थसिद्धि, अ० १, सूत्र ३३ की टीका, पृष्ठ १०१

एवंभूतनय का सूक्ष्मतम अभिप्राय स्पष्ट करते हुए जैनेन्द्र वर्णी लिखते हैं:–

''जैसा शब्द बोला जाये, वैसा ही उसका वाच्य पदार्थ होना चाहिए। अर्थात् व्युत्पत्ति के आधार पर जो कुछ अर्थ समभिरूढ़नय ने उस शब्द का किया था, बिल्कुल उसके अनुरूप परिणत पदार्थ ही उस शब्द का वाच्य हो सकता है, अन्यरूप से परिणत वही पदार्थ उस समय उस शब्द का वाच्य नहीं बन सकता; और इसीप्रकार जैसी क्रिया से विशिष्ट वह पदार्थ दिखता है, उसका वाचक शब्द भी उससमय वैसी क्रिया को दर्शानेवाला ही होना चाहिये। रूढ़िवश बोले गये शब्दों का यहाँ सर्वथा लोप है। जैसे :–'गो' शब्द का अर्थ ' चलनेवाला '–ऐसा होता है, अतः चलते समय ही उस शब्द का प्रयोग करना चाहिये, बैठे या सोते समय नहीं।

प्रत्येक ही चलनेवाले पदार्थ में भी इसका अर्थ नहीं जा सकता, क्योंकि समभिरूढ़नय पहिले ही इसके प्रति प्रतिबन्ध लगा चुका है। यहाँ एवंभूतनय में तो समभिरूढ़नय के द्वारा स्वीकारे गये अर्थ में भी भेद करना इष्ट है। समभिरूढ़नय की दृष्टि में गाय नाम का पशु विशेष 'गाय' है, भले चलती हो कि बैठी। भले पुरों को विदारण करने में प्रवृत्त न हो, पर रूढ़िवश इन्द्र हर समय पुरन्दर भी कहा जा सकता है। एवंभूत ऐसा स्वीकार नहीं कर सकता। वह तो चलती हुई गाय को ही 'गो' शब्द का वाच्य बनाता है, बैठने व सोने वाली को नहीं। इसीप्रकार पुरों का विदारण करते समय इन्द्र ही 'पुरन्दर' शब्द का वाच्य हो सकता है, पूजा करते समय या ऐश्वर्य का भोग करते समय नहीं। उस समय तो वह पुजारी व इन्द्र है।

इसप्रकार क्रियाभेद पर से वाचक शब्द का भेद और वाचक शब्द के भेद पर से तत्क्रियापरिणत वाच्य पदार्थ का भेद देखनेवाला नय एवंभूतनय है।

इतना ही नहीं, इसकी सूक्ष्मता तो यहाँ तक कहने को तैयार है कि कोई व्यक्ति जिससमय जिस पदार्थ का ज्ञान कर रहा हो, उससमय उस व्यक्ति विशेष को उस पदार्थ के नाम से ही पुकारना चाहिये; जैसे कि गाय को देखने में उपयुक्त व्यक्ति उस समय 'गाय' शब्द का वाच्य है, मनुष्य या जीव शब्द का नहीं। कारण कि व्यक्ति तो ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान का संज्ञाकरण ज्ञेय के बिना किया नहीं जा सकता। जैसे घटग्राही ज्ञान को घटज्ञान कहना। एवंभूत की एकत्वदृष्टि में घट व ज्ञान अथवा ज्ञान व ज्ञानधारी जीव–ऐसा द्वैत कहाँ? अतः घट आदि ज्ञेय ही ज्ञान हैं और वह ज्ञान ही वह व्यक्ति है; अतः घटरूप ही वह व्यक्ति है। अतः व्यक्ति विशेष को 'घट' या 'गाय' कहना उससमय युक्त है।

इतना ही नहीं, इस नय का तर्क तो यहाँ से भी आगे निकल जाता है। वह द्वैत का सर्वथा निराश करनेवाला है। अतः उसकी सूक्ष्म दृष्टि में 'ज्ञान', 'वान' – इन दो पदों का सम्मेल करके एक 'ज्ञानवान' शब्द बनाना युक्त नहीं। अथवा 'आत्म', 'निष्ठ' - इन दो पदों का समास करके एक 'आत्मनिष्ठ' शब्द बनाना युक्त नहीं। 'आत्मा' अकेला आत्मा ही है। आत्मा में निष्ठा पानेवाला – ऐसे विशेषण-विशेष्यभाव की क्या आवश्यकता है? अर्थात् प्रत्येक शब्द एक ही अर्थ का द्योतक है, संयुक्त अर्थ का नहीं।

जहाँ पदों का समास सहन नहीं किया जा सकता, वहाँ अनेक शब्दों के समूहरूप वाक्य कैसे बोला जा सकता? अर्थात् एवंभूतनय की दृष्टि में शब्द ही शब्द हैं, वाक्य नहीं।

इतना ही नहीं, एक असंयुक्त स्वतन्त्र शब्द या पद भी वास्तव में कोई वस्तु नहीं, क्योंकि वह भी 'घ', 'ट' आदि अनेक वर्णों को मिलाने से उत्पन्न होते हैं। दो वर्णों को मिलाने में तो आगे-पीछे का क्रम पड़ता है। जैसे :– 'घट' शब्द में 'घ' पहिले बोला गया और 'ट' पीछे। जो दृष्टि केवल एक क्षणग्राही है, वहाँ यह आगे-पीछे का क्रम कैसे सम्भव हो सकता है? जब 'घ' बोला गया, तब 'ट' नहीं बोला गया और जब 'ट' बोला गया, तब 'घ' नहीं बोला गया। अतः 'घ' व 'ट' – ये दोनों ही स्वतन्त्र अर्थ के प्रतिपादक रहे आवें, इनका समास या संयोग करके अर्थ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं।

यह भी अभी दोषयुक्त है, क्योंकि यहाँ भी 'घ' इस वर्ण में 'घ्' और 'अ' – इन दो स्वतन्त्र वर्णों का संयोग पड़ा है। 'घ्' और 'अ' मिलकर 'घ' बनता है। अतः 'घ' भी कोई चीज नहीं। 'घ्' और 'अ' स्वतन्त्ररूप से रहते हुए जो कुछ भी अपने रूप के वाचक होते हैं, वही एवंभूतनय का वाच्य है।

सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और वहाँ से भी सूक्ष्मतम दृष्टि में प्रवेश करता हुआ यह नय इसप्रकार केवल एक असंयुक्त वर्ण को ही वाचक मानता है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि इसप्रकार तो वाच्य-वाचक भाव का अभाव हो जायगा और ऐसा हो जाने पर लोकव्यवहार का तो लोप हो ही जायगा, परन्तु एवंभूतनय का भी लोप हो जायगा, क्योंकि वह नय गूंगावत् बनकर रहने के कारण स्वयं अपना भी प्रतिपादन करने में समर्थ न हो सकेगा और ऐसी अवस्था में वह नाममात्र को ही नय कहलायेगा, परन्तु उसका स्वरूप कुछ न कहा जा सकेगा।

इस शंका का उत्तर 'कषायपाहुड', पुस्तक १, पृष्ठ २४३ पर निम्नप्रकार दिया है:–

"यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर एवंभूतनय का विषय दिखलाया गया है।[1]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि ये तीनों ही नय भाषा के प्रयोगों को आवश्यकतानुसार सुसंगत रूप प्रदान करनेवाले और उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषयवाले हैं। ये ही क्यों, नैगमादि सातों ही नय क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषय वाले हैं और पूर्व-पूर्व के नय आगे-आगे के नयों के हेतु भी हैं। इन सातों नयों को उक्त क्रम में रखने का कारण भी यही है। जैसा कि कहा गया है:—

"**उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेषां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च। एवमेते नयाः पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया...।**[2]

उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयवाले होने के कारण इनका यह क्रम कहा है। पूर्व-पूर्व के नय आगे-आगे के नयों के हेतु हैं, इसलिये भी यह क्रम कहा है। इसप्रकार ये नय पूर्व-पर्व विरुद्ध महाविषयवाले और उत्तरोत्तर अनुकूल अल्पविषयवाले हैं।"

इसप्रकार नैगमादि सप्तनयों का यह संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इन नयों की विस्तृत जानकारी के लिए तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि आदि वृत्तियों (टीकाओं) एवं राजवर्तिक आदि वार्तिकों (भाष्यों) का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए।

—o—

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे में पूरी-पूरी तपास करते हैं । डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नहीं होता । डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर; यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते हैं तो होशियार दर्जी तलाशते हैं, और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नहीं जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है । पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते हैं :

— **धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ११३**

---

[1] नयदर्पण, पृष्ठ ४३२ से ४३४

[2] सर्वार्थसिद्धि : अध्याय १, सूत्र ३३ टीका, पृष्ठ १०२

### पंचम अध्याय

# सैंतालीस नय

## सैंतालीस नय : नाम एवं सामान्य परिचय

निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक एवं नैगमादि सप्तनयों की विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम प्रवचनसार की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका के परिशिष्ट में समागत ४७ नयों की चर्चा कर लेना भी आवश्यक है, क्योंकि यह प्रकरण भी अनेकान्तमयी आत्मवस्तु को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

उक्त ४७ नय भी एकप्रकार से आध्यात्मिक नय ही हैं, क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्र ने उन्हें आत्मा पर ही घटित किया है। इन ४७ नयों की चर्चा का आरंभ भी वे इसप्रकार करते हैं :-

**"ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत् पुनरप्यभिधीयते। आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्टात्रेकं द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्।**

'यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है' – यदि ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर पहले ही कहा जा चुका है और अब पुन: कहते हैं:– प्रथम तो आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि वह अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं, उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से प्रमेय होता है।"

जिन ४७ नयों से यहाँ आत्मा का वर्णन किया गया है, वे ४७ नय इसप्रकार हैं:–

(१) द्रव्यनय, (२) पर्यायनय, (३) अस्तित्वनय, (४) नास्तित्वनय, (५) अस्तित्वनास्तित्वनय, (६) अवक्तव्यनय, (७) अस्तित्व-अवक्तव्यनय, (८) नास्तित्व-अवक्तव्यनय, (९) अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय, (१०) विकल्पनय, (११) अविकल्पनय, (१२) नामनय, (१३) स्थापनानय, (१४) द्रव्यनय, (१५) भावनय, (१६) सामान्यनय, (१७) विशेषनय, (१८) नित्यनय, (१९) अनित्यनय, (२०) सर्वगतनय, (२१) असर्वगतनय, (२२) शून्यनय, (२३) अशून्यनय, (२४) ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय,

(२५) ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय, (२६) नियतिनय, (२७) अनियतिनय, (२८) स्वभावनय, (२९) अस्वभावनय, (३०) कालनय, (३१) अकालनय, (३२) पुरुषकारनय, (३३) दैवनय, (३४) ईश्वरनय, (३५) अनीश्वरनय, (३६) गुणीनय, (३७) अगुणीनय, (३८) कर्तृनय, (३९) अकर्तृनय, (४०) भोक्तृनय, (४१) अभोक्तृनय, (४२) क्रियानय, (४३) ज्ञाननय, (४४) व्यवहारनय, (४५) निश्चयनय, (४६) अशुद्धनय, (४७) शुद्धनय।

४७ नयों की उक्त नामावली पर गहराई से दृष्टि डालने पर एक बात स्पष्ट होती है कि सप्तभंगी संबंधी सप्तनयों एवं चारनिक्षेप संबंधी चार नयों को छोड़कर शेष सभी ३६ नय परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मों को विषय बनानेवाले होने से १८ जोड़ों के रूप में दिये गये हैं। जैसे:– नित्यनय-अनित्यनय, सर्वगतनय-असर्वगतनय, कालनय-अकालनय आदि।

इस जगत में विद्यमान प्रत्येक वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है। अनन्तगुणों के समान, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले नित्य-अनित्यादि अनंत धर्मयुगल भी प्रत्येक वस्तु में पाये जाते हैं।

अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा भी एक द्रव्य है, एक वस्तु है, अतः उसमें भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले धर्मयुगल पाये जाते हैं।

भगवान आत्मा में विद्यमान अनंतधर्मों में से एक-एक धर्म को विषय बनानेवाले सम्यक् श्रुतज्ञान के अंशरूप नय भी अनन्त होते हैं, हो सकते हैं। उन अनन्तनयों के समुदायरूप सम्यक्श्रुतज्ञान प्रमाण है और अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा प्रमेय है।

निज भगवान आत्मा का गहराई से परिचय प्राप्त करने के लिए सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप ४७ नयों द्वारा यहाँ भगवान आत्मा के ४७ धर्मों का प्रतिपादन किया जा रहा है, क्योंकि न तो भगवान आत्मा के अनंतधर्मों का प्रतिपादन ही संभव है और न उन्हें जाननेवाले अनन्तनयों को भी वाणी द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

इन ४७ नयों द्वारा भगवान आत्मा के ४७ धर्मों के सम्यक्परिज्ञान से भगवान आत्मा के शेष अनंतधर्मों का भी अनुमान किया जा सकता है और सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप अनंतनयों का भी अनुमान लगाया जा सकता है, सबसे बड़ी बात तो यह है कि सम्यक्श्रुतज्ञान द्वारा अनन्तधर्मात्मक एक धर्मी आत्मा का अनुभव भी किया जा सकता है।

इसी भावना से आचार्य अमृतचन्द्र ने इन ४७ नयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है:–

## (१-२) द्रव्यनय और पर्यायनय

**"तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम्, पर्यायनयेन तन्तुमात्रवद्दर्शनज्ञानादिमात्रम्**[१]

वह अनन्तधर्मात्मक आत्मद्रव्य द्रव्यनय से पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है और पर्यायनय से तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादिमात्र है।"

यद्यपि वस्त्र में अनेक ताने-बाने होते हैं, विविध आकार-प्रकार होते हैं, विविध रंग-रूप भी होते हैं, तथापि सब-कुछ मिलाकर वह वस्त्र वस्त्रमात्र ही है। ताने-बाने आदि भेद-प्रभेदों में न जाकर उसे मात्र वस्त्र के रूप में ही देखना-जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से वह वस्त्रमात्र ही है। ठीक इसीप्रकार चेतनास्वरूप भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शनरूप गुण-पर्यायें भी हैं, तथापि गुणपर्यायरूप भेदों की दृष्टि में न लेकर भगवान आत्मा को एक चैतन्यमात्र जानना द्रव्यनय है; अथवा द्रव्यनय से भगवान आत्मा चिन्मात्र है।

इसीप्रकार यद्यपि वस्त्र वस्त्रमात्र ही है, तथापि उसमें ताने-बाने, आकार-प्रकार एवं रंग-रूप आदि भी तो हैं ही। वस्त्र को वस्त्रमात्र न देखकर उसमें विद्यमान ताने-बाने आदि पर दृष्टि डालकर देखने पर वह ताने-बानेवाला, लाल-पीला एवं छोटा-बड़ा भी तो दिखाई देता है। उसीप्रकार यद्यपि द्रव्यनय से भगवान आत्मा चिन्मात्र ही है, तथापि उसमें जानने-देखनेरूप परिणमन भी तो पाया जाता है। भगवान आत्मा को चिन्मात्र न देखकर, उसमें विद्यमान ज्ञान-दर्शनादिरूप परिणमन को देखकर उसे ज्ञान-दर्शनादिवाला, जानने-देखनेवाला जानना पर्यायनय है; अथवा पर्यायनय से भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शनादि मात्र है।

इसप्रकार यह निश्चित हुआ कि द्रव्यनय से भगवान आत्मा पटमात्र की भाँति चिन्मात्र है और पर्यायनय से तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञानादि मात्र है।

नय जाननेरूप भी होते हैं और कहनेरूप भी। 'ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं' – इस परिभाषा के अनुसार नय ज्ञानरूप अथवा जाननेरूप होते हैं तथा 'वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं' – इस परिभाषा के अनुसार नय कथनरूप होते हैं।

कथनरूप नयों के अनुसार कथन करने पर इसप्रकार भी कह सकते हैं कि द्रव्यनय से भगवान आत्मा पटमात्र की भाँति चिन्मात्र कहा जाता है और

---

[१] प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, परिशिष्ट

पर्यायनय से उसी भगवान आत्मा को तन्तुवाला की भाँति ज्ञान-दर्शन वाला भी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा को पटमात्र की भाँति चिन्मात्र कहना द्रव्यनय है और तन्तुमात्र की भाँति दर्शन-ज्ञान मात्र कहना पर्यायनय है।

भगवान आत्मा अनन्तधर्मों का अखण्ड पिण्ड है। अनन्तधर्मात्मक यह भगवान आत्मा अनन्तनयात्मक श्रुतज्ञानरूप प्रमाण का विषय है। इस अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा में चैतन्यसामान्य है स्वरूप जिसका, ऐसा एक 'द्रव्य' नामक धर्म भी है। इस द्रव्य नामक धर्म को विषय बनाने वाले नय का नाम ही द्रव्यनय है। इसीप्रकार इस भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शनादिरूप परिणमित होना है स्वभाव जिसका, ऐसा एक 'पर्याय' नामक धर्म भी है। इस पर्याय नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम पर्यायनय है।

मूलनयों की चर्चा में जिन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों की चर्चा की गई थी, उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों से ये द्रव्यनय और पर्यायनय भिन्न हैं। वहाँ तो सम्पूर्ण वस्तु को द्रव्य और पर्याय – इन दो अंशों में विभाजित कर बात कही गई थी, वस्तु के द्रव्यांश को ग्रहण करनेवाले नय को द्रव्यार्थिकनय और पर्यायांश को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायार्थिकनय कहा गया था; पर यहाँ तो वस्तु के अनन्तधर्मों में से एक 'द्रव्य' नामक धर्म को ग्रहण करनेवाले नय को द्रव्यनय और 'पर्याय' नामक धर्म को ग्रहण करनेवाले नय को पर्यायनय कहा गया है।

इस संदर्भ में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विचार द्रष्टव्य है:–

"यहाँ जो द्रव्यनय कहा है, उसका विषय तो आत्मा का एक ही धर्म है और समयसारादि में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – इसप्रकार दो ही मुख्य नय लिए हैं, अत: वहाँ जो द्रव्यार्थिकनय है, उसका विषय तो अभेद द्रव्य है। यहाँ कहा गया द्रव्यनय वस्तु में भेद डालकर उसके एक धर्म को लक्ष्य में लेता है और वहाँ कहा गया द्रव्यार्थिकनय भेद डाले बिना वर्तमान पर्याय को गौण कर अभेद द्रव्य को लक्ष्य में लेता है। इसप्रकार द्रव्यार्थिकनय और द्रव्यनय – इन दोनों नयों के विषय में बहुत अन्तर है।

इसीप्रकार समयसार में समागत शुद्धनिश्चय का जो विषय है, वह भी इस द्रव्यनय का विषय नहीं है। उस शुद्धनिश्चयनय का विषय तो वर्तमान अंश और भेद को गौण करके अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड भगवान आत्मा है और यह द्रव्यनय तो अनन्तधर्मों में से एक धर्म को भेद कर उसे विषय बनाता है।

आध्यात्मिक नयों में निश्चय और व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक और

पर्यायार्थिक—इसप्रकार दो ही भाग पड़ते हैं और यहाँ तो अनन्तनय लिये गये हैं। वहाँ तो दो नयों में ही सम्पूर्ण प्रमाण समाहित हो जाता है और यहाँ तो श्रुतप्रमाण के अनन्त नय कहे हैं। यहाँ कहे गये नयों का विषय तो एक-एक धर्म है और समयसारादि में कहे गये द्रव्यार्थिकनय का विषय तो धर्मों का भेद डाले बिना अभेद वस्तु है। यहाँ कहा गया द्रव्यनय आध्यात्मिक कथन में पर्यायार्थिकनय अथवा व्यवहारनय में समाहित हो जाता है।[1]''

द्रव्यनय और पर्यायनय के बाद अस्तित्व-नास्तित्व संबंधी सप्तभंगी के आधार पर सात नय लिये गये हैं, जो इसप्रकार हैं:—

## (३-५) अस्तित्वनय, नास्तित्वनय एवं अस्तित्व-नास्तित्वनय

**''अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत्। नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत्परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत्। अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमया''नयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् क्रमतः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्व नास्तित्ववत्।**[2]

वह आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्ववाला है; नास्तित्वनय से अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान दशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्व वाला है एवं अस्तित्वनास्तित्वनय से लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए और संधान-अवस्था में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति क्रमशः स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वनास्तित्ववाला है।''

यह भगवान आत्मा के धर्मों का विश्लेषण है। समयसार में भगवान आत्मा में उछलती हुई अनन्तशक्तियों का विवेचन किया गया है और प्रवचनसार में आत्मा में सदा विद्यमान अनन्त धर्मों का विवेचन है। न तो

---

[1] नय-प्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २३

[2] प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, परिशिष्ट

अनन्त शक्तियों का ही विश्लेषण संभव है और न अनन्त धर्मों का ही; अतः समयसार में नमूने के रूप में ४७ शक्तियों का वर्णन है और प्रवचनसार में ४७ धर्मों का, नयों का। समयसार श्रद्धाप्रधान ग्रन्थ है; अतः उसमें श्रद्धेय शक्तियों का वर्णन है और प्रवचनसार ज्ञानप्रधान ग्रन्थ है; अतः इसमें ज्ञेयरूप धर्मों एवं उन्हें जाननेवाले नयों का प्रतिपादन है।

इन ४७ नयों के माध्यम से जो आत्मार्थी, भगवान आत्मा के ४७ धर्मों को जानकर तथा समयसार की 'आत्मख्याति' टीका में प्रतिपादित भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों को पहिचान कर अनन्तशक्तियों से सम्पन्न, अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा में अपनत्व स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है; उसी में जम जाता है, रम जाता है, उसी में तल्लीन हो जाता है, वह चार घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियों का नाशकर अनन्तचतुष्टयरूप अरहंत दशा को प्राप्त करता है; अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य एवं अनन्त-अतीन्द्रिय-आनन्दरूप परिणमित हो जाता है। जो अनन्तसुखी होना चाहते हैं, वे अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा की आराधना अवश्य करें।

भगवान आत्मा में विद्यमान अनन्तधर्मों में एक अस्तित्व नामक धर्म भी है, जो भगवान आत्मा के अस्तित्व को टिकाए रखता है। अस्तित्व नामक धर्म के कारण ही भगवान आत्मा सत्तास्वरूप है। यह अस्तित्व नामक धर्म अकेले भगवान आत्मा में ही नहीं, सभी पदार्थों में है। सभी पदार्थों में अपना-अपना अस्तित्वधर्म है और वे सभी पदार्थ अपने-अपने अस्तित्व धर्म से ही टिके हुए हैं। किसी भी पदार्थ को अपने अस्तित्व को टिकाये रखने के लिए किसी अन्य के सहारे की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि यह बात पूर्णतः सत्य है कि सभी पदार्थों में अपना-अपना अस्तित्वधर्म है, तथापि यहाँ आत्मा के अस्तित्व की बात चल रही है। यहाँ डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख, लोहमय बाण का उदाहरण देकर भगवान आत्मा के अस्तित्वधर्म को समझाया गया है।

जिसप्रकार कोई बाण स्वद्रव्य की अपेक्षा से लोहमय है, स्वक्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य स्थित है, स्वकाल की अपेक्षा से संधानदशा में है अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खैंची हुई दशा में है और स्वभाव की अपेक्षा से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है। इसप्रकार जैसे बाण स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्तित्ववाला है, उसीप्रकार भगवान आत्मा अस्तित्वनय से अर्थात् स्वचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला है।

स्वयं के सम्पूर्ण गुण-पर्यायों के पिण्ड को स्वद्रव्य कहते हैं, स्वयं के असंख्य आत्मप्रदेशों को स्वक्षेत्र कहते हैं, स्वयं की वर्तमान समय की अवस्था को स्वकाल कहते हैं एवं प्रत्येक गुण की तत्समय की पर्याय की ओर झुके हुए त्रिकाली शक्तिरूप-गुणरूप भाव को स्वभाव कहते हैं। द्रव्य=द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तु, क्षेत्र=प्रदेश, काल=पर्याय एवं भाव=गुण–धर्म स्वभाव, शक्तियाँ।

जिसप्रकार लोहमयपना तीर का स्वद्रव्य है; उसीप्रकार गुणपर्यायमयपना भगवान आत्मा का स्वद्रव्य है। जिसप्रकार डोरी और धनुष के बीच में रहा हुआ तीर का आकार ही तीर का स्वक्षेत्र है; उसीप्रकार अपने जिन असंख्यात प्रदेशों में भगवान आत्मा रहता है, वे असंख्यात प्रदेश ही उसका स्वक्षेत्र हैं। जिसप्रकार लक्ष्य के सन्मुख संधानीकृत अवस्था ही तीर का स्वकाल है; उसीप्रकार वर्तमान जिस अवस्था में आत्मा विद्यमान है, वह अवस्था ही आत्मा का स्वकाल है। जिसतरह निशान के सन्मुख रहनेरूप जो तीर का भाव है, वही उसका स्वभाव है; उसीप्रकार समय-समय की पर्यायरूप से परिणमित होने की शक्तिरूप जो भाव है, वही भाव भगवान आत्मा का स्वभाव है।

इसप्रकार भगवान आत्मा अपने गुण-पर्यायों के पिण्डरूप स्वद्रव्य से, अपने असंख्यात प्रदेशी स्वक्षेत्र से, वर्तमान वर्तती पर्यायरूप स्वकाल से एवं शक्तिरूप स्वभाव से अस्तित्वधर्म वाला है। अस्तित्वधर्म में स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव – ये चार बातें समाहित हैं। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व इन चार बातों में ही समाहित है।

अपने को आत्मार्थी मुमुक्षु कहनेवाले जो लोग द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव संबंधी इस विस्तार को 'विकल्प' कह कर उपेक्षा करना चाहते हैं, उन्हें आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के निम्नांकित कथन पर ध्यान देना चाहिए :–

**शंका:**– अकेला अस्तित्व ही कहो न? एक अस्तित्व में द्रव्य=द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तु, क्षेत्र=प्रदेश, काल=पर्याय एवं भाव=गुण–धर्म स्वभाव, शक्तियाँ।

**समाधान** :– द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव – ऐसे चार प्रकार वस्तु में ही हैं। जब वस्तु के इन चार प्रकारों को भलीभाँति समझे, तभी वस्तु के अस्तित्व को माना कहा जाता है। भाई ! ये विकल्प नहीं; इन चार प्रकारों से वस्तु को जानना ही यथार्थ ज्ञान है। 'आत्मा है' – ऐसा तो माने, पर उसका क्षेत्र कितना है, उसकी पर्यायें कैसी हैं, उसके धर्म कैसे हैं – यह न जाने तो आत्मवस्तु का अस्तित्व ही यथार्थ रूप से ख्याल में नहीं आता है। 'अस्तित्व' – इस शब्द में

ही द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव – ये चारों समा जाते हैं, अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को जानना चाहिए।[१]"

वस्तु के अस्तित्व की यह एक सहज प्रक्रिया ही है। कौन, कहाँ, कब और क्यों – इन प्रश्नों के उत्तर बिना किसी व्यक्ति का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रत्येक वस्तु के संबंध में इन चार प्रश्नों के उत्तर आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हैं। कौन=द्रव्य, कहाँ=क्षेत्र, कब-काल, क्यों=भाव।

मैं आपसे कहूँ कि वह आपसे मिलना चाहता है, तो आपके मस्तिष्क में उक्त चार प्रश्न एक साथ ही खड़े हो जावेंगे। आप तत्काल ही पूछेंगे कि कौन मिलना चाहता है, कहाँ मिलना चाहता है, कब मिलना चाहता है और क्यों मिलना चाहता है? इन चार प्रश्नों का उत्तर पाये बिना न तो आप कोई उत्तर ही दे सकते हैं और न आपकी जिज्ञासा ही शान्त हो सकती है; क्योंकि मिलनेरूप क्रिया की सम्पन्नता के लिए इन जिज्ञासाओं का समाधान अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है। इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना आप 'हाँ' और 'ना' कुछ भी तो न कह सकेंगे। 'हाँ' और 'ना' कहने के लिए इन चारों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। क्रमशः प्रत्येक प्रश्न के उत्तर के आधार पर आप मिलने न मिलने का निर्णय करेंगे।

कौन मिलना चाहता है–इस प्रश्न के उत्तर में यदि यह कहा जाय कि बाँझ का बेटा आपसे मिलना चाहता है तो आप मुस्करा कर कहेंगे :– क्यों मज़ाक करते हो? बाँझ के बेटे का इस लोक में गुणपर्यायरूप अस्तित्व ही नहीं है तो फिर उससे कैसे मिला जा सकता है?

यदि यह कहा जाय कि आपसे सीमन्धर भगवान मिलना चाहते हैं तो भी आप कहेंगे कि उनकी गुण-पर्यायमय सत्ता तो है, पर इस क्षेत्र में जब वे हैं ही नहीं तो फिर उनसे मिलना कैसे संभव है?

कुन्दकुन्दाचार्य तो गुणपर्यायरूप वस्तु हैं एवं भरतक्षेत्र के ही आचार्य हैं, वे आपसे मिलना चाहते हैं – यदि यह कहा जाय तब भी आप यही कहेंगे कि इस समय वे यहाँ कहाँ हैं?

यदि यह कहा जाय कि आपसे राजीव गाँधी मिलना चाहते हैं तो भी आप यही कहेंगे कि आखिर क्यों? उनको मेरे से क्या अपेक्षा हो सकती है? वर्तमान में मैं उनके क्या काम आ सकता हूँ?

जिसप्रकार मिलनेवाले व्यक्ति, मिलने का स्थान, मिलने का समय और मिलने का प्रयोजन स्पष्ट हुए बिना मिलना संभव नहीं होता, उसीप्रकार

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ६०

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय के स्पष्ट हुए बिना वस्तु का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, वस्तु का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय ही भगवान आत्मा का अस्तित्व है – इसी बात को नयों की भाषा में इस रूप में कहा जाता है कि अस्तित्वनय से भगवान आत्मा अस्तित्ववाला है। स्वचतुष्टय ही भगवान आत्मा का अस्तित्वधर्म है और आत्मा के उस अस्तित्वधर्म को अथवा अस्तित्वधर्म की मुख्यता से अनन्तधर्मात्मक आत्मा को विषय बनानेवाला नय ही अस्तित्वनय है।

अस्तित्वधर्म के समान ही भगवान आत्मा में एक नास्तित्वधर्म भी है। जिसप्रकार स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अस्तित्वधर्म है और उसे विषय बनानेवाला अस्तित्वनय है; उसीप्रकार परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तित्वधर्म है और उसे विषय बनानेवाला नास्तित्वनय है। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म भगवान आत्मा के अस्तित्व को कायम रखता है; उसीप्रकार नास्तित्वधर्म उसे पर से भिन्न एवं पर से सम्पूर्णतः असंपृक्त रखता है। अपने अस्तित्व को टिकाए रखनेवाला अस्तित्वधर्म है और पर के हस्तक्षेप को रोकनेवाला नास्तित्वधर्म है। इसप्रकार ये दोनों ही धर्म भगवान आत्मा को अपने से अभिन्न एवं पर से भिन्न रखते हैं।

जिस बाण के उदाहरण से यहाँ अस्तित्वधर्म को समझाया गया है, उसी बाण के उदाहरण से नास्तित्व को भी समझाया गया है।

जिसप्रकार कोई बाण स्वद्रव्य की अपेक्षा से लोहमय है, स्वक्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य स्थित है, स्वकाल की अपेक्षा से संधानदशा में है और स्वभाव की अपेक्षा लक्ष्योन्मुख है; परन्तु वही बाण परबाण की अपेक्षा से अलोहमय है, परबाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य अस्थित है, परबाण के काल की अपेक्षा से संधानदशा में नहीं रहा हुआ है एवं परबाण के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख भी है।

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वमय होने पर भी परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्वमय है।

इस संदर्भ में आचार्य समन्तभद्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :–

**"सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।**
**असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ।।[1]**

स्वरूपादिचतुष्टय अर्थात् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से वस्तु

---

[1] आप्तमीमांसा, कारिका १५

के अस्तित्व को कौन बुद्धिमान स्वीकार नहीं करेगा? इसीप्रकार पररूपादि-चतुष्टय अर्थात् परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा वस्तु के नास्तित्व को भी कौन बुद्धमान स्वीकार नहीं करेगा? यदि कोई व्यक्ति इसप्रकार अस्तित्व और नास्तित्वधर्मों को स्वीकार नहीं करता है तो उसके मतानुसार वस्तु की व्यवस्था ही सिद्ध नहीं होगी।"

अस्तित्वधर्म को भावधर्म और नास्तित्वधर्म को अभावधर्म भी कहते हैं। भाव (सद्‌भाव) के समान अभाव भी वस्तु का एक धर्म है, पर वह अभावधर्म भी अभावरूप न होकर भावान्तररूप है। तात्पर्य यह है कि नास्तित्वधर्म (अभावधर्म) की सत्ता भी वस्तु में अस्तित्वधर्म (भावधर्म) के समान ही है, नास्तित्वधर्म की भी भगवान आत्मा में अस्ति है। वह अभावधर्म भावान्तर स्वभावरूप है, गधे के सींग के समान अभावरूप नहीं है। अभाव तो उसका नाम है, क्योंकि उसका कार्य अपने आत्मा में परपदार्थों के अप्रवेशरूप है, अभावरूप है।

वह नास्तिधर्म स्वयं अभावरूप नहीं है, उसका स्वरूप अपने में पर के अभावरूप है। इस सन्दर्भ में 'युक्त्यनुशासन' की निम्नांकित कारिका ध्यान देने योग्य है:–

**"भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो, भावांतरं भाववदर्हतस्ते।**

हे अरहंत भगवान! तुम्हारे मत में भाव के समान भावान्तरस्वभावरूप अभाव भी वस्तु का एक धर्म होता है।"

जिनागम में अभाव चार प्रकार के बताये गये हैं, जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं :–प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव।

अभावधर्म की सिद्धि करते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं :–

**"भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् ।**
**सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ।।**
**कार्यद्रव्यमनादि स्याद् प्रागभावस्य निह्नवे ।**
**प्रध्वंसस्य च धर्मस्यप्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ।।**
**सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोह व्यतिक्रमे ।**
**अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ।।**[1]

हे भगवन! पदार्थों का सर्वथा सद्‌भाव ही मानने पर अभावों का अर्थात् अभावधर्म का अभाव मानना होगा। अभावधर्म की सत्ता स्वीकार नहीं करने पर सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जावेंगे, सभी पदार्थ अनादि-अनन्त हो जावेंगे, किसी का कोई पृथक् स्वरूप ही न रहेगा, जो कि आपको स्वीकार नहीं है।

---

[1] आप्तमीमांसा, कारिका ९ से ११

प्रागभाव का अभाव मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनादि हो जावेंगे। इसीप्रकार प्रध्वंसाभाव नहीं मानने पर सभी कार्य (पर्यायें) अनन्त हो जावेंगे।

यदि अन्योन्याभाव को नहीं मानेंगे तो सभी दृश्यमान (पुद्गल) पदार्थ वर्तमान में एकरूप हो जावेंगे और अत्यन्ताभाव के नहीं मानने पर सभी पदार्थों (द्रव्यों) के त्रिकाल एकरूप हो जाने से किसी भी द्रव्य या पर्याय का व्यपदेश (कथन) भी न बन सकेगा।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि भाव (अस्तित्व) के समान अभाव (नास्तित्व) भी वस्तु का एक सद्भावरूप धर्म है। प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्र इकाई के रूप में सत्ता की स्थिति के लिए नास्तित्वधर्म की अत्यन्त आवश्यकता है और प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्र इकाई जानने के लिए तथा वाणी द्वारा उसकी अभिव्यक्ति के लिए, स्थापना के लिए नास्तित्वनय की भी उपयोगिता है।

यद्यपि नास्तित्वधर्म को परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा समझाया जाता है, तथापि वह पर का धर्म नहीं, भगवान आत्मा का ही धर्म है; उसकी सत्ता का आधार भी पर नहीं, निज भगवान आत्मा ही उसकी सत्ता का आधार है। यह नास्तित्वधर्म ही स्व और पर के बीच की अभेद्य दीवार है, इसके कारण ही सभी पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रहती है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप नहीं होती; क्योंकि एक का दूसरे में अभाव है। यह अभावधर्म ही भेदविज्ञान का मूल है, देह और आत्मा की पृथक्ता का भान करानेवाला है; अतः इसका स्वरूप जानना अत्यन्त उपयोगी है।

भाई! जबतक नास्तित्वधर्म का स्वरूप हमारे ख़याल में नहीं आवेगा, तबतक पर से भिन्न निज आत्मा की सच्ची पहचान संभव नहीं है। निजभगवान आत्मा की सच्ची पहचान बिना धर्म का आरंभ भी कैसे होगा? नास्तित्वधर्म का सच्चा स्वरूप समझने के लिए जिनागम में प्रतिपादित चार अभावों को गहराई से समझना चाहिए।

आत्मा के हित के लिए इन अस्तित्व और नास्तित्वधर्मों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इस सन्दर्भ में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विचार द्रष्टव्य हैं:—

''जो व्यक्ति इन अस्ति-नास्ति धर्मों को ढंग से जाने, वही व्यक्ति जगत के सभी पदार्थों की परस्पर भिन्नता को भली-भाँति समझ सकता है। इनके जानने पर ही परपदार्थों में से एकत्वबुद्धि टूटती है, पर से लाभ-हानि मानने की मिथ्या मान्यता छूटती है। इस रहस्य को समझने का सच्चा फल तो यही है

कि समस्त परपदार्थों के आश्रय की रुचि समाप्त होकर एक निज भगवान आत्मा की ही रुचि जागृत हो जावे।[1]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि निज भगवान आत्मा की सच्ची रुचि जागृत करने के लिए इन अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों को समझना अत्यन्त उपयोगी है।

जिसप्रकार वस्तु के अस्तित्वधर्म को भावधर्म एवं नास्तित्वधर्म को अभावधर्म भी कहते हैं, उसीप्रकार अस्तित्वधर्म को विषय बनानेवाले अस्तित्वनय को भावनय एवं नास्तित्वधर्म को विषय बनानेवाले नास्तित्वनय को अभावनय भी कह सकते हैं।

जिसप्रकार भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में एक अस्तित्वधर्म है, एक नास्तित्वधर्म है; उसीप्रकार एक अस्तित्व-नास्तित्वधर्म भी है। जिसप्रकार अस्तित्वधर्म स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह भगवान आत्मा के अस्तित्व को कायम रखता है, टिकाये रखता है; नास्तित्वधर्म परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह भगवान आत्मा को पर से भिन्न रखता है, पर से संपूर्णतः अंसपृक्त रखता है; उसीप्रकार अस्तित्व-नास्तित्वधर्म स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से है और वह परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अस्तित्व-नास्तित्व धर्मों की सत्ता को एक साथ एक ही आत्मा में रखने का महान कार्य सम्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि भले ही वाणी से अस्तित्व और नास्तित्वधर्मों को एक साथ कहा न जा सके, पर भगवान आत्मा में उनके एक साथ रहने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि भगवान आत्मा का एक धर्म ऐसा भी है जिसके कारण ये धर्म एक ही आत्मा में एक साथ अविरोधपने रह सकते हैं। अस्तित्व-नास्तित्व धर्म का अर्थ ही यही है कि आत्मा का ऐसा स्वभाव है कि उसमें अस्तित्व एवं नास्तित्व विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्म एक साथ रहते हैं।

इसी बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं:—

''यहाँ तो आचार्यदेव ने अस्ति, नास्ति आदि सात भंगों का भगवान आत्मा के सात धर्मों के रूप में वर्णन किया है। एक अस्तित्वधर्म, दूसरा नास्तित्वधर्म; इनके अतिरिक्त अस्तित्व-नास्तित्व धर्म नाम का यह तीसरा धर्म है। 'अस्तित्व और नास्तित्व —ये दो धर्म ही वास्तविक धर्म है, सप्तभंगी के शेष पाँच धर्म तो उपचरित धर्म हैं' —यदि ऐसा कोई कहे तो उसकी बात सत्य नहीं है। जिसप्रकार सप्तभंगी के सात भंग हैं, उसीप्रकार उनके वाच्यरूप आत्मा में सात भिन्न-भिन्न धर्म भी हैं। जिसप्रकार वाचकनय में सात प्रकार हैं, उसीप्रकार वाच्य आत्मा में भी सात धर्म हैं।[2]''

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ४८

[2] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ५८

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा में विद्यमान अस्तित्व, नास्तित्व एवं अस्तित्वनास्तित्व नामक धर्मों को जाननेवाले या कहनेवाले अस्तित्वनय, नास्तित्वनय एवं अस्तित्वनास्तित्वनय नामक तीन नय हैं।

## (६) अवक्तव्यनय

**"अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्था संहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम्।** [1]

लोहमय तथा अलाहेमय, डोरी व धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी व धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए तथा संधान-अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अवक्तव्यनय से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है।"

भगवान आत्मा के अनन्त धर्मों में अस्तित्वादि धर्मों के समान एक अवक्तव्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा वचनों द्वारा युगपत् सम्पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस अवक्तव्य धर्म को विषय बनानेवाले सम्यक्श्रुतज्ञान के अंश को अवक्तव्यनय कहते हैं। शास्त्रों में यह बारम्बार आता है कि आत्मा वचन-अगोचर है, अनुभवगम्य है। यह सब कथन भगवान आत्मा के अवक्तव्य धर्म का ही है, अवक्तव्यस्वभाव का ही है। भगवान आत्मा का ऐसा सूक्ष्म स्वभाव है कि वह वाणी की पकड़ में युगपत् सम्पूर्णतः नहीं आता।

यद्यपि यह बात सत्य है कि भगवान आत्मा में अवक्तव्य नामक धर्म होने से उसका स्वभाव अवक्तव्य है, तथापि अवक्तव्यधर्म के समान उसमें एक वक्तव्य नामक धर्म भी है, अतः वह कथंचित् वक्तव्य भी है। इसप्रकार वह न सर्वथा वक्तव्य ही है और न सर्वथा अवक्तव्य ही, वह कथंचित् वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य है, आत्मवस्तु का ऐसा ही अनेकान्तात्मक स्वरूप है।

यदि हम किसी भी वस्तु को सर्वथा 'अवाच्य' ('अवक्तव्य') कहें तो यह कथन स्ववचनबाधित ही होगा, क्योंकि हम स्वयं उसे अवाच्य (अवक्तव्य) शब्द से वाच्य बना रहे हैं। यह वचन तो उसीप्रकार का होगा, जिसप्रकार कोई व्यक्ति दूसरे से कहे कि मेरा आज मौनव्रत है। 'मेरा आज मौनव्रत है'–ऐसा कहकर स्वयं ही उसने अपने मौनव्रत को भंग किया है। इसीप्रकार

---

[1] प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका परिशिष्ट

'आत्मा अवक्तव्य है' – ऐसा कहकर हम स्वयं आत्मा को 'अवक्तव्य' शब्द से वाच्य बना रहे हैं। वस्तुतः बात तो ऐसी है कि किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण पक्षों को, गुण-धर्मों को एक साथ कहना संभव न होने से सभी वस्तुएँ कथंचित् अवाच्य हैं और वस्तु के विभिन्न धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन शक्य होने से सभी वस्तुएँ कथंचित् वाच्य भी हैं।

यद्यपि जिससमय स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से भगवान आत्मा में अस्तित्वधर्म है, उसीसमय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से नास्तित्वधर्म भी है; तथापि जिससमय अस्तित्वधर्म का प्रतिपादन किया जा रहा हो, उसीसमय नास्तित्वधर्म का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है; पर क्रम से उनका प्रतिपादन संभव है। भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों का या परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनन्तधर्मयुगलों का युगपद् प्रतिपादन असंभव होना अवक्तव्य नामक धर्म का कार्य है और क्रमशः प्रतिपादन संभव होना वक्तव्य नामक धर्म का कार्य है।

यद्यपि ४७ नयों में वक्तव्य नामक कोई नय नहीं है और सप्तभंगी में वक्तव्य नामक कोई भंग भी नहीं है, तथापि सभी ४७ नयों से आत्मा को वाच्य तो बनाया ही जा रहा है, यदि भगवान आत्मा कथंचित् भी वाच्य नहीं होता अर्थात् उसमें वाच्य बनने की शक्ति, स्वभाव, धर्म नहीं होता तो वह प्रमाण-नयों से वाच्य भी कैसे बनाया जा सकता था? अतः उसमें वाच्य नामक धर्म भी है ही।

सप्तभंगी के आरम्भ के तीन भंग वक्तव्य और अन्त के चार भंग अवक्तव्य के हैं। जिसप्रकार सप्तभंगी के अंतिम तीन भंगों को हम इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि अस्ति-अवक्तव्य नास्ति-अवक्तव्य और अस्तिनास्ति-अवक्तव्य;. उसीप्रकार आरम्भ के तीन भंगों को इसप्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि अस्तिवक्तव्य, नास्तिवक्तव्य, अस्तिनास्तिवक्तव्य।

यदि भगवान आत्मा सर्वथा ही अवक्तव्य होता तो समस्त जिनवाणी निरर्थक होती, क्योंकि समस्त जिनवाणी एकप्रकार से भगवान आत्मा के प्रतिपादन के लिए ही तो समर्पित है। तथा यदि भगवान वाणी द्वारा पूरी तरह बताया जा सकता होता तो फिर शास्त्रों को पढ़कर या गुरुमुख से आत्मा का स्वरूप सुनकर सभी आत्मज्ञानी हो गये होते।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भगवान आत्मा अवक्तव्यनय से कथंचित् अवक्तव्य भी है।

## (७-८-९) अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय

"अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयो मयगुणकार्मुकान्तयरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखलक्ष्योन्मुख प्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्य क्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम्।

नास्तित्वावक्तव्यनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्था लक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्ति संहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्य क्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चनास्तित्ववदवक्तव्यम्।

अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुण कार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम्।[1]

लोहमय, डोरी और धनुष कं मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला अवक्तव्य है।

अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला अवक्तव्य है।

लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में नहीं रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख एवं लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य नहीं स्थित, संधानदशा में रहे हुए तथा संधानदशा में न रहे हुए, लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण

---

[1] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका', टीका का परिशिष्ट

की भाँति आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-नास्तित्ववाला अवक्तव्य है।''

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा में एक अस्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म है, एक नास्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म है तथा एक अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्य नामक धर्म भी है। उन्हें विषय बनानेवाले सम्यक्श्रुतज्ञान के अंशरूप क्रमशः अस्तित्व-अवक्तव्यनय, नास्तित्व-अवक्तव्यनय एवं अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक अस्तित्वधर्म और एक अवक्तव्यधर्म तो पहले ही कहे जा चुके हैं, फिर यह तीसरा अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म कहने का क्या प्रयोजन है? क्या यह धर्म अस्तित्व और अवक्तव्य दोनों को मिलाकर है? इसीप्रकार का प्रश्न नास्तित्व-अवक्तव्य एवं अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्य धर्म के संबंध में भी संभव है।

उक्त संदर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :-

''अस्तित्व और अवक्तव्य—इन दोनों धर्मों को मिलाकर वह अस्तित्व-अवक्तव्य धर्म कहा हो—ऐसा नहीं है, परन्तु अस्तित्व और अवक्तव्य—इन दोनों धर्मों से भिन्न अस्तित्व-अवक्तव्य नामक एक स्वतन्त्र धर्म है। जिसप्रकार श्रुतज्ञान के अनन्तनयों में अस्तित्वनय आदि सात नय भिन्न-भिन्न हैं, उसीप्रकार उन सात नयों के विषयभूत आत्मवस्तु में सात धर्म भी भिन्न-भिन्न हैं।[1]

ये अस्तित्व, नास्तित्व आदि सात प्रकार के धर्म वस्तु के स्वभाव में ही हैं। अस्तित्व और नास्तित्व—ये दोनों ही धर्म वस्तु में हैं, अन्य पाँच धर्म नहीं हैं—ऐसा नहीं है। यदि वस्तु में सातों धर्म नहीं होते तो उनका कथन भी नहीं होता, क्योंकि वाचक वाच्य को ही तो बताता है।[2]

आत्मा में स्व की अपेक्षा अस्तित्व है, पर की अपेक्षा नास्तित्व है—इन दोनों धर्मों का प्रतिपादन क्रमशः ही हो सकता है, एक साथ नहीं—इस अपेक्षा से आत्मा अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यधर्मवाला है। इस धर्म के नाम में तीन शब्द आये हैं, अतः उनके वाच्यरूप तीन भिन्न-भिन्न धर्म नहीं समझना, किन्तु तीनों के वाच्यरूप एक धर्म है—इसप्रकार समझना।[3]''

सप्तभंगी संबंधी सात नयों के विषयभूत अस्तित्वादि धर्म सभी पदार्थों

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ६८-६९

[2] वही, पृष्ठ ६८

[3] वही (गुजराती) पृष्ठ ७०

के मूलभूत धर्म हैं। भगवान आत्मा भी एक पदार्थ है, परमपदार्थ है; अत: उसमें भी ये पाये ही जाते हैं। पर से भिन्न निज भगवान आत्मा की सम्यक् जानकारी के लिए इन सात धर्मों का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

अस्तित्वधर्म यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से है, अतः किसी भी पदार्थ को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए पर की या पर के सहयोग की रंच भी आवश्यकता नहीं है। भगवान आत्मा का अस्तित्व भी स्वचतुष्टय से ही है, अत: उसे स्वयं की सत्ता के लिए पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है।

नास्तित्वधर्म यह बताता है कि प्रत्येक पदार्थ में परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप परचतुष्टय की नास्ति है, अत: किसी भी परपदार्थ का कोई भी हस्तक्षेप अन्य पदार्थ में संभव नहीं है। यह भगवान आत्मा भी नास्तित्वधर्म से सम्पन्न है, अतः हमें पर के हस्तक्षेप की आशंका से व्याकुल होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। पर का सहयोग भी एकप्रकार का हस्तक्षेप ही है। जब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में पूर्णत: अभाव ही है, अप्रवेश ही है, तो फिर परस्पर सहयोग का प्रशन ही कहाँ उठता है?

अस्तित्वनास्तित्वधर्म के कारण ही परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले उक्त अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्म वस्तु में एकसाथ रहते हैं। भले ही उनका एक साथ कहना संभव न हो, पर वे रहते तो वस्तु में एक साथ ही हैं। कहने में क्रम और रहने में अक्रम (युगपद्)—यही स्वभाव है अस्तित्वनास्तित्वधर्म का।

अस्तित्वनय स्व में स्वचतुष्टय की अस्ति, नास्तित्वनय स्व में परचतुष्टय की नास्ति एवं अस्तित्वनास्तित्वनय कथन में क्रम पड़ने पर भी स्व में अस्ति और नास्ति—इन दोनों धर्मों की युगपत् अस्ति बताता है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा भी धर्म है, जिसके कारण ये परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अस्तित्व-नास्तित्वधर्म उसमें एक साथ रहते हैं। अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्म के एक साथ रहनेरूप स्वभाव का नाम ही अस्ति-नास्ति-धर्म है और इस धर्म को विषय बतानेवाला नय ही अस्तित्वनास्तित्वनय है।

नास्तित्वधर्म में भले पर की अपेक्षा लगती हो, पर वह पररूप नहीं है, वह आत्मवस्तु का स्वरूप ही है। इसीप्रकार उसका नाम भले ही नास्तित्व है, पर उसकी वस्तु में नास्ति नहीं, अस्ति है। तात्पर्य यह है कि अस्तित्वधर्म तो अस्तिरूप है ही, नास्तित्वधर्म भी अस्तिरूप है और अस्तित्वनास्तित्वधर्म भी अस्तिरूप ही है। भगवान आत्मा में रहनेवाले सभी धर्म अस्तिरूप ही हैं, कोई

भी धर्म नास्तिरूप नहीं है।

भगवान आत्मा में अस्तित्व एवं नास्तित्व – इन दोनों धर्मों के एक साथ रहने पर भी उनका कथन एक साथ संभव नहीं है। ऐसा ही स्वभाव है आत्मवस्तु का। आत्मवस्तु के इस स्वभाव का नाम ही अवक्तव्यधर्म है। इस अवक्तव्यधर्म को जाननेवाले ज्ञानांश का नाम ही अवक्तव्यनय है।

'आत्मा है या नहीं?'–इस प्रश्न का उत्तर एक साथ नहीं दिया जा सकता। यह एक शब्द में नहीं बताया जा सकता। न तो 'है' ही कहा जा सकता है और न 'नहीं है' ही कहा जा सकता है। यही कहना होगा कि स्वचतुष्टय की अपेक्षा है और परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं है; पर इन दोनों बातों के कहने में क्रम पड़ता है, अतः क्रम से ही बताया जा सकता है, एक साथ नहीं। एक साथ नहीं बताया जा सकता – बस इसी का नाम अवक्तव्यधर्म है।

**प्रश्नः**–एक साथ नहीं बताया जा सकता – यह तो वाणी की कमजोरी है, इसे आत्मा का धर्म कैसे माना जा सकता है?

**उत्तरः**–भाई ! आत्मा के स्वभाव में ही यह विशेषता है कि वह वाणी द्वारा एक साथ व्यक्त नहीं किया जा सकता। आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही अवक्तव्यस्वभाव या अवक्तव्यधर्म है। यह धर्म बताता है कि अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता यह भगवान आत्मा वचनों से युगपत् नहीं बताया जा सकता है; पर ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है।

**प्रश्नः**–अवक्तव्यनय से कहा नहीं जा सकता, पर अवक्तव्यनय से जाना तो जा सकता है?

**उत्तरः**–भाई ! ऐसी बात नहीं है। अवक्तव्यनय से कहा भी जा सकता है और जाना भी जा सकता है; पर मात्र यही कहा जा सकता है कि भगवान आत्मा अव्यक्तव्य है और मात्र यही जाना जा सकता है कि वह अवक्तव्य है। तात्पर्य यह है कि अवक्तव्यनय से उसके अवक्तव्यधर्म को ही जाना जा सकता है; अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता धर्मी आत्मा को जानने के लिए तो नयातीत होकर ही जानना होगा, क्योंकि वह तो श्रुतप्रमाणपूर्वक अनुभव से प्रमेय होता है – यह बात आरंभ में ही कही जा चुकी है।

अवक्तव्यनय से तो यही जानना चाहिए कि भगवान आत्मा वाग्विलास से परे है, वचनातीत है, अनुभवगम्य है। जब भगवान आत्मा वचनों से नहीं कहा जा सकता है तो फिर पर से सम्पर्क जोड़नेवाली इस वाणी से क्या लाभ है? मौन ही श्रेष्ठ है।

अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म का स्वरूप भी यही है कि आत्मा की अस्ति तो है, पर वह अस्तित्व के अतिरिक्त भी बहुत कुछ और भी है, उसमें

नास्तित्वधर्म भी है, पर वह सब इस समय कहा नहीं जा सकता। इसप्रकार वह अस्तित्वमय और अवक्तव्यरूप एक साथ है। अस्तित्वमय और अवक्तव्यरूप एक साथ होनेरूप भी एक धर्म आत्मा में है, जिसका नाम है अस्तित्व-अवक्तव्यधर्म। इस धर्म को जानने या कहनेवाला नय ही अस्तित्व-अवक्तव्यनय है।

यह धर्म यही बताता है कि 'है, पर अवक्तव्य है; अवक्तव्य है, पर है'। अतः वचन से विराम लेकर इस भगवान आत्मा के अस्तित्व में समा जाना ही श्रेयस्कर है।

नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म आत्मा में पर की नास्ति एवं आत्मा की अनिर्वचनीयता को एक साथ बताता है। आत्मा में पर की नास्ति है – यह तो कहा, पर आत्मा इतना ही तो नहीं और भी अनन्तधर्मों की अस्ति आत्मा में है, अस्तित्वधर्म तो है ही, पर अभी अनन्तधर्मों का कहना संभव नहीं है—यह प्रकृति है नास्तित्व-अवक्तव्यधर्म की, जिसे नास्तित्व-अवक्तव्यनय विषय बनाता है।

अस्तित्वनास्तित्व-अवक्तव्यनय यह बताता है कि अस्तित्व भी है, नास्तित्व भी है, पर एक साथ वे कहे नहीं जा सकते हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा अस्तित्ववाला भी है, नास्तित्ववाला भी है और अवक्तव्य भी है – सब कुछ एकसाथ है।

एक-एक नय से भगवान आत्मा के एक-एक धर्म को ही जाना जा सकता है; आत्मा के स्वरूप का गहराई से परिचय प्राप्त करने के लिए यह जरूरी भी है; पर अनन्तधर्मों के अधिष्ठाता भगवान आत्मा को जानने के लिए तो इन नयों से आत्मा को जानकर, इनसे विराम लेना होगा; अन्यथा विकल्पातीत, नयातीत नहीं हुआ जा सकेगा।

इसप्रकार तीसरे से नौवें नय तक ये सप्तभंगी सम्बन्धी सात नय हैं। इन सप्तभंगी सम्बन्धी सात नयों को विशेष समझने के लिए जिनागम में प्रतिपादित 'सप्तभंगी' सिद्धान्त को गहराई से समझना चाहिए।

सप्तभंगी सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा आगे पृथक् से की जावेगी।

## (१०-१२) विकल्पनय और अविकल्पनय।

**'विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत् सविकल्पम्, अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम्।**'[१]

आत्मद्रव्य विकल्पनय से बालक, कुमार और वृद्ध – ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प है और अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प

---

[१] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

है।''

यहाँ 'विकल्प' का अर्थ भेद है और 'अविकल्प' का अर्थ अभेद है। जिसप्रकार एक ही पुरुष बालक, जवान और वृद्ध – इन अवस्थाओं का धारण करनेवाला होने से बालक, जवान एवं वृद्ध –ऐसे तीन भेदों में विभाजित किया जाता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा भी ज्ञान, दर्शनादि गुणों एवं मनुष्य, तिर्यंच, नरक, देवादि अथवा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि पर्यायों के भेदों में विभाजित किया जाता है।

'तथा जिसप्रकार बालक, जवान एवं वृद्ध अवस्थाओं में विभाजित होने पर भी वह पुरुष खण्डित नहीं हो जाता, रहता तो वह एक मात्र अखण्डित पुरुष ही है। उसीप्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नरकादि अथवा बहिरात्मादि पर्यायों के द्वारा भेद को प्राप्त होने पर भी भगवान आत्मा रहता तो एक अखण्ड आत्मा ही है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक विकल्प नामक धर्म है, जिसके कारण आत्मा गुण-पर्यायों के भेदों में विभाजित होता है, अतः इसे भेद नामक धर्म भी कह सकते हैं। इस विकल्प (भेद) नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय विकल्पनय है। इसीप्रकार भगवान आत्मा में एक अविकल्प नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा अभेद –अखण्ड रहता है, अतः इसे अभेद नामक धर्म भी कह सकते हैं। इस अभेद नामक धर्म को विषय बनानेवाला नय ही अविकल्पनय है। इन विकल्प और अविकल्प नयों को क्रमशः भेदनय और अभेदनय भी कहा जा सकता है।

इन नयों के विशेष स्पष्टीकरण के लिए आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है:–

''यहाँ 'विकल्प' का अर्थ भेद है। जिसप्रकार एक पुरुष में बालक, कुमार और वृद्ध –इसप्रकार का भेद रहता है, उसीप्रकार भेदनय से आत्मा गुण-पर्यायों के भेदवाला है। वस्तु में रहनेवाले अनन्तगुणों में परस्पर कथंचित् भेद है और उन गुणों की क्रम-क्रम से होनेवाली पर्यायों में भी परस्पर भेद है। वस्तु में होनेवाले ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि भेदों को विकल्प कहा जाता है। विकल्प का अर्थ यहाँ 'राग' नहीं समझना, यहाँ तो विकल्प का अर्थ भेद ही है।[१]''

आत्मा के एक द्रव्य होने पर भी, उसके स्वभाव में अनेकप्रकारपना है, उस अनेकप्रकारपने को विकल्पनय जानता है। द्रव्य एक है और उसके गुण अनन्त हैं। उन गुणों में एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता–इसप्रकार का भेद

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ७८

है। द्रव्य एक है और उसके प्रदेश असंख्य हैं। उनमें एक प्रदेश दूसरे प्रदेशपने नहीं है—इसप्रकार का भेद है। द्रव्य एक है और उसमें पर्याय अनन्त हैं। एक-एक गुण की एक-एक पर्याय—इसप्रकार अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें एक समय में ही हैं। इनमें एक गुण की पर्याय दूसरे गुण की पर्यायरूप नहीं होती—इसप्रकार का भेद है। अथवा, एक वस्तु की तीन काल की अनन्त पर्यायें हैं; उनमें एक समय की पर्याय दूसरे समय की पर्याय से भेदवाली है, भिन्न है।

द्रव्य-गुण-पर्याय में भी परस्पर कथंचित् भेद है। जो द्रव्य है, वह गुण नहीं। द्रव्य और गुण—इसप्रकार दोनों के नाम भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य एक और गुण अनन्त—इसप्रकार दोनों की संख्या भिन्न है। इत्यादि प्रकार से इनमें भेद पड़ता है।

इसप्रकार आत्मा भेदवाला है। यही कारण है कि आत्मा विकल्पनय से भेदवाला दिखाई देता है। पर यह ध्यान रखना कि भेदधर्म के साथ आत्मा में एक अभेदधर्म भी है। अभेदता को छोड़कर एकान्तरूप से आत्मा को भेदवाला ही माने तो वह भेदनय नहीं है, वह तो मिथ्या मान्यता है।[१]

इसप्रकार का भेद अशुद्धता नहीं है, कोई दोष नहीं है, यह तो वस्तु का धर्म है। शुद्ध आत्मा में भी इसप्रकार का भेदधर्म है। सिद्धजीवों की आत्मा में से ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि भेद समाप्त नहीं हो जाते। सिद्धों के आत्मा में भी ऐसा भेद रहता है। उस भेद को ही विकल्प कहा जाता है। सिद्धों को रागरूप विकल्प नहीं है, पर इसप्रकार का गुणभेदरूप विकल्प है।

जिसप्रकार बाल, जवान एवं वृद्ध—तीन अवस्थाओं में रहनेवाला पुरुष तो एक ही है। जो बाल-अवस्था में था, वही जवान-अवस्था में भी है—इसप्रकार पुरुषरूप में उसमें कोई भेद नहीं पड़ता है; उसीप्रकार गुण-पर्यायों के भेद होने पर भी द्रव्यरूप से तो आत्मा एक अभेद ही रहता है। अभेदनय से देखने पर आत्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा में इसप्रकार का एक अभेदधर्म है।

वस्तु में यदि भेद न हों तो अनन्तधर्म नहीं हो सकते और अभेद न हो तो वस्तु की एकता खण्डित हो जावेगी अथवा प्रत्येक गुण स्वतंत्र वस्तु हो जायेगा। गुण अनन्त होने पर भी उनको धारण करनेवाला गुणी द्रव्य तो एक ही है। शक्तियाँ अनन्त और शक्तिमान एक—इसप्रकार वस्तु में भेद-अभेद धर्म है। अभेदनय में तो निगोद से लेकर सिद्धदशा तक सर्व अवस्थाओं में एक अभेद आत्मा ही प्रतिभासित होता है। निगोद और सिद्ध—इसप्रकार का पर्यायभेद

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ७९-८०

उसमें प्रतिभासित नहीं होता। जिसप्रकार बाल, युवक और वृद्ध अवस्था में पुरुष तो वही का वही रहता है, उसीप्रकार अशुद्ध अवस्था में आत्मा तो वही का वही रहता है। अवस्था अथवा गुण का भेद डाले बिना एक अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेना अभेदनय अथवा अविकल्पनय है।

वस्तु में भेदधर्म और अभेदधर्म—दोनों एक समय में एक साथ ही हैं, आत्मा सदा इन धर्मों से युक्त है। ऐसी अनन्तधर्मात्मक वस्तु का ज्ञान ही अनेकान्त है। इसके ज्ञान बिना आत्मा का अनुभव नहीं होता है।[1]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा में विद्यमान गुण-पर्याय भेदों को विषय बनानेवाला नय विकल्पनय और एक अभेद अखण्ड आत्मा को विषय बनाने वाला नय अविकल्पनय है। अनन्तधर्मात्मक आत्मा के अनन्तधर्मों में एक भेदधर्म है और एक अभेदधर्म है, जिन्हें विकल्पधर्म और अविकल्पधर्म भी कहते हैं। इन विकल्पधर्म और अविकल्पधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः विकल्पनय और अविकल्पनय हैं।

## (१२-१५) नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय

**"नामनयेन तदात्मवत शब्दब्रह्मामर्शि, स्थापनानयेनमूर्तित्ववत्सकल पुद्गलालम्बि, द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि, भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्व पर्यायोल्लासि।**[2]

आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है, स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्वपुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है, द्रव्यनय से बालकसेठ और श्रमणराजा की भाँति अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है और भावनय से पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित – प्रकाशित – प्रतिभासित होता है।"

उक्त चार नय निक्षेपों सम्बन्धी नय हैं। भगवान आत्मा में नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव नामक चार धर्म हैं, जिन्हें उक्त चार नय क्रमशः अपना विषय बनाते हैं।

'आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है' – इसका अर्थ यह नहीं समझना कि आत्मा शब्दों को बोलता है, भाषावर्गणा की शब्दरूप क्रिया का कर्त्ता है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि 'आत्मा' नामक शब्द द्वारा 'आत्मा' नामक पदार्थ कहा जाता है। 'आत्मा' नामक पदार्थ वाच्य है और

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती) पृष्ठ ८१

[2] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

'आत्मा' नामक शब्द वाचक है। 'आत्मा' नामक शब्द के द्वारा वाच्य होने का स्वभाव आत्मा में ही विद्यमान है। उस स्वभाव का नाम ही नामधर्म है। इस नामधर्म को विषय बनानेवाले नय को नामनय कहते हैं।

जगत में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी किसी न किसी नाम से जाने जाते हैं। बिना नाम का कोई भी पदार्थ जगत में नहीं है। आत्मा भी एक पदार्थ है, अतः वह भी 'आत्मा' - इस नाम से जाना जाता है। यदि आत्मा में नाम नामक धर्म नहीं होता तो फिर उसका प्रतिपादन संभव नहीं था।

नाम नामक धर्म का स्वरूप एवं उपयोगिता स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं:–

"यदि आत्मा में नाम से वाच्य होने का धर्म नहीं होता तो वाणी द्वारा आत्मा का उपदेश देना संभव नहीं था। 'आत्मा देह से भिन्न ज्ञानमूर्ति है, पर का अकर्त्ता है' – इसप्रकार वाणी द्वारा आत्मा का कथन किया जा सकता है और उस वाणी द्वारा आत्मा वाच्य होता है – ऐसा उसका स्वभाव है। यदि वाणी से आत्मा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता होता तो सन्तों द्वारा की गई शास्त्ररचना निरर्थक सिद्ध होती और जैसा स्वयं को आत्मा का अनुभव हुआ है, वैसे ही दूसरों को समझाना संभव नहीं होता। यद्यपि वाणी तो मात्र निमित्त ही है, तथापि आत्मा में एक ऐसा नाम नामक धर्म है, जिसके कारण वह वाणी द्वारा वाच्य होता है।[१]

यद्यपि आत्मा में वाणी का अभाव है, तथापि वाणी से वाच्य होनेरूप धर्म का अभाव नहीं है। यह नाम नामक धर्म तो आत्मा का स्वयं का ही धर्म है। यदि ऐसा नहीं होता तो सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि का उपदेश भी निरर्थक सिद्ध होता। आत्मा वाणी से सर्वथा अगोचर नहीं है। भगवान आत्मा परमब्रह्म है और उसे प्रकाशित करनेवाली वाणी शब्दब्रह्म है।[२]"

जिसप्रकार आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा किसी नाम द्वारा जाना जाता है; उसीप्रकार एक ऐसा भी धर्म है, जिसके कारण आत्मा स्थापना द्वारा भी जाना जा सकता है। आत्मा की स्थापना किसी न किसी पुद्‌गल में की जाती है, अतः यहाँ कहा गया है कि आत्मद्रव्य स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्वपुद्‌गलों का अवलम्बन करनेवाला है।

जिसप्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है, उसीप्रकार किसी भी पुद्‌गलपिण्ड में आत्मा की भी स्थापना की जा सकती है। जिस वस्तु में जिस व्यक्ति की स्थापना की जाती है, उस वस्तु के देखने पर वह व्यक्ति

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ८६

[२] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ८४

ख़याल में आता है — इसप्रकार वह वस्तु स्थापना के द्वारा उस व्यक्ति का ज्ञान करानेवाली हुई।

यह स्थापना तदाकार भी हो सकती है और अतदाकार भी। तदाकार स्थापना में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि जिस व्यक्ति की स्थापना जिन पुद्गलपिण्डों में की जा रही है,वे पुद्गलपिण्ड उसी व्यक्ति के आकार में होने चाहिए। जैसे कि गाँधीजी की स्थापना गाँधी के चित्र में या गाँधीजी की तदाकार प्रतिमा में करना। अतदाकार स्थापना में इसकी आवश्यकता नहीं होती, हम किसी भी आकार की वस्तु में किसी की भी स्थापना कर सकते हैं। जैसे :— बिना हाथी-घोड़े के आकार की शतरंज की गोटों में हाथी-घोड़ों की कल्पना करना।

नाम और स्थापना के समान आत्मा में एक द्रव्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा अपनी भूतकालीन एवं भविष्यकालीन पर्यायोंरूप दिखाई देता है। जिसप्रकार सेठ का बालक भविष्य का सेठ ही है, अतः उसे वर्तमान में भी सेठजी कह दिया जाता है अथवा जो राजा मुनि हो गया है, उसे मुनि-अवस्था में भी राजा कहा जाता है। —ये सब द्रव्यनय के ही कथन हैं। इसप्रकार के कथन लोक में ही नहीं, जिनागम में भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। क्या आगम में यह लिखा नहीं मिलता है कि भरत चक्रवर्ती मोक्ष गये? वस्तुतः बात तो यह है कि कोई भी व्यक्ति चक्रवर्ती पद पर रहते हुए मोक्ष नहीं जा सकता है। भरत ने जब चक्रवर्ती पद त्यागकर मुनिदीक्षा ली, तब वे मोक्ष गये। मोक्ष तो भरत मुनि गये, किन्तु भूतपर्याय का वर्तमानपर्याय में आरोप करके यही कहा जाता है कि भरत चक्रवर्ती मोक्ष गये।

इसीप्रकार आदिनाथ से लेकर महावीर तक सभी तीर्थंकर वर्तमान में तो सिद्धदशा में हैं, तथापि उन्हें हम आज भी तीर्थंकर ही कहते हैं। भगवान का जन्म कहना भी इसी नय का कथन है, क्योंकि जिस जीव का अभी जन्म हुआ है, वह अभी तो बालक ही है, पर भविष्य में भगवान बननेवाला है, अतः उसे अभी भी 'भगवान' कहने का व्यवहार लोक में प्रचलित है।

भगवान आत्मा में द्रव्यधर्म नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण आत्मा भूतकालीन और भविष्यकालीन अर्थात् नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायरूप कहा जाता है। उस द्रव्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम द्रव्यनय है।

सैंतालीस नयों में पहले नय का नाम भी द्रव्यनय है और इस चौदहवें नय का नाम भी द्रव्यनय है। नाम एक से होने पर भी इन दोनों नयों के स्वरूप में अन्तर है। प्रथम द्रव्यनय के साथ पर्यायनय आया है और इस द्रव्यनय के साथ भावनय आया है। वहाँ द्रव्यनय और पर्यायनय — ऐसा जोड़ा है और यहाँ

द्रव्यनय और भावनय—ऐसा जोड़ा है। प्रथम द्रव्यनय का विषय सामान्य चैतन्यमात्र द्रव्य है और इस द्रव्यनय का विषय भूत-भावी पर्यायवाला द्रव्य है।

जिसप्रकार द्रव्यनय से भगवान आत्मा भूत और भविष्यकालीन पर्याय के रूप में जाना जाता है; उसीप्रकार भावनय से वह वर्तमानपर्यायरूप से जाना जाता है। इस बात को आचार्यदेव पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री का उदाहरण देकर समझाते हैं। जिसप्रकार पुरुष के भेष में रहकर पुरुष के समान व्यवहार करनेवाली स्त्री पुरुष-जैसी ही प्रतीत होती है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी वर्तमान में प्रवर्तित होने से वर्तमानपर्यायरूप ही प्रतिभासित होता है। सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा सम्यग्दृष्टी कहा जाता है, सम्यग्दृष्टी के रूप में जाना भी जाता है। सम्यग्दर्शन से युक्त जीव को जीव न कहकर सम्यग्दृष्टी कहना या जानना ही भावनय है।

भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण यह आत्मा वर्तमान पर्यायरूप से जाना जाता है, कहा जाता है। उस धर्म का नाम है भावधर्म और उसे जाननेवाले श्रुतज्ञान के अंश का नाम है भावनय।

आत्मद्रव्य को भूत और भावी पर्यायों से युक्त जानना द्रव्यनय है और वर्तमान पर्याय से युक्त जानना भावनय है। जिसप्रकार पूजन करते हुए मुनीम को पुजारी भी कहा जा सकता है और मुनीम भी, भावनय से वह पुजारी है और द्रव्यनय से मुनीम। वर्तमान में पूजन करनेरूप पर्याय से युक्त होने से उसे पुजारी कहना उपयुक्त ही है, तथापि भूत और भावी पर्यायों की युक्तता से विचार करने पर वह मुनीम ही प्रतीत होता है, क्योंकि पूजन के पहले वह मुनीमी ही करता रहा है और बाद में भी मुनीमी ही करनेवाला है।

जो व्यक्ति उसके सम्पूर्ण जीवन से एकदम अपरिचित है, वह उसे पूजा करते देखकर यही कहेगा कि पुजारीजी ! क्या मैं भी आपके साथ पूजन कर सकता हूँ; किन्तु जो उसे व उसके सम्पूर्ण जीवन को जानता है, वह यही कहेगा कि मुनीमजी ! क्या मैं भी आपके साथ पूजन कर सकता हूँ; इसीप्रकार पूजन करते हुए राजा को प्रयोजनवश पुजारी और राजा दोनों ही कहा जा सकता है। पूजन कराते हुए प्रतिष्ठाचार्य भी यह कहते हुए सुने जाते हैं कि सभी पुजारी हाथ में अर्घ ले लें, साथ में उन्हीं पुजारियों में से किसी से यह भी कहते देखा जा सकता है कि सेठजी ! आपने अर्घ क्यों नहीं लिया?

भूतकालीन एवं भविष्यकालीन तीर्थंकरों की मूर्ति-प्रतिष्ठा स्थापनानय के साथ-साथ द्रव्यनय का विषय भी है; क्योंकि स्थापनानय तो मात्र पौद्गलिकमूर्ति में चेतन परमात्मा की प्रतिष्ठा को विषय बनायेगा, पर यहाँ तो जिन तीर्थंकर आत्माओं की जिस अरहंतपर्याय की स्थापना मूर्ति में की जा

रही है, वे आत्मा वर्तमान में उस पर्यायरूप से परिणमित नहीं हो रहे हैं, उनमें से भूतकालीन तीर्थंकर तो वर्तमान में सिद्धपर्यायरूप से परिणमित हो रहे हैं और भावी तीर्थंकर अभी देवादि किसी पर्याय में होंगे। अतः आत्मा को भूतकालीन और भविष्यकालीन पर्यायों के रूप में देखनेवाले द्रव्यनय के बिना भूतकालीन एवं भविष्यकालीन तीर्थंकरों की प्रतिष्ठा का व्यवहार संभव नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर जिन्हें हम वर्तमान चौबीसी कहते हैं, वे ऋषभादि तीर्थंकर भी भूतकालीन ही हैं, क्योंकि वे वर्तमान में सिद्धदशा में ही हैं। वर्तमानदशारूप परिणमित तो सीमन्धरादि विद्यमान बीस तीर्थंकर ही हैं, क्योंकि वे ही अभी अरहंत-अवस्था में विद्यमान हैं। अतः सीमन्धरादि तीर्थंकर अरहंतों की प्रतिष्ठा स्थापनानय एवं भावनय के आश्रित है और भूत और भावी तीर्थंकर की प्रतिष्ठा स्थापनानय एवं द्रव्यनय के आश्रित है। नामनय का उपयोग तो अनिवार्य है ही, क्योंकि इसके बिना तो यह कहना ही संभव नहीं कि यह प्रतिमा अमुक तीर्थंकर की है।

इसप्रकार मूर्ति-प्रतिष्ठा का समस्त व्यवहार नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भावनयों के आधार पर प्रचलित व्यवहार है। यही कारण है कि निक्षेप की परिभाषा इसप्रकार दी गई है:—नयों के द्वारा प्रचलित लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।

इसप्रकार का लोकव्यवहार मात्र जिनेन्द्र-प्रतिष्ठाओं में ही नहीं, अपितु लोक के अन्य व्यवहारों में अधिकाधिक प्रचलित है। चित्रकला, मूर्तिकला आदि अनेक चीजों का आधार यही नय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि नामधर्म, स्थापनाधर्म, द्रव्यधर्म और भावधर्म — आत्मा के ये चार धर्म ज्ञेय हैं और इनके आधार पर आत्मा को जाननेवाले श्रुतज्ञान के अंशरूप नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय — ये चार नय ज्ञान हैं और इनके आधार पर प्रचलित लोकव्यवहार रूप चार निक्षेप हैं।

## (१६-१७) सामान्यनय और विशेषनय

"**सामान्यनयेन हारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि, विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि।**[1]

आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक है।"

जिसप्रकार हार या माला के प्रत्येक पुष्प में अथवा कंठी के प्रत्येक मोती में डोरा व्याप्त रहता है, उसीप्रकार भगवान आत्मा अपने सम्पूर्ण गुण व

---

[1] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका', टीका का परिशिष्ट

पर्यायों में व्याप्त रहता है। तथा जिसप्रकार उसी कंठी या हार का एक मोती अन्य मोतियों में अथवा सम्पूर्ण कंठी या हार में व्याप्त नहीं रहता, उसीप्रकार भगवान आत्मा की एक पर्याय अन्य पर्यायों में अथवा सम्पूर्ण आत्मद्रव्य में व्याप्त नहीं रहती।

भगवान आत्मा में एक सामान्य नामक धर्म है, जिसके कारण वह भगवान आत्मा अपने प्रत्येक गुण व अपनी प्रत्येक पर्याय में व्याप्त रहता है। आत्मा के इस सामान्यधर्म को जानने या कहनेवाले नय को सामान्यनय कहते हैं। इसीप्रकार भगवान आत्मा में एक विशेष नामक धर्म है, जिसके कारण भगवान आत्मा की एक पर्याय अन्य पर्यायों में अथवा सम्पूर्ण आत्मा में व्याप्त नहीं होती। आत्मा के इस विशेषधर्म को जानने या कहनेवाले नय को विशेषनय कहते हैं।

आत्मद्रव्य में स्वभावगत ही ऐसी विशेषता है कि वह अपने सम्पूर्ण गुणपर्यायों में व्याप्त रहता है, इसकारण उसे व्यापक कहा जाता है तथा एक ऐसी भी विशेषता है कि उसकी एक पर्याय सम्पूर्ण द्रव्य में नहीं व्यापती, अन्य पर्यायों में भी नहीं व्यापती, इसकारण उसे अव्यापक भी कहा जाता है। इसी बात को नयों की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

'आत्मा व्यापक है' – इसका अर्थ लोक में ऐसा भी लिया जाता है कि वह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, पर यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि भगवान आत्मा अपने चिल्लोक में – चैतन्यलोक में व्याप्त है, अपने सम्पूर्ण गुणों और पर्यायों में व्याप्त है, फैला हुआ है, पसरा हुआ है। भगवान आत्मा का परपदार्थों में व्याप्त होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

प्रवचनसार की २३ वीं गाथा में जो आत्मा को सर्वगत कहा गया है, उसका अर्थ तो मात्र इतना है कि वह सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के स्वभाववाला है। उसमें साफ-साफ लिखा है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है और ज्ञेय सम्पूर्ण लोकालोक है, इसलिए आत्मा सर्वगत है। वहाँ तो मात्र सबको जानने की बात है और यहाँ आत्मा अपने सामान्य स्वभाव के कारण अपने गुणों व पर्यायों में पूर्णतः व्याप्त है – यह कहा जा रहा है।

प्रवचनसार की २३ वीं गाथा संबंधी बात सर्वगतनय और असर्वगतनय के प्रकरण में विस्तार से होगी।

सामान्य और विशेष – इन दोनों नयों के माध्यम से तो मात्र इतना कहा जा रहा है कि आत्मा अपनी सम्पूर्ण पर्यायों में तो व्याप्त है, पर उसकी प्रत्येक पर्याय आत्मा में त्रिकाल व्याप्त नहीं है, क्योंकि उसकी एक पर्याय दूसरी पर्याय में व्याप्त नहीं है।

**प्रश्नः**—भावनय और द्रव्यनय के प्रकरण में भी तो कुछ इसीप्रकार कहा था? उनमें और इसमें क्या अन्तर है?

**उत्तरः**—यह भगवान आत्मा भावनय से वर्तमानपर्यायरूप प्रतिभासित होता है, द्रव्यनय से भूत-भावीपर्यायरूप से प्रतिभासित होता है और इस सामान्यनय से भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों काल की पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है।

सामान्यनय से अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा आत्मा सर्वपर्यायों में व्याप्त है, पर विशेषनय से अर्थात् पर्याय-अपेक्षा आत्मा सर्वपर्यायों में व्याप्त नहीं है; इसलिए यह कहा जाता है कि आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

इस सन्दर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का निम्नांकित कथन उल्लेखनीय है :—

"मिथ्यात्वपर्याय टलकर द्रव्य के आश्रय से सम्यक्त्वपर्याय प्रकट हुई। इन मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों ही पर्यायों में आत्मद्रव्य व्यापक है, किन्तु सम्यक्त्वपर्याय में मिथ्यात्वपर्याय व्याप्त नहीं है, व्यापक नहीं है। इस रीति से आत्मा द्रव्यरूप से व्यापक है और पर्यायरूप से अव्यापक है।

यदि पर्याय-अपेक्षा भी आत्मा अपनी सम्पूर्ण पर्यायों में व्यापक हो तो मिथ्यात्वपर्याय भी सभी पर्यायों में व्याप्त हो जावेगी। तात्पर्य यह हुआ कि फिर मिथ्यात्व कभी टल ही न सकेगा। इसलिए पर्याय-अपेक्षा आत्मा व्यापक नहीं है। मिथ्यात्वपर्याय का नाश होकर सम्यक्त्वपर्याय के प्रकट होने पर मानों सम्पूर्ण आत्मा ही पलट जाता है—इसप्रकार पर्याय-अपेक्षा से प्रतिभासित होता है।[१]"

वस्तुतः बात यह है कि द्रव्य और पर्याय में व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध होता है। द्रव्य व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। पर्याय व्याप्य है—इसका अर्थ यह हुआ कि वह व्यापक नहीं है। 'व्यापक नहीं है' को ही 'अव्यापक है'—इसप्रकार कहा जाता है। इसप्रकार यह प्रतिफलित हुआ कि द्रव्य-अपेक्षा आत्मा व्यापक है और पर्याय-अपेक्षा अव्यापक है। इसी को नयों की भाषा में इसप्रकार कहते हैं कि सामान्यनय से आत्मा व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

## (१८-१९) नित्यनय और अनित्यनय

"**नित्यनयेन नटवदवस्थायि, अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि।**[२]

आत्मद्रव्य नित्यनय से नट की भाँति अवस्थायी है और अनित्यनय से

---

[१] नयप्रज्ञापन, पृष्ठ १२१

[२] 'प्रवचनसार', की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है।"

जिसप्रकार राम-रावण आदि नित बदलते भिन्न-भिन्न अनेक स्वाँग रखने पर भी नट राम-रावण नहीं हो जाता, नट ही रहता है। वह स्वाँग चाहे जो भी रखे पर उसका नटपना कायम रहता है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा नर-नारकादि पर्यायों को बदल-बदल कर धारण करता हुआ भी आत्मा ही रहता है। ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही नित्यधर्म है। इस धर्म को जाननेवाले या कहनेवाले नय का नाम नित्यनय है। इसी बात को इसतरह भी कह सकते हैं कि आत्मा नित्यनय से अवस्थायी (नहीं बदलने वाला) है।

जिसप्रकार आत्मा में एक नित्य नामक धर्म है, उसीप्रकार एक अनित्य नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा नित्य स्थायी रहकर भी निरन्तर बदलता भी रहता है। इस अनित्य नामक धर्म को जानने या कहनेवाले नय का नाम अनित्यनय है। इसी बात को इसप्रकार भी कह सकते हैं कि आत्मा अनित्यनय से अनवस्थायी (नित बदलनेवाला) है।

जिसप्रकार नट नित्य एक नटरूप रहकर भी राम-रावणादि के स्वाँगरूप होता रहता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा भी नित्य एक आत्मरूप रहकर भी मनुष्यादि पर्यायों को धारण करता हुआ नित बदलता ही रहता है, अतः अनवस्थायी है, अनित्य है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा नित्यनय से प्रतिसमय अवस्थायी (नित्य) है और अनित्यनय से प्रतिसमय अनवस्थायी (अनित्य) है। इसप्रकार भगवान आत्मा नित्य (अवस्थायी) भी है और अनित्य (अनवस्थायी) भी है।

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले नित्य और अनित्य धर्म आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं, इसकारण यह भगवान नित्य बदलकर भी कभी नहीं बदलता है और नहीं बदलकर भी नित्य बदलता रहता है।

सीधी-सी बात यह है कि जिसप्रकार राम-रावण के स्वाँग नट के नटपने के विरोधी नहीं, निषेधक नहीं हैं तथा नट का नटपना राम-रावण स्वाँगों का विरोधी नहीं है; क्योंकि वे एकसाथ रह सकते हैं। जैसे :--नट, राम और नट तो एकसाथ रह सकता है, पर वह राम और रावणरूप एकसाथ नहीं रह सकता है। जब वह राम का वेष धारण करेगा, तब रावण का वेष नहीं धर सकता है और जब रावण का वेष धारण करेगा, तब राम का नहीं धर सकता है। अतः स्वाँग तो परस्पर विरोधी हैं, पर नट और स्वाँग परस्पर विरोधी नहीं हैं। भले ही विरोधी दिखते हों, पर विरोधी हैं नहीं; क्योंकि एक ही काल में यदि हम उसे स्वाँग की अपेक्षा देखेंगे तो राम दिखेगा और स्वाँगधर्त्ता की

अपेक्षा देखेंगे तो नट दिखेगा।

रमेश नामक नट राम का पाठ कर रहा हो, उस समय कोई प्रश्न करे:– 'यह कौन है?' तो इसके एक साथ दो उत्तर दिये जा सकते हैं; कोई कहे राम और कोई कहे रमेश। दोनों में से एक भी उत्तर ग़लत नहीं है, क्योंकि वह राम और रमेश एकसाथ है।

ठीक इसीप्रकार आत्मा में रहनेवाले नित्य और अनित्य धर्म भले ही विरोधी प्रतीत होते हों, पर वे परस्पर विरोधी नहीं हैं; क्योंकि वे दोनों एकसाथ एक आत्मा में रहते हैं। यह भगवान आत्मा द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है, अतः द्रव्यदृष्टि से नित्य है और पर्यायदृष्टि से अनित्य है। ऐसा नित्य-अनित्य होनेरूप इसका स्वभाव ही है। स्थायीरूप रहने के स्वभाव को नित्यधर्म कहते हैं और बदलते रहनेरूप स्वभाव को अनित्यधर्म कहते हैं। इन नित्य-अनित्य धर्मों को जाननेवाले ज्ञान को या कहनेवाले वचनों को क्रमशः नित्यनय और अनित्यनय कहा जाता है।

इस सन्दर्भ में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के विचार द्रष्टव्य हैं:–

"आत्मा में नित्य-अनित्य दोनों धर्म एकसाथ ही रहते हैं—इसप्रकार सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृतिपूर्वक वस्तु को किसी अपेक्षा नित्य और किसी अपेक्षा अनित्य कहा जाये, तो उसका नित्य अंश तथा अनित्य अंश दोनों सही हैं। वेदान्त मत में सर्वथा नित्य अंश ही माना गया है, वे अनित्य अंश को स्वीकार ही नहीं करते, इसलिए उनका नित्य अंश को मानना भी यथार्थ नहीं है और बौद्धमत में सर्वथा अनित्य अंश ही माना गया है, वे नित्य अंश को स्वीकार ही नहीं करते, इसलिए उनका अनित्य अंश को मानना भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि जो अंशी को ही यथार्थ नहीं जानता, वह अंश को यथार्थ कैसे जानेगा?

सम्पूर्ण वस्तुस्वरूप को यथार्थ जाने बिना उसके एक धर्म का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। जिससमय एक धर्म की अपेक्षा वस्तु का कथन किया जा रहा है, उसीसमय वस्तु में दूसरे अनन्तधर्म भी विद्यमान रहते हैं। अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु की स्वीकृति बिना एक धर्म की स्वीकृति भी सच्ची नहीं होती, इसलिए सभी धर्मों को यथार्थ जानकर वस्तुस्वरूप नक्की करना चाहिए।[१]"

## (२०-२१) सर्वगतनय और असर्वगतनय।

**"सर्वगतनयेन विस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति, असर्वगतनयेन मीलिताक्ष-**

---

[१] वीतराग-विज्ञान, (हिन्दी मासिक), अगस्त, १९८७, पृष्ठ १७

**चक्षुर्वदात्मवर्ति।**[१]

आत्मद्रव्य सर्वगतनय से खुली हुई आँख की भाँति सर्ववर्ती (सब में व्याप्त होनेवाला) है और असर्वगतनय से मींची हुई (बंद) आँख की भाँति (आत्मवर्ती )अपने में रहनेवाला है।''

जिसप्रकार सबमें घूमने-फिरनेवाली होने से खुली आँख को सर्वगत कहा जाता है, उसीप्रकार सबको देखने-जानने के स्वभाववाला होने से भगवान आत्मा को सर्वगत कहा जाता है।

जिसप्रकार बन्द आँख अपने में ही रहती है, उसीप्रकार सबको देखने-जानने के स्वभाववाला होने पर भी, सबको देखते-जानते हुए भी, भगवान आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाता, अपने में ही रहता है; अतः असर्वगत है, आत्मगत है।

इसप्रकार सर्वगतनय से आत्मा सर्वगत है और असर्वगतनय से आत्मगत है, असर्वगत है।

इन सर्वगत और असर्वगत नयों के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर भी, अपने असंख्य प्रदेशों के बाहर नहीं जाकर भी लोकालोक को जानता है, देखता है, जान सकता है, देख सकता है। आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव का नाम ही सर्वगतधर्म है।

भले ही यह भगवान आत्मा सबको जाने, पर इसे पर को जानने के लिए अपने आत्मप्रदेशों को छोड़कर पर में जाने की आवश्यकता नहीं है, अपने आत्मप्रदेशों में रहकर ही यह पर को जानने की सामर्थ्यवाला है। चूँकि यह कभी भी अपने आत्मप्रदेशों के बाहर नहीं जाता है, अतः यह आत्मगत ही है। इस आत्मगतपने को ही असर्वगत भी कहते हैं।

इसप्रकार भगवान आत्मा में एक सर्वगत नामक धर्म है और एक असर्वगत नामक धर्म है। आत्मा के सर्वगतधर्म को अथवा सर्वगतधर्म की ओर से आत्मा को देखनेवाले नय को सर्वगतनय और असर्वगतधर्म को या असर्वगतधर्म की ओर से आत्मा को देखनेवाले नय को असर्वगतनय कहते हैं।

इसी बात को इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि आत्मा सर्वगतनय से सर्ववर्ती है, सबमें व्याप्त रहनेवाला है और असर्वगतनय से आत्मवर्ती है, अपने में ही रहनेवाला है, अपने में ही व्याप्त है, सबमें नहीं।

**प्रश्नः**–जिसप्रकार खुली आँख देखती है और बन्द आँख नहीं देखती; उसीप्रकार सर्वगतनय से आत्मा सबको देखता-जानता है और असर्वगतनय

---

[१] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

से सबको देखता-जानता नहीं है—ऐसा सीधा-सा अर्थ क्यों नहीं लेते?

**उत्तर**:—इन दोनों नयों के माध्यम से आचार्यदेव पर को जानने और नहीं जानने की बात नहीं बताना चाहते हैं, अपितु आत्मा के स्वभाव की इस विशेषता को स्पष्ट करना चाहते हैं कि वह अपने आत्मप्रदेशों में स्थित रहकर भी लोकालोक के सम्पूर्ण पदार्थों को जान सकता है, देख सकता है। सम्पूर्ण लोक को देखने-जानने के लिए उसे सम्पूर्ण लोक में जाने की आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा अपने में ही सीमित रहकर भी सम्पूर्ण लोक को देख-जान सकता है और सम्पूर्ण लोक को देख-जानकर भी आत्मप्रदेशों से बाहर नहीं जाता। भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। आत्मा के इस स्वभाव का प्रतिपादन ही दोनों नयों का मूल प्रयोजन है।

अतः यहाँ उदाहरण में जो खुली आँख और बन्द आँख की बात कही है, उसका अर्थ आचार्यदेव को मात्र इतना ही अभीष्ट है कि खुली आँख चारों ओर घूमती है और बन्द आँख अपने में ही रहती है। आँख जानती है और नहीं जानती है—यह बात यहाँ है ही नहीं।

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं:—

''यहाँ आँख को असर्वगतनय से आत्मवर्ती कहा—इसका अर्थ अल्पज्ञता नहीं समझना चाहिए। बन्द आँख का दृष्टान्त अल्पज्ञता बताने के लिए नहीं दिया है, परन्तु आत्मवर्तीपना बताने के लिए दिया है। आत्मा स्वयं की सामर्थ्य से सर्व को जानते हुए भी अपने में ही लीन रहता है, सबमें व्याप्त नहीं होता; इसलिए वह सर्ववर्ती नहीं है, आत्मवर्ती ही है। सर्वज्ञेयों को जान लेने की अपेक्षा आत्मा को सर्ववर्ती कहा है, पर आत्मा परज्ञेयों में नहीं वर्तता, बल्कि स्वयं में ही वर्तता है—इस अपेक्षा आत्मवर्ती कहा है।

सर्ववर्ती कहकर आत्मा की ज्ञानसामर्थ्य बताई है और आत्मवर्ती कहकर पर से भिन्नता बताई है।[1]''

## (२२-२३) शून्यनय और अशून्यनय

**''शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि, अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि।** [2]

आत्मद्रव्य शून्यनय से शून्य (खाली) घर की भाँति एकाकी (अकेला—अमिलित) भासित होता है और अशून्यनय से लोगों से भरे हुए

---

[1] वीतराग-विज्ञान (हिन्दी मासिक), दिसम्बर, १९८७, पृष्ठ १६

[2] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

जहाज की भाँति मिलित भासित होता है।"

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञानस्वभाव में अनन्त ज्ञेय (पदार्थ) प्रतिबिम्बित होते हैं, तथापि कोई भी ज्ञेय (पदार्थ) भगवान आत्मा में मिल नहीं जाता। तात्पर्य यह है कि अनन्त पदार्थों को जानकर भी यह भगवान आत्मा सूने घर की भाँति उनसे खाली ही रहता है। इस भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है कि अनन्त पदार्थों को जानकर भी वह उनसे अमिलित रहता है, अलिप्त रहता है, शून्य रहता है।

भगवान आत्मा के इस अलिप्तस्वभाव को, अमिलितस्वभाव को, शून्यस्वभाव को ही शून्यधर्म कहते हैं और इस शून्यधर्म को विषय बनानेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को शून्यनय कहते हैं।

यद्यपि यह सत्य है कि कोई भी पदार्थ भगवान आत्मा में मिलता नहीं है, तथापि यह भगवान आत्मा उन्हें जानता अवश्य है। यदि इस जानने को ही मिलना कहें तो यह भी कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति अनन्त ज्ञेयों (पदार्थों) से भरा हुआ है, मिलित है, अशून्य है।

भगवान आत्मा के इस अशून्यस्वभाव को ही अशून्यधर्म कहते हैं और इस अशून्यधर्म को विषय बनानेवाले सम्यग्ज्ञान के अंश को अशून्यनय कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक शून्य नामक धर्म है और एक अशून्य नामक धर्म है तथा इनके कारण भगवान आत्मा शून्य भी है और अशून्य भी है।

शून्य नामक धर्म यह बताता है कि भगवान आत्मा अनन्त ज्ञेयों (पदार्थों) को जानकर भी उनसे शून्य (खाली – अमिलित) ही रहता है और अशून्य नामक धर्म यह बताता है कि ज्ञेयों (परपदार्थों) का आत्मा में अप्रवेश रहकर भी यह भगवान आत्मा ज्ञेयों के ज्ञान से शून्य नहीं रहता, अशून्य (भरा हुआ – मिलित) रहता है।

आत्मा के परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले इन धर्मों का ज्ञान कराना ही इन दोनों नयों का उद्देश्य है।

आत्मा के शून्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले ज्ञान को व कहनेवाले वचन को शून्यनय कहते हैं और अशून्य नामक धर्म को विषय बनानेवाले ज्ञान को व कहनेवाले वचन को अशून्यनय कहते हैं।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मद्रव्य शून्यनय से सूने घर की भाँति ज्ञेयों से शून्य है और अशून्यनय से मनुष्यों से भरे हुए जहाज की भाँति ज्ञेयों से अशून्य है।

## (२४-२५) ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय

"**ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम्, ज्ञानज्ञेय-द्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसम्पृक्तदर्पणवदनेकम्।** [1]

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से पर के प्रतिबम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति अनेक है।"

सर्वगत और असर्वगतनय से ज्ञान-ज्ञेय प्रकरण ही चल रहा है। वस्तुत: बात यह है कि भगवान आत्मा का परपदार्थों के साथ ज्ञान-ज्ञेय संबंध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध तो है ही नहीं, इस ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध की भी क्या स्थिति है — इस बात को ही इन नयों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है।

सर्वगत और असर्वगत नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया था कि यह भगवान आत्मा अपने प्रदेशों में सीमित रहकर भी सम्पूर्ण लोकालोक को जान सकता है; जानता है। सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के कारण ही इसे सर्वगत कहा जाता है तथा अपने प्रदेशों के बाहर न जाने के कारण आत्मगत अथवा असर्वगत कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि अपने प्रदेशों के बाहर नहीं जाकर भी जब यह भगवान आत्मा लोकालोक के सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानता है तो फिर सम्पूर्ण लोकालोकरूप ज्ञेय ज्ञान में आते होंगे? तो क्या यह भगवान आत्मा लोकालोकरूप सम्पूर्ण ज्ञेयों से भरा हुआ है?

इसके उत्तर में शून्य और अशून्य नयों के माध्यम से यह बताया गया है कि किसी भी ज्ञेय पदार्थ ने ज्ञान में प्रवेश नहीं किया, अत: ज्ञान ज्ञेयों से शून्य ही है, खाली ही है; तथापि वे ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात अवश्य हुए हैं, यदि ज्ञात होने को ही आना कहें तो ज्ञान ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है।

ज्ञेयों से शून्य कहने से कोई यह न मान ले कि वह ज्ञेयों को जानता ही नहीं; अत: यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है। इसीप्रकार अशून्य अर्थात् भरा हुआ कहने से कोई यह न जान ले कि ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट हो गये हैं, ज्ञान और ज्ञेय एकमेक हो गये हैं; इसलिए यह कहा गया कि आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है।

सर्वगत, असर्वगत, शून्य एवं अशून्य नयों के माध्यम से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है; पर उनमें जाता नहीं, उनमें प्रवेश नहीं करता। इसीप्रकार ज्ञेय ज्ञान द्वारा जाने तो जाते हैं, पर

---

[1] प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

वे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते। ज्ञान ज्ञान में रहता है और ज्ञेय ज्ञेय में रहते हैं; दोनों के अपने में सीमित रहने पर भी ज्ञान द्वारा ज्ञेय जाने जाते हैं। इसी वस्तुस्थिति को ये नय इसप्रकार व्यक्त करते हैं :– सब ज्ञेयों को जानने के कारण आत्मा सर्वगत है और ज्ञेयों में न जाने के कारण असर्वगत है तथा ज्ञान में ज्ञेयों के अप्रवेश के कारण आत्मा ज्ञेयों से शून्य है, खाली है और ज्ञेयों को जानने के कारण ज्ञेयों से अशून्य है, भरा हुआ है।

इतना जान लेने पर भी यह जिज्ञासा शेष रह जाती है कि ज्ञान में ज्ञात होते हुए ज्ञेय ज्ञान से भिन्न हैं या अभिन्न हैं; वे ज्ञेय ज्ञान से अद्वैत हैं, एकमेक हैं या द्वैत हैं, अनेक हैं?

इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए यहाँ कहा जा रहा है कि ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से अभिन्न हैं, अद्वैत हैं, एक हैं और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से ज्ञान में झलकते हुए ज्ञेयपदार्थ ज्ञान से भिन्न हैं, द्वैत हैं, अनेक हैं।

जिसप्रकार अनेक प्रकार के ईंधन को जलाती हुई अग्नि उस ईंधन से अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही है; उसीप्रकार अनेक प्रकार के ज्ञेयों को जानता हुआ आत्मा उनसे अभिन्न ही है, एक ही है, अद्वैत ही है – यही कहना है ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय का। यहाँ अभिन्न, एक एवं अद्वैत एकार्थवाची ही हैं।

वस्तुत: यहाँ यह कहना चाहते हैं कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन अग्नि ही तो है, अग्नि के अतिरिक्त और क्या है? उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय ज्ञान ही तो हैं, ज्ञान के अतिरिक्त और क्या हैं? तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जलता हुआ ईंधन और अग्नि एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं; उसीप्रकार जानने में आते हुए ज्ञेय और ज्ञान एक ही हैं, अभिन्न ही हैं, अद्वैत ही हैं।

ज्ञानज्ञेयद्वैतनय का कहना यह है कि जिसप्रकार पदार्थों के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण उन प्रतिबिम्बित पदार्थों से भिन्न ही है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न ही है।

जिसप्रकार प्रतिबिम्बित पदार्थों से दर्पण की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है; उसीप्रकार ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भगवान आत्मा की यह भिन्नता ही द्वैतता है, अनेकता है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान में झलकते ज्ञेयों से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, एक भी है और अनेक भी है, अद्वैत भी है और द्वैत भी है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक ज्ञानज्ञेय-अद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों से अभिन्न (अद्वैत) भासित होता है तथा एक

ज्ञानज्ञेयद्वैतधर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अपने ज्ञान में झलकनेवाले ज्ञेयों से भिन्न (द्वैत) भासित होता है।

इन ज्ञानज्ञेय-अद्वैत एवं ज्ञानज्ञेयद्वैत धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय और ज्ञानज्ञेयद्वैतनय हैं।

इसप्रकार सर्वगत, असर्वगत, शून्य, अशून्य, ज्ञानज्ञेय-अद्वैत तथा ज्ञानज्ञेयद्वैतनयों के माध्यम से आत्मा का परपदार्थों के साथ जो ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध है, उसका स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है, पर न तो ज्ञान ज्ञेयों में जाता है और न ज्ञेय ज्ञान में ही आते हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में सीमित रहने पर भी ज्ञान जानता है और ज्ञेय जानने में आते हैं। ज्ञाता भगवान आत्मा और ज्ञेय लोकालोकरूप सर्व पदार्थों का यही स्वभाव है।

ज्ञाता भगवान आत्मा के उक्त स्वभाव का प्रतिपादन करना ही उक्त छह नयों का प्रयोजन है।

ज्ञेयों को सहजभाव से जानना भगवान आत्मा का सहज स्वभाव है। अतः न तो हमें परपदार्थों को जानने की आकुलता ही करना चाहिए और न नहीं जानने का हठ ही करना चाहिए; पर्यायगत योग्यतानुसार जो ज्ञेय ज्ञान में सहजभाव से ज्ञात हो जावें, उन्हें वीतराग भाव से जान लेना ही उचित है; अन्य कुछ विकल्प करना उचित नहीं है; आकुलता का कारण है।

आत्मा के इस सहजज्ञानस्वभाव को ही ये छह नय अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

## (२६-२७) नियतिनय और अनियतिनय

"**नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि, अनियति नयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि।** [1]

आत्मद्रव्य नियतिनय से, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति नियतस्वभावरूप भासित होता है और अनियतिनय से, जिसकी उष्णता नियति (नियम) मे नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति अनियतस्वभावरूप भासित होता है।"

जिसप्रकार उष्णता अग्नि का नियतस्वभाव है, उसीप्रकार भगवान आत्मा का चैतन्यभाव – ज्ञानानन्दस्वभाव नियतस्वभाव है; और जिसप्रकार उष्णता पानी का अनियतस्वभाव है, उसीप्रकार राग-द्वेष-मोहरूप अथवा मतिज्ञानादिरूप परिणत होना आत्मा का अनियतस्वभाव है।

---

[1] प्रवचनसार की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

त्रिकाल एकरूप रहनेवाले स्वभाव को नियतस्वभाव कहते हैं और परिवर्तनशील स्वभाव को अनियतस्वभाव कहा जाता है।

उष्णता अग्नि का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, अतः वह उसका नियतस्वभाव है। इसीप्रकार चैतन्यभाव—ज्ञानानन्दस्वभाव—जानना-देखना भगवान आत्मा का त्रिकाल एकरूप रहनेवाला स्वभाव है, इसलिए वह भगवान आत्मा का नियतस्वभाव है।

नियत अर्थात् निश्चित, कभी न बदलनेवाला, सदा एकरूप रहनेवाला और अनियत अर्थात् अनिश्चित, निरन्तर परिवर्तनशील।

पानी का नियतस्वभाव तो शीतलता ही है, पर वह अग्नि के संयोग में आने पर गर्म भी हो जाता है। यह गर्म होना यद्यपि उसका नियतस्वभाव नहीं है, तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो—ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उसके स्वभाव में यदि गर्म होना होता ही नहीं तो वह अग्नि के संयोग में भी गर्म नहीं होता। अग्नि के संयोग में गर्म होना भी उसके स्वभाव का अंग है। उसके इस स्वभाव का नाम ही अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।

अग्नि का गर्म होना उसका द्रव्यगत स्वभाव है, अतः नियतस्वभाव है और पानी का गर्म होना उसका पर्यायगत स्वभाव है, अतः अनियतस्वभाव है।

इसीप्रकार भगवान आत्मा का नियतस्वभाव तो चैतन्यभाव ही है, जानना-देखना ही है; पर वह कर्मादिक के योग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप या मनुष्यादिरूप भी परिणत हो जाता है। रागादिरूप परिणमित होना भगवान आत्मा का नियतस्वभाव नहीं है; तथापि उसका वह स्वभाव ही न हो—ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि उसके स्वभाव में यदि राग-द्वेष-मोहरूप परिणमित होना होता ही नहीं तो कर्मादिक के योग में भी वह रागादिरूप परिणमित नहीं होता। अतः कर्मादिक के योग-वियोग में रागादिरूप या मतिज्ञानादिरूप परिणमित होना भी उसके स्वभाव का ही अंग है। भगवान आत्मा के इस स्वभाव का नाम अनियतस्वभाव है, परिवर्तनशील स्वभाव है, पर्यायस्वभाव है।

भगवान आत्मा का चैतन्यभावमय होना, ज्ञानानंदस्वभावरूप होना द्रव्यगत स्वभाव है; अतः नियतस्वभाव है और राग-द्वेष-मोहरूप होना, मतिज्ञानादिरूप होना पर्यायगत स्वभाव है; अतः अनियतस्वभाव है।

एकमात्र परमपारिणामिक भाव आत्मा का नियतस्वभाव है, शेष सभी भाव—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोमशमिक एवं औदयिक भाव—आत्मा के अनियतस्वभाव हैं; क्योंकि परमपारिणामिक भाव को छोड़कर शेष कोई भी

भाव त्रिकाल एकरूप नहीं रहते।

भगवान आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष व मनुष्यादि औदयिकभाव, मतिज्ञानादि क्षयोपशमभाव, केवलज्ञानादि क्षायिकभाव सदा नहीं रहते; सदा एक-से नहीं रहते; कभी राग होता है, कभी द्वेष होता है; कभी राग मंद होता है, कभी तीव्र होता है; कभी आत्मा मनुष्यपर्यायरूप होता है, कभी देवपर्यायरूप होता है; कभी मतिज्ञानी होता है, कभी केवलज्ञानी होता है—यह सब भगवान आत्मा के अनियतस्वभाव के कारण ही होता है।

नियतस्वभाव के कारण भगवान आत्मा सदा एकरूप रहता है, एक रहता है और अनियतस्वभाव के कारण सदा बदलता रहता है, परिवर्तनशील रहता है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा का त्रिकालीस्वभाव नियतस्वभाव है और क्षणिकस्वभाव अनियतस्वभाव है। कभी न बदलनेवाला स्वभाव नियतस्वभाव है और प्रतिसमय बदलनेवाला स्वभाव अनियतस्वभाव है।

सभी पदार्थों के समान भगवान आत्मा भी प्रतिसमय बदलकर कभी नहीं बदलता है और कभी नहीं बदलकर भी प्रतिसमय बदलता रहता है। भगवान आत्मा की इन दोनों विशेषताओं को स्पष्ट करना ही नियतिनय और अनियतिनय का मूल प्रयोजन है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक नियति नामक धर्म भी है और एक अनियति नामक धर्म भी है। नियति नामक धर्म के कारण भगवान आत्मा सदा चैतन्यरूप रहता है, जड़रूप नहीं होता और अनियति नामक धर्म के कारण जड़रूप नहीं होकर भी चिद्विवर्तों में निरन्तर बदलता रहता है।

भगवान आत्मा के इन नियतिधर्म और अनियतिधर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः नियतिनय और अनियतिनय हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब द्रव्यस्वभाव नियत है और पर्यायस्वभाव अनियत है, तो पर्यायों का क्रम भी अनियत ही होगा; नियमित नहीं, अनियमित होगा; क्रमबद्ध नहीं, अक्रमबद्ध होगा?

पर भाई! यहाँ यह चर्चा पर्यायों के क्रमनियमित या अक्रमनियमित के सम्बन्ध में नहीं है। यहाँ तो मात्र यह स्पष्ट किया जा रहा है कि द्रव्यगत स्वभाव सदा एकसा होता है और पर्यायगत स्वभाव नित्य परिवर्तनशील होता है।

इस सन्दर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :—

"पर्याय जिस समय जो होनी है, वही होती है—इसप्रकार का पर्याय संबंधी जो नियमितपना है, उसकी बात इस नियतिनय में नहीं है; यहाँ तो द्रव्य के नियतस्वभाव की बात है, क्योंकि नियतिनय के समक्ष एक

अनियतिनय की बात भी आगे आनेवाली है।

पर्यायों में क्रमबद्धता की जो बात है, उसमें नियत और अनियत–ऐसे दो भेद नहीं हैं। वहाँ तो नियत का एक ही प्रकार है कि सभी पर्यायें नियत ही हैं, कोई भी पर्याय अनियत नहीं है; परन्तु यहाँ तो भगवान आत्मा में नियतस्वभाव और अनियतस्वभाव–ऐसे दो धर्म बताये जा रहे हैं।

यहाँ तो द्रव्य के एकरूप स्वभाव को नियत और यद्यपि पर्यायों का क्रम नियत है, तथापि पर्यायस्वभाव त्रिकाल एक जैसा रहनेवाला नहीं है, इस कारण उसे अनियतस्वभाव कहा जा रहा है। जब पर्यायों के नियतपने–क्रमबद्धपने की बात कहना होगी, तब तो यह कहा जाएगा कि विकार भी नियत है, ज्ञान भी नियत है, ज्ञेय भी नियत हैं, संयोग और निमित्त भी नियत हैं। जिस समय जो होना है, वही होगा, अन्य नहीं–यह कहा जायगा।[1]''

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि इन नियतिनय और अनियतिनयों का पर्यायों की क्रमबद्धता और अक्रमबद्धता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

## (२८-२९) स्वभावनय और अस्वभावनय

''स्वभावनयेनाशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्यकारि। अस्वभाव नयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि।[2]

आत्मद्रव्य, स्वभावनय से, जिसकी किसी के द्वारा नोक नहीं निकाली जाती, ऐसे पैने काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से, जिसकी नोक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पैने बाण की भाँति, संस्कार को सार्थक करनेवाला है।''

नियतिनय और अनियतिनय के माध्यम से आत्मा के त्रिकाल एकरूप रहनेवाले नियतस्वभाव एवं नित्य परिवर्तनशील अनियतस्वभाव का दिग्दर्शन करने के उपरान्त अब स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि आत्मा के नियतस्वभाव को संस्कारों द्वारा बदलना संभव नहीं है, पर अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है।

जिसप्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान नियत भी है और पानी की उष्णता के समान अनियत भी है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा स्वभावनय से स्वाभाविक नोकवाले काँटे के समान संस्कारों को निरर्थक करनेवाला भी है और अस्वभावनय से बनाई गई बाण की नोक की भाँति संस्कारों को सार्थक करनेवाला भी है।

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ १७५

[2] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

यहाँ स्वभावनय और अस्वभावनय को स्वभाविक नोकवाले काँटे और कृत्रिम नोकवाले बाण के उदाहरण से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार काँटे की नोक किसी ने बनाई नहीं है, असंस्कारित है, अकृत्रिम है, काँटे का मूल स्वभाव है; उसीप्रकार भगवान आत्मा का मूल स्वभाव असंस्कारित है, अकृत्रिम है, किसी का बनाया हुआ नहीं है; उसमें किसी भी प्रकार का संस्कार संभव नहीं है। अतः वह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला कहा गया है। तथा जिसप्रकार बाण की नोक लुहार द्वारा बनाई गई है; अतः संस्कारित है, कृत्रिम है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव में संस्कार किया जा सकता है; अतः अस्वभावनय से भगवान आत्मा संस्कारों को सार्थक करनेवाला कहा गया है।

भगवान आत्मा में स्वभाव नामक एक ऐसा धर्म है, जिसके कारण भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव को, मूलस्वभाव को अच्छे-बुरे संस्कारों द्वारा संस्कारित नहीं किया जा सकता। आत्मा के इस स्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम स्वभावनय है।

जिसप्रकार भगवान आत्मा में एक स्वभाव नामक धर्म है और उसके कारण द्रव्यस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा में एक अस्वभाव नामक धर्म भी है, जिसके कारण आत्मा के पर्यायस्वभाव को संस्कारित किया जा सकता है। आत्मा के इस अस्वभाव नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम अस्वभावनय है।

जिस वस्तु का जो मूलस्वभाव होता है, उसमें संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। करोड़ों उपाय करने पर भी जिसप्रकार अग्नि के उष्णस्वभाव में परिवर्तन किया जाना संभव नहीं है, उसीप्रकार भगवान आत्मा के चेतनस्वभाव में, ज्ञानानन्दस्वभाव में संस्कारों द्वारा किसी भी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। तात्पर्य यह है कि वह किसी भी स्थिति में अचेतन नहीं हो सकता।

इसे ही और अधिक स्पष्ट करें तो यह भी कह सकते हैं कि करोड़ों वर्ष तप करने पर भी अभव्य भव्य नहीं हो जाता, इसीप्रकार अनन्तकाल तक अनन्तमिथ्यात्वादि का सेवन करते रहने पर भी कोई भव्य अभव्य नहीं हो जाता; क्योंकि स्वभावनय से यह आत्मा संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है; तथापि मिथ्यादृष्टी, सम्यग्दृष्टी हो सकता है; सम्यग्दृष्टी, मिथ्यादृष्टी भी हो सकता है; क्योंकि अस्वभावनय से भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव को, अनियतस्वभाव को संस्कारित किया जाना संभव है।

यदि भगवान आत्मा में अस्वभाव नामक धर्म नहीं होता तो फिर उसके

पर्यायस्वभाव में भी संस्कार डालना संभव नहीं होता, मिथ्यात्व का अभाव कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का अवसर भी नहीं रहता; इसप्रकार अनन्तकाल से अनन्तदःखी जीवों को अपने अनन्तदःखों को मेटने का अवसर ही प्राप्त न होता।

यह अस्वभाव नामक धर्म भी आत्मा का एक स्वभाव ही है। इसके कारण ही अनादिकालीन कुसंस्कारों का अभाव होकर सुसंस्कार पड़ते हैं।

इस संदर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का कथन द्रष्टव्य है :–

''स्वभावनय से देखने पर आत्मा सदा एकरूप ही रहता है, उसके स्वभाव में कोई नया संस्कार नहीं पड़ता है, पर अस्वभावनय से देखने पर आत्मा की अवस्था में प्रतिसमय – प्रतिक्षण नये संस्कार पड़ते हैं। तात्पर्य यह है कि पर्याय में पुरुषार्थ द्वारा उलटे संस्कारों को पलट कर सही संस्कार डाले जा सकते हैं। [1]

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को संस्कारित कर सकता है – यह बात यहाँ नहीं कही जा रही है। यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि स्वयं के सत्कर्मों और दुष्कर्मों का प्रभाव भी आत्मा के मूलस्वभाव पर नहीं पड़ता है, पर पर्यायस्वभाव पर अवश्य पड़ता है।

यहाँ जो तीर का दृष्टान्त दिया है, वह सिद्धान्त समझने के लिए दिया गया है। तीर तो जड़ है, अतः उदाहरण में निमित्त से इसप्रकार कहा है कि लुहार के द्वारा तीर की नोक निकाली जाती है; परन्तु सिद्धान्त में तो चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा स्वयं ही अपना लुहार है। तात्पर्य यह है कि यह भगवान आत्मा स्वयं ही स्वयं में संस्कार डालने वाला है, कोई अन्य आत्मा की पर्याय को घड़नेवाला नहीं है।

'मैं पामर हूँ, मेरा पर के बिना एक क्षण भी नहीं चलता' – इसप्रकार की उलटी मान्यता, उलटे संस्कार के स्थान पर 'मैं स्वयं चिदानन्द भगवान आत्मा हूँ, मेरा त्रिकाल पर के बिना ही चलता रहा है और चलता रहेगा; परन्तु मेरी परमात्मशक्ति के बिना मेरा एक क्षण भी नहीं चल सकता है।' – इसप्रकार के चिन्तनपूर्वक स्वसन्मुख होकर यह आत्मा स्वयं में स्वयं ही सबल संस्कार डाल सकता है। यदि आत्मा सबल हो जाय तो अनन्तकाल का पाप एक क्षण में नष्ट हो जाता है और धर्म का अपूर्व संस्कार प्रकट होता है। इसीलिए कहा गया है कि आत्मा संस्कार को सार्थक करनेवाला है। [2]''

'अस्वभावनय से आत्मा को संस्कारित किया जा सकता है' – इसका

---

१. नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ १९८–१९९

२. नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ १९८

यह अर्थ भी नहीं है कि पर्यायों के क्रम में फेरफार किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में स्वामीजी का प्रतिपादन इसप्रकार है :–

"यहाँ जो यह कहा जा रहा है कि पर्याय के संस्कारों में परिवर्तन किया जा सकता है, उसका अर्थ यह नहीं समझना कि पर्याय के क्रम को पलटकर अन्यथा किया जा सकता है। पर्यायों का सुनिश्चित क्रम तो कभी टूटता ही नहीं है, किन्तु क्रमबद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय करनेवाले के ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होने पर पर्याय में नया वीतरागी संस्कार आरम्भ होता है, वहाँ भी पर्यायों का उसीप्रकार का क्रम सुनिश्चित था, परन्तु पर्याय में पहले निर्मलता नहीं थी और बाद में ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होने पर प्रकट हुई – इस अपेक्षा कहा गया कि पर्याय को संस्कारित किया गया, पर इसमें पर्यायों के क्रम फिरने की कोई बात नहीं है।[१]"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि यह भगवान आत्मा स्वभावनय से संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से संस्कारों को सार्थक करनेवाला है।

## (३०-३१) कालनय और अकालनय

**"कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः। अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः।[२]**

आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल के समान समय पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है।"

'यद्यपि आत्मा के मूलस्वभाव को संस्कारित नहीं किया जा सकता है, तथापि पर्यायस्वभाव को संस्कारित कर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है' – यह बात स्वभावनय और अस्वभावनय के माध्यम से स्पष्ट हो जाने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अस्वभावधर्म के कारण संस्कार को सार्थक करनेवाले इस आत्मा की सिद्धि किसप्रकार होती है।

– इस प्रश्न का उत्तर ही अब कालनय-अकालनय एवं पुरुषकारनय-दैवनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

जिसप्रकार अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला डलपक आम पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ १९९

[२] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

अपनी मुक्तिरूप सिद्धि के लिए कालनय से काल पर आधारित है तथा जिसप्रकार कृत्रिम गर्मी देकर पाल में पकाये जानेवाला आम अपने पकनेरूप कार्य की सिद्धि के लिए काल पर आधारित नहीं है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अपनी मुक्तिरूप कार्य की सिद्धि के लिए अकालनय से काल पर आधारित नहीं है।

भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक काल नामक धर्म भी है और एक अकाल नामक धर्म भी है। आत्मा के इन काल और अकाल नामक धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः कालनय और अकालनय हैं।

**प्रश्नः**—कालनय से तो काल आने पर ही मुक्ति होती है, पर अकालनय से तो समय के पूर्व ही मुक्ति हो जाती है न? क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि पुरुषार्थहीनों के कार्य तो काल आने पर ही होते हैं, पर पुरुषार्थी जीव तो अपने पुरुषार्थ द्वारा समय से पहले ही कार्यसिद्धि कर लेते हैं।

**उत्तरः**—नहीं, ऐसा कदापि नहीं होता। कार्य तो सभी स्वकाल में ही होते हैं। अन्य अनन्त धर्मों के समान कालधर्म और अकालधर्म भी सभी आत्माओं में समानरूप से एकसाथ विद्यमान हैं। ऐसा नहीं है कि किसी में कालधर्म हो और किसी में अकालधर्म। मुक्तिरूपी कार्य भी सभी जीवों के स्वसमयानुसार पुरुषार्थपूर्वक ही होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए किसी को तो पुरुषार्थ करना पड़े और किसी को बिना पुरुषार्थ के ही मुक्ति हो जावे। ऐसा भी नहीं होता कि किसी की मुक्ति तो काल आने पर ही हो और किसी की अकाल में ही हो जावे। जितने भी जीवों की मुक्ति आजतक हुई है या भविष्य में होगी, सभी की मुक्ति आवश्यक पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही हुई है और होगी भी पुरुषार्थपूर्वक स्वकाल में ही।

कालधर्म और अकालधर्म प्रत्येक आत्मा में प्रतिसमय विद्यमान हैं और उनके कार्य भी एकसाथ ही होते हैं। अतः मुक्तिरूपी कार्य में कालनय और अकालनय एक ही आत्मा में एकसाथ घटित होते हैं।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है:—

"कालनय से और अकालनय से जो भिन्न-भिन्न दो धर्म कहे हैं, वे दोनों ही धर्म भिन्न-भिन्न जीवों में नहीं रहते, अपितु एक जीव में ही एकसाथ रहते हैं। इसीप्रकार नियति-अनियति आदि नयों से जो धर्म कहे हैं, वे भी प्रत्येक आत्मा में एकसाथ ही रहते हैं। एक स्वकाल में मुक्ति प्राप्त करे और दूसरा जीव पुरुषार्थ करके अकाल में ही मुक्ति प्राप्त कर ले—ऐसा नहीं है।

'इस जीव ने अपने स्वकाल के अनुसार मुक्ति प्राप्त की'—ऐसा कहना अकालनय का कथन है; परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसने बिना

पुरुषार्थ के ही मुक्ति प्राप्त कर ली है, स्वकाल के साथ पुरुषार्थ तो ज़ुड़ा हुआ ही है।

इसीप्रकार 'इस जीव ने उग्र पुरुषार्थ द्वारा 'शीघ्र मुक्ति प्राप्त की' – यह अकालनय का कथन है, किन्तु इसका भी यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसने स्वकाल के बिना मुक्ति प्राप्त की है; पुरुषार्थ के साथ स्वकाल भी था ही।

इसप्रकार कालनय और अकालनय – इन दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म एकसाथ ही रहते हैं – ऐसा समझना चाहिए।[1]''

'काल माने समय पर और अकाल माने समय से पहले' – यहाँ काल और अकाल का यह अर्थ अभीष्ट नहीं है, अपितु 'काल माने काललब्धिरूप कारण और अकाल माने काललब्धि के अतिरिक्त अन्य पुरुषार्थादि कारण' – यह अर्थ अभीष्ट है।

यहाँ दिये गये अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम एवं कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के उदाहरण से भी यही बात सिद्ध होती है; क्योंकि यहाँ अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को काल पर आधारित कहा गया है और कृत्रिम गर्मी से पकनेवाले आम के पकाव को अंकाल अर्थात् पुरुषार्थादि पर आधारित कहा गया है।

यहाँ यह कदापि अभीष्ट नहीं है कि अकृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम तो समय पर ही पकता है, परन्तु कृत्रिम गर्मी से पकनेवाला आम समय से पहले ही पक जाता है। पकते तो दोनों सुनिश्चित स्वकाल में ही हैं तथा दोनों पकते भी गर्मी के कारण ही हैं। दोनों में से कोई भी आम न तो असमय में ही पकता है और न बिना गर्मी के ही पकता है। अतः दोनों में दोनों ही कारण समान रूप से विद्यमान हैं।

यद्यपि दोनों में ही दोनों कारण समान रूप से विद्यमान हैं; तथापि जब कालनय से कथन करेंगे, तब काल की मुख्यता से बात कही जायगी और जब अकालनय से कथन करेंगे, तब अकाल अर्थात् अन्य पुरुषार्थादि कारणों की मुख्यता से बात कही जायगी।

इसीप्रकार आत्मा की सिद्धि अर्थात् मुक्तिरूपी कार्य पर भी घटित कर लेना चाहिए। मुक्तिरूपी कार्य होता तो पुरुषार्थादि कारणों के साथ समय पर ही है; न तो बिना पुरुषार्थ के होता है और न असमय में ही; पर जब कालनय से बात कही जाती है तो यह कहा जाता है कि कालनय से यह भगवान आत्मा काल पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और जब अकालनय से कथन किया जाता है तो यह कहा जाता है कि यह भगवान आत्मा अकाल पर आधार रखनेवाली

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २११–२१२

सिद्धिवाला है अथवा काल पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है अथवा पुरुषार्थादि कारणों पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है।

## (३२-३३) पुरुषकारनय और दैवनय

**"पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादिवद्यत्नसाध्यसिद्धिः। दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्यसिद्धिः।**[1]

आत्मद्रव्य, पुरुषकारनय से, जिसे पुरुषार्थ द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त होता है, ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से, जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त हुआ है और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है, ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।"

'इस भगवान आत्मा की दुःखों से मुक्ति यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य?'—इस प्रश्न का उत्तर यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय के माध्यम से दिया जा रहा है।

यहाँ पुरुषकारनय और दैवनय को पुरुषार्थवादी और दैववादी के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है।

किसी पुरुषार्थवादी व्यक्ति ने बड़े यत्न से नीबू के पेड़ उगाये या मधुछत्तों का संग्रह किया। उन पेड़ों से या उन मधुछत्तों में से एक पेड़ या एक मधुछत्ता उसने अपने मित्र दैववादी (भाग्यवादी) को दे दिया। सद्भाग्य से इस दैववादी (भाग्यवादी) को उस नीबू के पेड़ में या मधुछत्ते में एक बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई।

उक्त घटना को उदाहरण बनाकर यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है कि जिसप्रकार पुरुषार्थवादी को तो नीबू के पेड़ों या मधुछत्तों की प्राप्ति बड़े प्रयत्न से हुई है, किन्तु दैववादी को बिना ही प्रयत्न के नीबू का पेड़ और मधुछत्ते के साथ-साथ बहुमूल्य माणिक्य की भी प्राप्ति हो गई; उसीप्रकार यह आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

इसप्रकार इस भगवान आत्मा की सिद्धि यत्नसाध्य भी है और अयत्नसाध्य भी है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक पुरुषकार अथवा पुरुषार्थ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला है अर्थात् पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त करनेवाला है और इस

---

[1] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

भगवान आत्मा में एक दैव नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

ये दोनों धर्म भगवान आत्मा में एकसाथ रहते हैं, अत: वह एकसाथ ही यत्नसाध्य सिद्धिवाला और अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है। ऐसा नहीं है कि कभी यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कभी अयत्नसाध्य सिद्धिवाला। ऐसा भी नहीं है कि कोई आत्मा यत्नसाध्य सिद्धिवाला हो और कोई आत्मा अयत्नसाध्य सिद्धिवाला हो; क्योंकि ये दोनों धर्म एकसाथ ही प्रत्येक आत्मा में रहते हैं। अत: इन्हें एक ही आत्मा में एकसाथ ही घटित होना चाहिए।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है:–

''किसी को पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हो और किसी को दैव (भाग्य) से – इसप्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं की यह बात नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ये दोनों ही धर्म एकसाथ रहते हैं। अत: दैवनय के साथ अन्य नयों की विवक्षा का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी दैवनय का ज्ञान सच्चा कहा जायेगा।

'पुरुषार्थ से मुक्ति हुई' – यह न कहकर 'कर्मों के टलने से मुक्ति हुई' अथवा 'दैव से मुक्ति हुई' – यह कहना दैवनय है; परन्तु उसमें भी चैतन्यस्वभाव के पुरुषार्थ का स्वीकार तो साथ में है ही।

जिस जीव को स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ होता है, उसका भाग्य भी ऐसा ही होता है कि कर्म भी टल जाते हैं; कर्मों को टालने के लिए अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। इसी स्थिति में यह अपेक्षा ग्रहण करना कि कर्मों के टलने से मुक्ति हुई – दैवनय का कथन है।[1]

पुरुषार्थनय से कहो अथवा दैवनय से कहो, पर जो जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, वे सब पुरुषार्थपूर्वक ही करते हैं। यदि अकेले दैव से ही मुक्ति प्राप्त हो और पुरुषार्थ से हो ही नहीं तो जीव में एक दैवधर्म ही रहा, पुरुषार्थ नामक धर्म रहा ही नहीं; इसीप्रकार पुरुषार्थवालों के अकेला पुरुषार्थ नामक धर्म ही रहा, दैव नामक धर्म रहा ही नहीं; पर ऐसा होता नहीं है, दोनों में ही दोनों धर्म रहते हैं।

एक जीव को अकेले पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हुई और दूसरे जीव को अकेले दैव से मुक्ति प्राप्त हुई – इसप्रकार दो भिन्न-भिन्न जीवों की बात यहाँ नहीं है; परन्तु एक ही जीव में अनन्त धर्म एकसाथ रहते हैं, उनका यह वर्णन है। कथन में भले ही एक धर्म की मुख्यता आवे, पर उसीसमय वस्तु में अन्य अनन्त धर्म भी हैं ही। जो एक धर्म को माने और अन्य धर्मों को न माने तो ज्ञान प्रमाण ही नहीं रहता।[2]

आत्मा को कभी पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हो और कभी दैव से मुक्ति प्राप्त

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २१५-२१६

[2] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २१८

हो – अनेकान्त का ऐसा स्वरूप नहीं है। १"

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जब मुक्तिरूपी कार्य सम्पन्न होता है, तब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मसन्मुखता के पुरुषार्थपूर्वक ही होता है और उससमय कर्मों का अभाव भी नियम से होता ही है। इसप्रकार उक्त मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि में आत्मा के पुरुषार्थ नामक धर्म का भी योगदान है और दैव नामक धर्म का भी योगदान है।

प्रत्येक व्यक्ति के मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि की वास्तविक स्थिति तो यही है। इसे ही पुरुषकारनय और दैवनय की भाषा में इसप्रकार व्यक्त करते हैं कि यह भगवान आत्मा पुरुषकारनय से यत्नसाध्य सिद्धिवाला है और दैवनय से अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।

इसप्रकार नियतिनय-अनियतिनय, स्वभावनय-अस्वभावनय, कालनय-अकालनय एवं पुरुषकारनय-दैवनय – इन आठ नयों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तिरूपी कार्य की सिद्धि में आत्मा के नियतधर्म-अनियतधर्म, स्वभावधर्म-अस्वभावधर्म, कालधर्म-अकालधर्म एवं पुरुषकारधर्म-दैवधर्म – इन सभी धर्मों का समान योगदान है। प्रकारान्तर से यह कार्यसिद्धि में पंचसमवायों की उपयोगिता का ही विशद व्याख्यान है, क्योंकि उक्त आठ नयों में प्रकारान्तर से स्वभाव, काल, भवितव्य, पुरुषार्थ और निमित्त – ये पाँचों समवाय समाहित हो जाते हैं।

जब कार्य होता है, तब ये पाँचों ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें उक्त आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ धर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं; उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि जब परमपारिणामिक भावरूप नियतस्वभाव के आश्रय से यह भगवान आत्मा अपने पर्यायरूप अनियतस्वभाव को संस्कारित करता है, तब स्वकाल में कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होती ही है। तात्पर्य यह है कि परमपारिणामिक भावरूप त्रिकाली ध्रुव आत्मा को केन्द्र बनाकर जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणमित होते हैं, तब ज्ञानावरणादि कर्मों का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप सिद्धदशा प्रगट हो जाती है और इसमें ही उक्त आठ धर्म या आठ नय व पंच समवाय समाहित हो जाते हैं।

## (३४-३५) ईश्वरनय और अनीश्वरनय

**"ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ।**

---

१. नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २२१

**अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरंगकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ।**[1]

आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतंत्रता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जाने वाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है।"

मातृहीन बालकों को अपना दूध पिलाकर आजीविका करनेवाली महिलाओं को धायमाता कहा जाता है। पुराने समय में ऐसी अनेक धायमातायें गाँव-गाँव में दुकान खोलकर बैठती थीं। जिन माताओं के दूध कम होता था, वे मातायें अपने बालकों को या मातृहीन बालकों को उनके परिवारवाले लोग ऐसी धायमाताओं की दुकान पर ले जाकर यथासमय दूध पिला लाते थे।

ऐसे मातृहीन बालक या कम दूधवाली माताओं के बालक जब अपने परिवारवालों के साथ यात्रा पर जा रहे हों, तो उन्हें भूख मिटाने के लिए रास्ते में आनेवाले गाँवों में होनेवाली धायमाताओं की दुकानों पर निर्भर रहना पड़ता था, जिसमें उन्हें भारी पराधीनता रहती थी।

प्रथम तो अपनी माता का दूध पीने जैसी स्वतन्त्रता धायमाता के दूध पर निर्भर रहने में संभव नहीं है; क्योंकि स्वयं की माता जैसा स्वाभाविक स्नेह एवं चाहे जब दूध पीने की सुविधा धायमाता के यहाँ कैसे प्राप्त हो सकती है? वह तो अपने बालक की आवश्यकता की पूर्ति के उपरान्त शेष बचे दूध को ही, एक निश्चित समय पर ही, किसी दूसरे बालक को पिला सकती है।

दूसरे, दुकान पर जाकर पीना भी तो सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरे, बालक यदि पथिक का हो तो वह परतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि भूखे बालक को हर स्थान पर धाय की दुकान मिल जाना सहज संभव तो नहीं है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने धायमाता की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले पथिक के बालक का उदाहरण देकर परतन्त्रता के स्वरूप को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया है।

इस भगवान आत्मा को भी संसार-अवस्था में इसीप्रकार की परतन्त्रता का उपभोग करना पड़ता है। यद्यपि इस परतन्त्रता में कर्मोदय निमित्त होता है, तथापि पर के कारण ही आत्मा को परतन्त्रता भोगनी पड़ती हो – ऐसी बात नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा के पर्यायस्वभाव में ही ऐसी विशेषता पड़ी है कि वह स्वयं कर्माधीन होकर मोह-राग-द्वेषरूप परिणमित होता है और परतन्त्रता को भोगता है।

---

१. 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

भगवान आत्मा की इस विशेषता का नाम ही ईश्वरधर्म है और इस ईश्वरधर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ईश्वरनय है। अतः कहा गया है कि यह भगवान आत्मा ईश्वरनय से धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगनेवाला है।

इस सन्दर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का स्पष्टीकरण इसप्रकार है :—

''पर्याय में परतन्त्रता भोगने की योग्यता भी आत्मा की ही है। वह भी आत्मा का एक धर्म है। ऐसा नहीं है कि जीव को कर्मोदयानुसार विकार करना ही पड़े। कर्म आत्मा को पराधीन नहीं करते, किन्तु यह आत्मा स्वयं पर को ईश्वरता प्रदान कर (पर का आश्रय करके) पराधीनता भोगता है।

यद्यपि धर्मी की दृष्टि में शुद्ध चैतन्यपिण्ड का ही आश्रय रहता है, तथापि अभी जो चारित्र में विकार होता है, वह निमित्त के आश्रय से होता है। निमित्त के आश्रय से जितना विकार होता है, उतनी निमित्त की ईश्वरता है और आत्मा की पराधीनता है। स्वभावदृष्टि से अपनी ईश्वरता का भान होते हुए भी पर्याय में जितना विकार होता है, वह मेरी पराधीनता है—ऐसा धर्मीजीव जानते हैं। किन्तु परद्रव्य जीव को बलात् विकार करावे—ऐसा कोई धर्म न तो जीव में है और न परद्रव्यों में ही।[१]

जिसप्रकार धायमाता के यहाँ दूध पीनेवाला राहगीर बालक पराधीनता भोगता है, इसीप्रकार अनन्तधर्मों का पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा यद्यपि स्वभाव से तो रागादि का भोगनेवाला नहीं है, तथापि पर्याय में रागादि भावों को पराधीनपने भोगता है; इसलिए ईश्वरनय से आत्मा को परतन्त्रता भोगनेवाला कहा है।

ईश्वरनय से अपनी पराधीनता जाननेवाला ज्ञानीजीव उसीसमय स्वयं के स्वभाव की स्वाधीनता को भी जानता है। यदि अकेली पराधीनता को ही माने और स्वाधीनता को न जाने तो वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टी है। तथा यदि अकेली स्वाधीनता ही मान ले, पर्याय में जो पराधीनता है, उसे जाने ही नहीं, तो भी मिथ्यादृष्टी ही है। द्रव्य और पर्याय दोनों ही ओर से वस्तु को जानना चाहिए।[२]''

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में ईश्वरधर्म के समान एक अनीश्वर नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतंत्रता को भोगनेवाला है। इसी अनीश्वर नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय को अनीश्वरनय कहते हैं।

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २२५-२२६

[२] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २२६-२२७

ईश्वरनय को धाय की दुकान पर दूध पिलाये जाने वाले पथिक के बालक का उदाहरण देकर समझाया गया था और अब यहाँ हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह का उदाहरण देकर अनीश्वरनय को समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार जंगल का राजा शेर जंगल में हिरण को फाड़कर अत्यन्त स्वच्छन्दतापूर्वक उसे खा रहा हो तो उस शेर को कौन रोकनेवाला है? उसीप्रकार यह चैतन्यराजा भगवान आत्मा अपने असंख्यप्रदेशी स्वराज्य में अपने आत्मोन्मुखी सम्यक् पुरुषार्थ से अन्तर्स्वरूप में एकाग्र होकर अत्यन्त स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अतीन्द्रिय आनन्द का उपभोग करे तो उसे कौन रोकनेवाला है?

—इसी तथ्य का उद्घाटन इस अनीश्वरनय द्वारा किया जाता है।

अनीश्वर अर्थात् जिसका कोई अन्य ईश्वर न हो। जो स्वयं ही अपना ईश्वर हो, उसे ही यहाँ अनीश्वर कहा है। अनीश्वरनय से इस भगवान आत्मा का कोई अन्य ईश्वर नहीं हैं, यह स्वयं ही अपना ईश्वर है, इसीलिए यह अनीश्वर है। यह अपने अतीन्द्रिय आनन्द को भोगने में पूर्णतः समर्थ है, स्वाधीन है, ईश्वर है।

इस सन्दर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का कथन इसप्रकार है :—

धर्मीजीव जानता है कि जगत में किसी भी द्रव्य, गुण या पर्याय में ऐसी शक्ति नहीं है कि जो मेरी स्वतन्त्रता को लूट ले। मैं अनीश्वर हूँ — इसका तात्पर्य यह है कि मेरे ऊपर कोई ईश्वर नहीं है। मैं ही मेरे घर का ईश्वर हूँ। मेरे से बड़ा ऐसा कोई ईश्वर जगत में नहीं है, जो मेरे स्वाधीन स्वभाव को लूटकर मुझे पराधीन बनावे।

देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा के केवलज्ञानादि पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो गया है, इसलिए वे परमेश्वर हैं; परन्तु उनकी ईश्वरता उनके आत्मा में है, मुझमें उनकी कोई ईश्वरता नहीं है। शक्ति-अपेक्षा तो मेरा आत्मा और तीर्थंकर भगवान का आत्मा एक से ही हैं। मेरे आत्मा में भी तीर्थंकर भगवान जैसा ईश्वरपना स्वभावतः विद्यमान है। [१]''

ईश्वरनय से यह भगवान आत्मा पराधीनता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से स्वाधीनता को भोगनेवाला है। इन दोनों नयों का ज्ञान भगवान आत्मा में एकसाथ विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि दोनों अपेक्षाएँ उसके प्रमाणज्ञान में समान रूप से प्रतिभासित होती रहती हैं। यद्यपि प्रतिपादन काल में मुख्य-गौण व्यवस्था होती है, तथापि भगवान आत्मा के प्रमाणज्ञान में तो

---

१. नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २३१

सब-कुछ स्पष्ट रहता ही है।

इस सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है :–

''पर्याय में राग होने से जितनी पराधीनता है, उसका ज्ञान धर्मी जीव को रहता है, पर उसी समय अन्तर्दृष्टि में आत्मा की स्वाधीन प्रभुता का ज्ञान भी रहता है, क्योंकि ईश्वरनय के समय अनीश्वरनय की अपेक्षा भी साथ ही है। जहाँ अपने द्रव्यस्वभावकी त्रिकाली ईश्वरता से चूके बिना मात्र पर्याय की पराधीनता सम्बन्धी ईश्वरता पर को देता है, वहाँ तो ईश्वरनय सच्चा है; परन्तु जो स्वभाव की ईश्वरता को भूलकर मात्र पर को ही ईश्वरता प्रदान करे, उसे ईश्वरनय भी सच्चा नहीं है, वह तो पर्याय में ही मूढ़ होने से मिथ्यादृष्टी है।[१]''

यहाँ, अनीश्वरनय से तो भगवान आत्मा की स्वाधीनता सिद्ध की ही है, पर ईश्वरनय से भी एकप्रकार से स्वाधीनता ही सिद्ध की हैं, क्योंकि पराधीनता भोगने का धर्म भी उसके स्वभाव में ही विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि कर्म या अन्य निमित्त उसे पराधीन नहीं करते, अपितु वह स्वयं की भूल से ही पराधीन होता है, कर्माधीन होता है, पर का आश्रय लेकर उसे ईश्वरता प्रदान करता है और उसके अधीन होकर दुःख भोगता है।

यदि भगवान आत्मा के स्वभाव में ही इसप्रकार की विशेषता नहीं होती तो उसे कोई पराधीन नहीं कर सकता था। भगवान आत्मा के पर्याय में पराधीन होने के इस स्वभाव का नाम ही ईश्वरधर्म है और इसे जाननेवाला नय ईश्वरनय है।

ध्यान रहे, यह पराधीनता मात्र पर्यायस्वभाव तक ही सीमित है, द्रव्यस्वभाव में इसका प्रवेश नहीं है; क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो सदा स्वाधीन ही रहता है। अपने इसी द्रव्यस्वभाव को ईश्वरता प्रदान कर यह भगवान आत्मा स्वाधीनता का उपभोग करता है। भगवान आत्मा के इस स्वाधीन स्वभाव का नाम ही अनीश्वरधर्म है और इसे विषय बनानेवाले नय का नाम अनीश्वरनय है।

इसीलिए यहाँ ईश्वरनय और अनीश्वरनय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि आत्मद्रव्य ईश्वरनय से धाय की दूकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छन्दतापूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह के समान स्वतन्त्रता को भोगनेवाला है।

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २३३

## (३६-३७) गुणीनय और अगुणीनय

"**गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद् गुणग्राहि। अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि।**[1]

आत्मद्रव्य गुणीनय से शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार के समान गुणग्राही है और अगुणीनय से शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार को देखनेवाले प्रेक्षक पुरुष के समान केवल साक्षी है।"

यहाँ भगवान आत्मा के गुणग्राहक स्वभाव एवं साक्षीभाव स्वभाव को शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक और शिक्षक से शिक्षा ग्रहण करते बालक को वीतरागभावसे—अनासक्त भाव से—साक्षीभाव से देखनेवाले पुरुष के उदाहरणों से समझाया जा रहा है।

जिसप्रकार शिक्षक के द्वारा सिखाये जाने पर बालक भाषा आदि सीख लेता है, उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी गुरु के उपदेश को ग्रहण कर ले—ऐसी शक्ति से सम्पन्न है। भगवान आत्मा की इसी शक्ति का नाम गुणीधर्म है और आत्मा के इसी गुणी नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम गुणीनय है।

जिसप्रकार शिक्षा ग्रहण करते बालक को देखनेवाला पुरुष शिक्षा ग्रहण नहीं करता, अपितु मात्र साक्षीभाव से देखता ही रहता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा पर से कुछ भी ग्रहण नहीं करता, मात्र उसे साक्षीभाव से जानता-देखता ही है। भगवान आत्मा की साक्षी भाव से जानने-देखने की इस शक्ति का नाम ही अगुणीधर्म है और इस अगुणी नामक धर्म को विषय बनानेवाले नय का नाम ही अगुणीनय है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा में एक ऐसा धर्म है कि जिसके कारण वह उपदेश ग्रहण करने में समर्थ है और एक ऐसा भी धर्म है कि जिसके कारण वह पर का उपदेश ग्रहण न करके मात्र उसे साक्षीभाव से जान लेता है। इन दोनों धर्मों के नाम ही क्रमशः गुणीधर्म और अगुणीधर्म हैं।

यदि भगवान आत्मा में गुणीधर्म न होता तो फिर देशनालब्धि सभव न होती, तीर्थंकर भगवान के उपदेश का लाभ भी भगवान आत्मा को प्राप्त नहीं हो पाता; क्योंकि जब वह उसे ग्रहण ही नहीं कर पाता तो लाभ कैसे होता? इसीप्रकार यदि अगुणीधर्म नहीं होता तो फिर इसे सभी उपदेशों को ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता; क्योंकि साक्षीभाव से मात्र जान लेने की शक्ति का अभाव होने से किसी भी उपदेश से अलिप्त रह पाना संभव नहीं होता।

उक्त दोनों धर्मों के प्रतिपादन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस

---

[1] 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

भगवान आत्मा में सदुपदेश को ग्रहण करने की शक्ति भी विद्यमान है और अवांछित उपदेश को साक्षीभाव से जानकर उसकी उपेक्षा करने की शक्ति भी विद्यमान है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा गुणग्राही भी है और अगुणग्राही अर्थात् साक्षीभाव से रहनेवाला भी है।

गुणीधर्म और अगुणीधर्म – ये दोनों धर्म आत्मा के ही धर्म हैं, अत: गुणीनय और अगुणीनय दोनों नय आत्मा को ही बताते हैं। अन्य नयों के समान इन दोनों नयों का उद्देश्य भी भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करना ही है।

यहाँ अगुणीधर्म का अर्थ न तो दुर्गुणों का सद्भाव ही है और न सद्गुणों का अभाव ही, अपितु परोपदेश को साक्षीभाव से जान लेना मात्र है।

इस सन्दर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का स्पष्टीकरण इसप्रकार है:–

"यहाँ अगुणीनय का अर्थ दोषसूचक नहीं है, परन्तु साक्षीपने का सूचक है। 'गुरु से ज्ञान प्राप्त करूँ' – इसप्रकार का विकल्प आता है, पर ऐसा विकल्प करे ही – ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; विकल्प और वाणी दोनों के साक्षीपने रहने का आत्मा का धर्म है।

'भगवान अथवा सन्तों की वाणी झेलकर आत्मा गुण ग्रहण करता है' – यह कहनेवाला गुणीनय भी आत्मा को ही बताता है और 'यह आत्मा दूसरों के पास से कुछ भी सीखता नहीं है, आत्मा तो साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है' – ऐसा कहनेवाला अगुणीनय भी आत्मा को ही बताता है। [1]"

## (३८-३९) कर्तृनय और अकर्तृनय

**"कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ। अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि। [2]**

आत्मद्रव्य कर्तृनय से रँगरेज के समान रागादि परिणाम का कर्त्ता है और अकर्तृनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रँगरेज को देखनेवाले पुरुष की भाँति केवल साक्षी है।"

कपड़ा रँगने का काम करनेवाले पुरुष को रँगरेज कहा जाता है। एक रँगरेज कपड़ा रँग रहा हो और उसी समय कोई दूसरा पुरुष वहीं खड़ा-खड़ा वीतराग भाव से उसे कपड़ा रँगते हुए देख रहा हो – ऐसी स्थिति में यदि कपड़ा अच्छा रँगा जाये तो रँगरेज को प्रसन्नता होती है और यदि अच्छा न रँगा जावे तो उसे खेद होता है; परन्तु वीतराग भाव से उसे देखनेवाले पुरुष को किसी भी

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २४१

[2] 'प्रवचनसार' 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

स्थिति में न तो प्रसन्नता ही होती है और न खेद ही होता है, वह तो उसे साक्षीभाव से मात्र जानता-देखता ही रहता है।

उक्त स्थिति को उदाहरण बनाकर यहाँ कर्तृनय और अकर्तृनय समझाये जा रहे हैं।

जिसप्रकार रँगरेज कपड़ा रँगने की क्रिया का कर्त्ता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा कर्तृनय से अपने में उत्पन्न रागादि परिणामों का कर्त्ता है, और जिसप्रकार कपड़ा रंगते हुए उस रंगरेज को वीतराग भाव से देखनेवाला अन्य पुरुष कपड़ा रंगने की क्रिया का कर्त्ता नहीं है, मात्र साक्षी ही है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अकर्तृनय से अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादिभावों का कर्त्ता नहीं है, केवल साक्षी ही है।

अनन्त धर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक कर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्त्ता होता है और एक अकर्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेषादि भावों का कर्त्ता न होकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, साक्षी रहता है।

भगवान आत्मा के इन कर्तृधर्म और अकर्तृधर्म को विषय बनानेवाले नयों को ही क्रमशः कर्तृनय और अकर्तृनय कहते हैं।

परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले ये दोनों ही धर्म भगवान आत्मा में एक साथ ही रहते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर भले ही ये परस्पर विरोधी प्रतीत हों, पर इनके एक आत्मा में एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अनेकान्तात्मक भगवान आत्मा का ऐसा ही स्वरूप है।

इस सन्दर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का कथन इसप्रकार है :–

''पहले राग का कर्त्तारूप धर्म कहा था और अब यहाँ राग का अकर्त्तारूप धर्म कहा जा रहा है। ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न आत्माओं के धर्म नहीं हैं, एक ही आत्मा में दोनों धर्म एक ही साथ रहते हैं।

समयसार में जो यह कहा गया है कि अज्ञानदशा में मिथ्यादृष्टी जीव राग का कर्त्ता होता है और भेदविज्ञान होने पर सम्यग्दृष्टी जीव रागादि का अकर्त्ता होता है – यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि सम्यग्दृष्टी जीव भी स्वयं की पर्याय में होनेवाले राग का कर्त्ता है और उसीसमय उस राग का अकर्त्ता भी है। इसप्रकार दोनों धर्म उसमें एक साथ ही हैं।

सम्पूर्ण धर्मों के आधारभूत निजात्मद्रव्य पर दृष्टि रखकर धर्मीजीव अपने आत्मा के धर्मों को जानता है। अकर्तृनय से आत्मा को राग का अकर्त्ता-साक्षीरूप भी जानता है और कर्तृनय से राग परिणाम का कर्त्ता भी जानता है; परन्तु उसकी दृष्टि में तो शुद्ध चैतन्य की ही प्रधानता होने से पर्याय

में से राग का कर्त्तापन छूटता जाता है और साक्षीपन बढ़ता जाता है।

कर्तृनय से राग का कर्त्ता और उसीसमय अकर्तृनय से राग का साक्षी – इसप्रकार दोनों धर्मों को एकसाथ धारण करनेवाला आत्मा अनेकान्तस्वभावी है।[१]"

**प्रश्नः**–पहले अगुणीनय से भी भगवान आत्मा को साक्षी बताया गया था और अब यहाँ अकर्तृनय में भी साक्षी बताया जा रहा है। इन दोनों साक्षीभावों में क्या अन्तर है?

**उत्तरः**–सम्पूर्ण जगत को साक्षीभाव से देखने-जानने के स्वभाववाला होने से भगवान आत्मा तो सम्पूर्ण जगत का ही साक्षी है; अतः यहाँ प्रकरणानुसार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का साक्षीपन बताया गया है। अगुणीनय में, प्राप्त होनेवाले उपदेश का साक्षीभाव बताया गया है और यहाँ अकर्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का साक्षीभाव बताया जा रहा है और आगे चलकर अभोक्तृनय में, अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख का साक्षीभाव बताया जायगा।

तात्पर्य यह है कि अगुणीनय में गुणीनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है, अकर्तृनय में कर्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है और अभोक्तृनय में भोक्तृनय के विपक्षरूप साक्षीभाव लिया गया है।

इसे और स्पष्ट करें तो इसप्रकार कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा गुणीनय से गुणग्राही है अर्थात् उपदेश को ग्रहण करनेवाला है और अगुणीनय से गुणग्राही नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है; कर्तृनय से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्त्ता है और अकर्तृनय से उनका कर्त्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है। इसीप्रकार भोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भोक्ता है और अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भी भोक्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानने-देखनेवाला है।

इसप्रकार अगुणीनय के साक्षीभाव में गुणग्राहित्व का निषेध है, अकर्तृनय के साक्षीभाव में रागादिभाव के कर्तृत्व का निषेध है और अभोक्तृनय के साक्षीभाव में सुख-दुःख के भोक्तृत्व का निषेध है।

इसप्रकार यहाँ गुणीनय-अगुणीनय, कर्तृनय-अकर्तृनय एवं भोक्तृनय-अभोक्तृनय – इन छह नयों के माध्यम से भगवान आत्मा के गुणग्राहित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं इन तीनों के विरुद्ध अगुणग्राहित्वरूप साक्षीभाव, अकर्तृत्वरूप साक्षीभाव एवं अभोक्तृत्वरूप साक्षीभाव को समझाया जा रहा है।

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २५२-२५३

## (४०-४१) भोक्तृनय और अभोक्तृनय

**"भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ। अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि।**[1]

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी के समान सुख-दुःखादि का भोक्ता है और अभोक्तनृत्य से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य के समान केवल साक्षी ही है।"

जिसप्रकार यदि कोई रोगी हितकारी अन्न को खाता है तथा वैद्य के बताये अनुसार पथ्य का सेवन करता है तो सुख भोगता है और यदि अहितकारी अन्न को खाता है तथा कुपथ्य का सेवन करता है तो दुःख भोगता है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भोक्तृनय से अपने सदाचरण-दुराचरण से उत्पन्न सुख-दुःख को, हर्ष-शोक को भोगता है।

तथा जिसप्रकार हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले, पथ्य-कुपथ्य का सेवन करनेवाले रोगी को देखनेवाला वैद्य उसके सुख-दुःख को भोगता तो नहीं है, परन्तु साक्षीभाव से जानता अवश्य है; ठीक उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख को, हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, पर साक्षीभाव से जानता अवश्य है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक भोक्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपनी भूल से अपने में ही उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता है और एक अभोक्तृ नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अपने में उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक को भोगता तो नहीं, मात्र साक्षीभाव से जानता-देखता ही है।

भगवान आत्मा के इन भोक्तृ और अभोक्तृ धर्मों को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः भोक्तृनय और अभोक्तृनय हैं।

शेष सब कर्तृनय और अकर्तृनय के प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है, तदनुसार इन भोक्तृनय और अभोक्तृनय के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व का स्पष्टीकरण सर्वत्र समान ही पाया जाता है।

इन कर्तृ-अकर्तृ और भोक्तृ-अभोक्तृ नयों का प्रतिपाद्य मात्र इतना ही है कि यह भगवान आत्मा राग-द्वेषादि भावों को करता भी है और उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख को भोगता भी है तथा इन सबका साक्षीभाव से ज्ञाता-द्रष्टा भी रहता है, अतः अकर्ता-अभोक्ता भी है।

---

[1] 'प्रवचनसार' 'तत्त्वप्रदीपिका टीका का परिशिष्ट

## (४२-४३) क्रियानय और ज्ञाननय

**"क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठान प्राधान्यसाध्यसिद्धिः। ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिज वद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः।**[१]

आत्मद्रव्य, क्रियानय से खम्भे से टकरा जाने से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर निधान मिल गया है जिसे ऐसे अंधे के समान, अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और ज्ञाननय से, मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीद लेनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी के समान, विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।"

एक अंधा व्यक्ति सहज धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था। रास्ते में अचानक वह एक खम्भे से टकरा गया, जिससे उसका सिर फूट गया और बहुत-सा खराब खून निकल जाने से उसे एकदम स्पष्ट दिखाई देने लगा, उसका अन्धापन समाप्त हो गया। खम्भे से टकराने से उसका सिर तो फूटा ही, साथ ही वह खम्भा भी टूट गया। उस खम्भे में किसी ने खजाना छुपा रखा था। खम्भे के टूटने से उसे वह खजाना भी सहज ही प्राप्त हो गया।

यद्यपि उस अंधे व्यक्ति ने खजाना और दृष्टि प्राप्त करने के लिए विवेकपूर्वक कुछ भी प्रयत्न नहीं किया था, वह तो सहज ही धार्मिक भावना से प्रेरित होकर मन्दिर जा रहा था; तथापि बिना बिचारे ही सहज ही उसी खम्भे से टकराने की क्रिया सम्पन्न हो गई, जिसमें खजाना छुपा हुआ था और उसे दुहरा लाभ प्राप्त हो गया—खजाना भी मिल गया और नेत्रज्योति भी प्राप्त हो गई।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ क्रियानय का स्वरूप समझाया गया है।

जिसप्रकार उक्त अंधे पुरुष को बिना समझे-बूझे ही मात्र क्रिया सम्पन्न हो जाने से सिद्धि प्राप्त हो गई, दृष्टि और निधि प्राप्त हो गई; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि क्रियानय से इस आत्मा की मुक्ति मुक्तिमार्ग में चलनेवाले साधक जीवों के योग्य होनेवाली आवश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान की प्रधानता से होती है।

अब मुट्ठी भर चनों में चिन्तामणि खरीद लेनेवाले व्यापारी का उदाहरण देकर ज्ञाननय का स्वरूप समझाते हैं :–

एक लकड़हारे को जंगल में पड़ा हुआ एक चिन्तामणि रत्न प्राप्त हो

---

[१] 'प्रवचनसार' 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

गया। लकड़हारा उसकी कीमत तो जानता नहीं था, उसकी दृष्टि में तो वह एक चमकीला पत्थर मात्र था। उस चिन्तामणि रत्न को लेकर वह लकड़हारा अपने घर के कोने में बैठे एक व्यापारी के घर पहुँचा और उस व्यापारी से बोला :–

"सेठजी ! यह चमकीला पत्थर खरीदोगे?"

रत्नों के पारखी सेठजी चिन्तामणि को देखकर मंत्रमुग्ध हो गये; वे उसे एकटक देखते ही रहे, कुछ भी न बोल सके। सेठजी के मौन से व्याकुल लकड़हारा बोला:–

"क्यों क्या बात है? खरीदना नहीं है क्या?"

जागृत हो सेठजी कहने लगे:–

"खरीदना क्यों नहीं है? खरीदेंगे, अवश्य खरीदेंगे। बोलो, क्या लोगे?"

"दो मुट्ठी चने से कम में तो किसी हालत में नहीं दूँगा"–

– अकड़ता हुआ लकड़हारा बोला तो अचंभित होते हुए सेठजी के मुँह से निकला :–

"बस, दो मुट्ठी चने !"

"हाँ, दो मुट्ठी चने।"

सेठजी ने अपने को सँभाला और कहने लगे :–

"दो मुट्ठी चने तो बहुत होते हैं; एक मुट्ठी चने में नहीं दोगे?"

यद्यपि सेठजी दो मुट्ठी चने तो क्या, दो लाख स्वर्णमुद्राएँ भी दे सकते थे, तथापि उन्हें भय था कि एकदम 'हाँ' कर देने से काम बिगड़ सकता है; अतः उन्होंने एक मुट्ठी चने की बात सोच-समझकर हिलाने-डुलाने के लिए ही कही थी; पर लकड़हारा बोला :–

"अच्छा लाओ, एक मुट्ठी चने ही सही इस मुफ़्त के पत्थर के।"

इसप्रकार वह अमूल्य चिन्तामणि रत्न उन सेठजी को अपने घर के कोने में बैठे-बैठे बिना कुछ किये विवेक के प्रयोग से सहज ही उपलब्ध हो गया।

उक्त उदाहरण के माध्यम से यहाँ ज्ञाननय को समझाया गया है।

जिसप्रकार घर के कोने में बैठे-बैठे ही सेठ ने अपने विवेक के बल से मात्र मुट्ठी भर चनों में चिन्तामणि रत्न को प्राप्त कर लिया; उसीप्रकार ज्ञाननय से यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञाननय से इस आत्मा की मुक्ति विवेक की प्रधानता पर आधारित है।

उक्त कथन का आशय यह कदापि नहीं है कि किसी को क्रिया से मुक्ति प्राप्त होती है और किसी को ज्ञान से। जब भी किसी जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, तब दोनों ही कारण विद्यमान रहते हैं; क्योंकि अनन्तधर्मात्मक इस भगवान

आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक क्रिया नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और एक ज्ञान नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।

इन क्रियाधर्म और ज्ञानधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः क्रियानय और ज्ञाननय हैं।

यद्यपि इस बात को विगतनयों की चर्चा में अनेक बार स्पष्ट किया जा चुका है कि यहाँ भिन्न-भिन्न आत्माओं की बात नहीं है अपितु एक ही आत्मा में उक्त दो-दो के जोड़ेवाले नयों को घटित करना है, तथापि 'प्रधानता' शब्द का प्रयोग कर यहाँ क्रियानय और ज्ञाननय के प्रकरण में तो अतिरिक्त सावधानी बरती गई है।

यहाँ 'क्रिया' या 'अनुष्ठान' शब्द से शुद्धभाव के साथ रहनेवाला शुभभाव एवं तदनुसार आचरण अपेक्षित है तथा 'विवेक' शब्द से शुद्धभाव अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपेक्षित है।

इस संदर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का स्पष्टीकरण इसप्रकार है :-

"यहाँ 'प्रधानता' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो यह बताता है कि गौणरूप से दूसरा कारण भी विद्यमान है। क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता कही है अर्थात् शुभभाव की प्रधानता कही है, उसमें से भी यही अर्थ निकलता है कि गौणरूप से उसीसमय सम्यग्ज्ञानरूप विवेक भी विद्यमान है।

'शुभराग की प्रधानता से सिद्धि होती है' – जब क्रियानय से इसप्रकार कहा जाता है; तब उसीसमय यह ज्ञान भी साथ में रहता है कि उसी काल में गौणरूप में अन्तर में शुद्धता भी विद्यमान है। ऐसा ज्ञान अन्तर में रहे, तभी क्रियानय सच्चा कहा जाता है।[१]

शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा में अनन्त धर्म हैं। उन्हें नय भले ही मुख्य-गौण करके जाने या प्रतिपादन करे, पर वस्तु में वे सभी धर्म मुख्य-गौणपने नहीं रहते, वस्तु में तो सभी धर्म एक साथ ही रहते हैं।

शुद्धस्वभाव के अवलम्बन से जब साधकदशा प्रगट होती है, तब शुभराग भी विद्यमान रहता है और राग घटते-घटते शुद्धात्मारूप निधान की प्राप्ति हो जाती है, तब शुभ की प्रधानता से सिद्धि प्राप्त हुई – ऐसा कहा जाता है। इसप्रकार का भगवान आत्मा का एक धर्म है और उसे जाननेवाला क्रियानय है।

जहाँ क्रियानय से शुभ कीं प्रधानता की, वहीं उसी के साथ गौणरूप में

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २७५

सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप शुद्धता भी रहती है। यदि शुद्धता नहीं होती और अकेला शुभराग ही होता तो शुभ की प्रधानता कहना भी बन नहीं सकता था। 'प्रधानता' शब्द ही दूसरे का अस्तित्व बताता है।

'किसी को शुभराग की प्रधानता से सिद्धि होती है और किसी अन्य को ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि होती है' – इसप्रकार एक-एक धर्म भिन्न-भिन्न आत्माओं के नहीं हैं, अपितु एक ही आत्मा में एक साथ ही ये सभी धर्म रहते हैं।[1]

'अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि होती है' – इसप्रकार क्रियानय ने जिस आत्मा को लक्ष्य में लिया है, उसी आत्मा को ज्ञाननय से देखो तो यह कहा जाएगा कि ज्ञान की प्रधानता से सिद्धि हुई है। इसप्रकार क्रियानय और ज्ञाननय – इन दोनों नयों के विषयरूप दोनों धर्म एक आत्मा में ही एक साथ रहते हैं, भिन्न-भिन्न नय भिन्न-भिन्न धर्मों द्वारा एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य को ही बताते हैं।[2]''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जब भगवान आत्मा साधकदशा में होता है, तब उसके भूमिकानुसार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव भी होता है और शुभभावरूप रागभाव भी रहता है तथा उसका आचरण भी भूमिकानुसार होता ही है।

मुक्ति की प्राप्ति के कारणों के संदर्भ में जब नयविभाग से चर्चा होती है तो कहा जाता है कि ज्ञाननय से मुक्ति की प्राप्ति विवेक (रत्नत्रयरूप वीतरागभाव) की प्रधानता से होती है और क्रियानय से अनुष्ठान (महाव्रतादि के शुभभाव एवं महाव्रतादि के पालनरूप क्रिया) की प्रधानता से होती है।

तात्पर्य यह है कि मुक्ति के मार्ग में उपस्थिति तो दोनों कारणों की अनिवार्य रूप से होती है, पर ज्ञाननय से विवेक को प्रधानता प्राप्त है और क्रियानय से अनुष्ठान को प्रधानता प्राप्त है।

## (४४-४५) व्यवहारनय और निश्चयनय

**"व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तरसंयुज्यमानवियुज्यमान परमाणुवद् बंधमोक्षयोर्द्वैतानुववर्ति। निश्चयनयेन केवल बध्यमानमुच्यमान बंधमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणत परमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति।[3]**

आत्मद्रव्य व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ बँधनेवाले एवं उससे

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २८९

[2] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ २९३

[3] प्रवचनसार 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका का परिशिष्ट

छूटनेवाले परमाणु के समान बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है और निश्चयनय से बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप से परिणत बध्यमान और मुच्यमान परमाणु के समान बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।''

कोई भी पुद्‌गलपरमाणु जब बँधता या छूटता है तो उसमें अन्य पुद्‌गल-परमाणुओं की अपेक्षा अवश्य होती है। यही तो कहा जाता है कि यह परमाणु इस परमाणु से बँधा या इस परमाणु से छूटा।

इसीप्रकार इस भगवान आत्मा के बँधने या मुक्त होने के प्रसंग में कर्म की अपेक्षा आती है। बँधने में तो कर्म की अपेक्षा है ही, छूटने में भी कर्म की अपेक्षा होती है; क्योंकि जिसप्रकार यह कहा जाता है कि कर्मों से बँधा, उसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि कर्मों से छूटा। इसप्रकार बँधने और छूटने दोनों में ही कर्म की अपेक्षा रहती है।

बंध और मोक्ष – इन दोनों में ही आत्मा और कर्म – इन दोनों की अपेक्षा आने के कारण कहा गया है कि यह भगवान आत्मा व्यवहारनय से बंध और मोक्ष द्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

यदि निश्चय से विचार करें तो जिसप्रकार प्रत्येक परमाणु बँधने और छूटने योग्य अपने स्निग्ध और रूक्षत्व गुण के कारण स्वयं अकेला ही बँधता और छूटता है। उसके बँधने और छूटने में अन्य कोई कारण नहीं है; उसीप्रकार निश्चयनय से यह भगवान आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से ही बँधता-छूटता है, उसे बंधन एवं मुक्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं है।

इसीलिए यहाँ कहा गया है कि निश्चयनय से यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।

उक्त संदर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का स्पष्टीकरण इसप्रकार है :–

''जिसप्रकार 'एक परमाणु बँधा या छूटा' – इसप्रकार लक्ष्य में लेते ही दूसरे परमाणु की अपेक्षा आती है अथवा 'इसके साथ यह बँधा एवं इससे यह छूटा' – इसप्रकार दूसरे परमाणु की अपेक्षा आती है; इसकारण वह परमाणु बंध या मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है; क्योंकि दूसरे परमाणु की अपेक्षा बिना उसके बंध या मोक्ष का कथन संभव नहीं है।

उसीप्रकार आत्मा के बंध या मोक्ष को लक्ष्य में लेते ही कर्म की अपेक्षा आती है। यद्यपि बंध व मोक्ष को आत्मा स्वतन्त्ररूप से करता है, तथापि उसमें कर्म के सद्‌भाव की या अभाव की अपेक्षा अवश्य आती है। इसीकारण व्यवहारनय से कहा जाता है कि आत्मा बंध में कर्म के सद्‌भाव का अनुसरण करता है और मोक्ष में कर्म के अभाव का अनुसरण करता है। इसप्रकार बंध

व मोक्ष दोनों में ही यह आत्मा द्वैत का अनुसरण करता है।[1]

त्रिकाली स्वभाव को लक्ष्य में लेकर देखें तो यह आत्मा शुद्ध एकरूप ही है। उसकी पर्याय का विकारी भाव में अटकना भावबंध है और उस भावबंध में कर्म का निमित्त होना – यह द्वितीयपना है, द्वैत है। इसप्रकार बंध में द्वैत है।

इसीप्रकार स्वभाव में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करने में भी कर्म के नाश की अपेक्षा होने से द्वैत है।

इसप्रकार पर की अपेक्षा से बंध और मोक्ष पर्याय का कथन करना व्यवहारनय है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष – दोनों में ही द्वैत की अपेक्षा रखनेवाला है।

यहाँ एकरूप आत्मा में बंध और मोक्ष – इसप्रकार दो भेद पड़े, इसलिए व्यवहार कहा गया हो – सो बात नहीं है, अपितु बंध और मोक्ष – इन दोनों पर्यायों में पर की अपेक्षा रूप द्वैत होने से व्यवहार कहा गया है।

कर्म की अपेक्षा न लेकर यह कहना कि आत्मा अकेला ही बंध-मोक्ष रूप होता है, निश्चयनय है।

इसप्रकार यहाँ बंध-मोक्ष पर्याय का कथन निमित्त की अपेक्षा सहित करना व्यवहारनय है और निमित्त की अपेक्षा लिए बिना करना निश्चयनय है।

जहाँ जिस अपेक्षा से व्यवहारनय-निश्चय का कथन किया गया हो, वहाँ उसी अपेक्षा से समझना योग्य है।

उक्त कथन का आशय यह नहीं है कि पुद्गलकर्म जीव को भावबंध कराता है; अपितु आत्मा में ही एक ऐसा धर्म है कि स्वयंकृत भावबंध में वह पुद्गलकर्म का अनुसरण करता है।[2]

यहाँ जो यह कहा जा रहा है कि निश्चयनय से आत्मा बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, उसमें आत्मा का त्रिकाल एकरूप स्वभाव जो कि दृष्टि का विषय है, वह नहीं लेना। यहाँ तो बंध-मोक्ष पर्याय में अकेला आत्मा ही परिणमता है – इसप्रकार अकेले आत्मा की अपेक्षा से बंध-मोक्ष पर्याय को लक्ष्य में लेने की बात है।

बंधपर्याय में भी अकेला आत्मा परिणमित होता है और मोक्षपर्याय में भी अकेला आत्मा ही परिणमित होता है – इसप्रकार बंध - मोक्ष पर्याय निरपेक्ष हैं; इसलिए निश्चय से आत्मा बंध एवं मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है; इसप्रकार का भगवान आत्मा में एक धर्म है।[3]

---

[1] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ३०२-३०३

[2] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ३०६

[3] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ३१२

आत्मा स्वयं ही स्वयं की पर्याय में ही बँधता है और स्वयं ही स्वयं की पर्याय में ही मुक्त होता है – इसप्रकार बंध-मोक्ष में स्वयं अकेला ही होने से निश्चय से आत्मा अद्वैत का अनुसरण करता है। निश्चय से बंध व मोक्ष में आत्मा अपने भाव का ही अनुसरण करता है, पर का अनुसरण नहीं करता। वह स्वयं विकाररूप परिणमित होकर विकार से बँधता है और स्वयं शुद्ध चैतन्यस्वभाव का आश्रय लेकर स्वयं ही शुद्धभावरूप परिणमित होकर मुक्त होता है।

इस विधि से निश्चय से आत्मा बंध-मोक्ष में स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य का अनुसरण नहीं करता; इसलिए यह कहा जाता है कि आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है – इसप्रकार का आत्मा का एक धर्म है।[१]''

इस अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक व्यवहार नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करता है और एक निश्चय नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करता है।

भगवान आत्मा के इन व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म को विषय बनाने वाले नयों को क्रमशः व्यवहारनय और निश्चयनय कहते हैं।

व्यवहार और निश्चयनयों की जो परिभाषाएँ अन्य प्रकरणों में आती हैं, उनसे इन व्यवहार-निश्चयनयों का कोई संबंध नहीं है, उन्हें इन पर घटित करना उचित नहीं है; क्योंकि ये नय तो भगवान आत्मा के अनन्तधर्मों में से एक-एक धर्म को विषय बनानेवाले एक-एक नय हैं।

## (४६-४७) अशुद्धनय और शुद्धनय

**''अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम्। शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधिस्वभावम्।**[२]

आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र के समान सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से केवल मिट्टी के समान निरुपाधिस्वभाववाला है।''

जिसप्रकार मिट्टी अपने सोपाधिस्वभाव के कारण घट, रामपात्र आदि पर्यायों में परिणमित होती है और निरुपाधिस्वभाव के कारण मिट्टीरूप ही रहती है; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा भी अपने सोपाधिस्वभाव के कारण

---

[१] नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ३१३-३१४

[२] 'प्रवचनसार' तत्त्वप्रदीपिका टीका का परिशिष्ट

रागादिरूप परिणमित होता हुआ अशुद्ध होता है और निरुपाधिस्वभाव के कारण सदा शुद्ध ही रहता है।

अनन्तधर्मात्मक इस भगवान आत्मा में अन्य अनन्त धर्मों के समान एक अशुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा विकारी भावरूप परिणमित होता है और एक शुद्ध नामक धर्म भी है, जिसके कारण यह भगवान आत्मा सदा एकरूप ही रहता है। इन अंशुद्ध और शुद्ध धर्मों को सोपाधिस्वभाव और निरुपाधिस्वभाव भी कहते हैं। भावरूप परिणमित होना ही सोपाधिस्वभाव है और सदा एकरूप रहना ही निरुपाधिस्वभाव है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा अशुद्ध भी है और शुद्ध भी है। अशुद्धधर्म के कारण रागादिरूप परिणमित होता है, अतः अशुद्ध है और शुद्धधर्म के कारण सदा एकरूप रहता है, अतः शुद्ध है। इसे इसप्रकार भी कह सकते हैं कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला है और शुद्धनय से निरुपाधिस्वभाववाला है।

भगवान आत्मा के इन सोपाधिस्वभाव व निरुपाधिस्वभाव अर्थात् अशुद्धधर्म व शुद्धधर्म को विषय बनानेवाले नय ही क्रमशः अशुद्धनय व शुद्धनय हैं।

अशुद्धनय के माध्यम से यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारीभाव भी पर के कारण उत्पन्न नहीं होते, उनकी उत्पत्ति के कारण भी आत्मा में ही विद्यमान हैं। यदि आत्मा में अशुद्धधर्म नामक धर्म नहीं होता तो दुनिया की कोई भी शक्ति उसे रागादिभावरूप परिणमित नहीं करा सकती थी।

इस सन्दर्भ में 'नयप्रज्ञापन' का कथन इसप्रकार है :–

''यदि इसप्रकार का धर्म भगवान आत्मा में स्वयं का नहीं होता तो अन्य अनन्त परद्रव्य इकट्ठे होकर आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते थे। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक जो उपाधिभाव – विकारभाव – उदयभाव – संसारभाव होते हैं, उन्हें आत्मा स्वयं ही धारण किये रहता है, क्योंकि अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है।

जिसप्रकार रागादिरूप परिणमित होना आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है, उसीप्रकार ये रागादिभाव पर के कारण भी नहीं होते।

यद्यपि लक्ष्मी, शरीर, स्त्री-पुत्रादि, घर-बार दुकान आदि पर पदार्थों की उपाधि भगवान आत्मा में नहीं है, तथापि अशुद्धनय से रागादि विकारीभावरूप उपाधिवाला तो यह आत्मा है ही। 'उपाधि' शब्द से यहं तो स्पष्ट ही है कि यह

भगवान आत्मा का त्रिकाली मूलस्वभाव नहीं है, मात्र पर्याय में एकसमय की उपाधि है।[१]

यद्यपि क्षणिक पर्याय में अशुद्धता है – इस अपेक्षा से उपाधि है, तथापि सामान्यस्वभाव की अपेक्षा आत्मा में उपाधि नहीं है। उपाधि के काल में भी यह भगवान आत्मा निरुपाधिस्वभाववाला भी है। एकसमय में ही यह आत्मा इसप्रकार के अनेक धर्मोंवाला है और शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना ही इन सभी धर्मों के जानने का फल है।"[२]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह भगवान आत्मा अशुद्धनय से सोपाधिस्वभाववाला अर्थात् अशुद्ध है और शुद्धनय से निरुपाधिस्वभाववाला अर्थात् शुद्ध है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है।

इसप्रकार ४७ धर्मों के माध्यम से भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले ४७ नयों का संक्षिप्त स्वरूप कहा। इन नयों की विस्तृत जानकारी के लिए आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की कृति नय प्रज्ञापन का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए।

—o—

वस्तुतः जगत पीला नहीं है, किन्तु हमें पीलिया हो गया है; अतः जगत पीला दिखाई देता है। इसीप्रकार जगत में तो असत्य की सत्ता ही नहीं है; पर असत्य हमारी दृष्टि में ऐसा समा गया है कि वह जगत में दिखाई देता है।

सुधार भी जगत का नहीं; अपनी दृष्टि का, अपने ज्ञान का करना है। सत्य का उत्पादन नहीं करना है, सत्य तो है ही; जो जैसा है, वही सत्य है। उसे सही जानना है, मानना है। सही जानना-मानना ही सत्य प्राप्त करना है। और आत्मसत्य को प्राप्त कर राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागतारूप परिणति होना सत्यधर्म है। – **धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ ७६**

---

१. नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ३२१
२. नयप्रज्ञापन (गुजराती), पृष्ठ ३२५

### षष्ट अध्याय

# सप्तभंगी

विविध प्रकार के विविध नयों के विस्तृत विवेचन के उपरान्त अब सप्तभंगी की चर्चा प्रसंग प्राप्त है; क्योंकि यथास्थान अनेक प्रसंगों में इसकी चर्चा आई है।

यद्यपि ४७ नयों के प्रकरण में सप्तभंगी सम्बन्धी अस्तित्वनय, नास्तित्वनय आदि ७ नयों की चर्चा हो चुकी है, तथापि यहाँ सप्तभंगी सम्बन्धी सामान्य जानकारी दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

सप्तभंगी दो प्रकार की होती है :—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी।

नय सप्तभंगी के निरूपण के बिना नयों की चर्चा अधूरी ही रहेगी। अतः इस अध्याय में सप्तभंगी पर संक्षिप्त विवेचन अपेक्षित है।

किसी भी वस्तु के प्रतिपादन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम एक बात सामने आती है कि उसका प्रतिपादन सम्भव भी है या नहीं? यदि वाणी द्वारा किसी वस्तु का प्रतिपादन सम्भव ही न हो तो फिर व्यर्थ के बौद्धिक व्यायाम से क्या लाभ है?

यह प्रश्न उठना अस्वाभाविक भी नहीं है; क्योंकि जिनवाणी के मूल प्रतिपाद्य भगवान आत्मा को स्थान-स्थान पर वचन-अगोचर, वचनातीत, विकल्पातीत कहा गया है।

अतः वस्तु के प्रतिपादन में मूल प्रश्न यह है कि वह वक्तव्य है या अवक्तव्य?

स्याद्वादी जिनागम इसका यही उत्तर देता है कि वस्तु कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य है।

अब यदि हम वस्तु के अस्तित्व के सन्दर्भ में विचार करें तो सर्वप्रथम तो यही प्रश्न उपस्थित होगा कि वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है या नहीं?

यदि कहा जा सकता है तो क्या कहा जा सकता है? और यदि नहीं कहा जा सकता है तो क्या नहीं कहा जा सकता है?—यह सब स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है।

कहे जा सकने के सन्दर्भ में तीन स्थितियाँ बनती हैं :-(१) अस्तित्व कहा जा सकता है (२) नास्तित्व कहा जा सकता है और (३) क्रम से अस्तित्व-नास्तित्व दोनों कहे जा सकते हैं।

नहीं कहे जा सकने के संदर्भ में चार स्थितियाँ बनती हैं :-(१) कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। (२) अस्तित्व नहीं कहा जा सकता है। (३) नास्तित्व नहीं कहा जा सकता है, और (४) अस्तित्व-नास्तित्व दोनों एकसाथ नहीं कहे जा सकते हैं।

इसप्रकार तीन भंग वक्तव्य सम्बन्धी और चार भंग अवक्तव्य सम्बन्धी; कुल मिलाकर अस्तित्व-नास्तित्व सम्बन्धी सात भंग हो गये, जिन्हें हम कथंचित् शब्द लगाकर इसप्रकार व्यक्त करते हैं :-

(१) कथंचित् घट है (२) कथंचित् घट नहीं है (३) कथंचित् घट है भी और कथंचित् घट नहीं भी है (४) कथंचित् घट अव्यक्तव्य है (५) कथंचित् घट है और अवक्तव्य है (६) कथंचित् घट नहीं है और अव्यक्तव्य है और (७) कथंचित् घट है, कथचित् नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य है।

इसीप्रकार एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भिन्न-अभिन्न, द्वैत-अद्वैत आदि के सन्दर्भ में भी सात-सात भंग बनते हैं।

इन सात भंगों के समाहार को ही सप्तभंगी कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में सात भंगो की चर्चा इसप्रकार की है :-

**"सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।**
**दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ।।**[1]

आदेश के वश में द्रव्य कथंचित् है, कथंचित् नहीं है, कथंचित् है भी और नहीं भी है, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् अति अवक्तव्य है, कथंचित् नास्ति अवक्तव्य है, कथंचित् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है। प्रत्येक द्रव्य इसप्रकार के सात भंगवाला है।"

उक्त सात भंगों की अपेक्षा स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र उसी गाथा की टीका में लिखते हैं :-

"यहाँ सर्वथापने का निषेधक, अनेकान्त का द्योतक 'स्यात्' शब्द 'कथंचित्' ऐसे अर्थ में अव्ययरूप में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ (१) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किये जाने पर 'अस्ति' है, (२) द्रव्य परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किये जाने पर 'नास्ति' है, (३) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से क्रमशः कथन

---

[1] पंचास्तिकाय, गाथा १४

किये जाने पर 'अस्ति और नास्ति' है, (४) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से युगपद् कथन किये जाने पर 'अवक्तव्य' है, (५) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और युगपद् स्वपर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किये जाने पर 'अस्ति और अवक्तव्य' है, (६) द्रव्य परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किये जाने पर 'नास्ति और अवक्तव्य' है, (७) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और युगपद् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किये जाने पर 'अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य' है।

यह अयोग्य नहीं है, क्योंकि सर्व वस्तु (१) स्वरूपादि से 'अशून्य' है, (२) पररूपादि से 'शून्य' है, (३) स्वरूपादि से और पररूपादि से 'अशून्य और शून्य' है, (४) स्वरूपादि से और पररूपादि से एक ही साथ 'अवाच्य' है। भंगों के संयोग से कथन करने पर (५) 'अशून्य और अवाच्य' है, (६) 'शून्य और अवाच्य' है, (७) 'अशून्य, शून्य और अवाच्य' है।''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक ही द्रव्य सात भंगरूप कैसे हो सकता है?

इसीप्रकार का प्रश्न आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय की गाथा १४ की टीका में स्वयं उठाया है और उसका उत्तर इसप्रकार दिया है :–

''जिसप्रकार एक ही देवदत्त नामक पुरुष मुख्य और गौण विवक्षा से अनेक प्रकार का हो जाता है; पुत्र की अपेक्षा पिता, पिता की अपेक्षा पुत्र; मामा की अपेक्षा भानजा, भानजे की अपेक्षा मामा; पत्नी की अपेक्षा पति और बहिन की अपेक्षा भाई कहा जाता है, शत्रु की अपेक्षा शत्रु और मित्र की अपेक्षा मित्र कहा जाता है; इसीप्रकार एक द्रव्य विभिन्न अपेक्षाओं से सात भंगवाला हो सकता है; उसके सात भंगरूप होने में कोई दोष नहीं है।

यह तो सामान्य कथन हुआ, सूक्ष्म व्याख्या से सत्, एक, नित्य आदि धर्मों में से प्रत्येक धर्म में भिन्न-भिन्न सप्तभंगी लगाई जानी चाहिए।

किसप्रकार?

स्यादस्ति, स्याद् नास्ति, स्याद् अस्ति-नास्ति, स्याद् अवक्तव्य आदि के समान स्यादेकं, स्यादनेकं, स्यादेकानेकं, स्यादवक्तव्यं इत्यादि; स्यान्नित्यं, स्यादनित्यं, स्यान्नित्यानित्यं, स्यादवक्तव्यं इत्यादि।

इस बात को किस द्रष्टान्त से समझें?

इसे भी उसी देवदत्त नामक पुरुष के द्रष्टान्त से समझा जा सकता है। जैसे–वह देवदत्त स्याद्पुत्रः, स्यादपुत्रः, स्याद्पुत्रापुत्रः इत्यादि रूप है।''

तात्पर्य यह है कि विभिन्न अपेक्षाओं से देवदत्त पुत्र भी है, पिता भी है, मामा भी है, भानजा भी है, भाई भी है, पति भी है, शत्रु भी है, मित्र भी है; यह

तो ठीक पर उसी देवदत्त के इन विभिन्न रूपों में से प्रत्येक रूप पर सात-सात भंग घटित हो सकते हैं। जैसे वह पुत्र भी है, अपुत्र भी है, पुत्रापुत्र भी है इत्यादि; मामा भी है, अमामा भी है, मामा-अमामा भी है इत्यादि; पिता भी है, अपिता भी है, पिता-अपिता भी है, इत्यादि।

प्रत्येक द्रव्य में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भाव-अभाव आदि जितने भी धर्मयुगल हैं; उन सभी पर ये सात भंग अवतरित होते हैं।

वस्तु के प्रत्येक धर्म में सप्तभंगी की योजना की जा सकती है और वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए करनी भी चाहिए—इस बात को स्पष्ट करते हुए माइल्लधवल लिखते हैं :—

"**एकणिरुद्धे इयरो पडिवक्खो अवरेय सब्भावो ।**
**सव्वेसिं स सहावे कायव्वा होइ तह भंगा**[1] ।।

वस्तु के किसी एक धर्म को ग्रहण करने पर उसका प्रतिपक्षी धर्म भी ग्रहण करने में आता है; क्योंकि वे दोनों ही धर्म वस्तु के स्वभाव हैं। वस्तु के सभी धर्मों में सप्तभंगी की योजना करनी चाहिए।"

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि जब प्रत्येक वस्तु में अनन्तधर्म हैं तो भंग भी अनन्त ही होने चाहिए, यहाँ मात्र सात ही भंग क्यों बताये जा रहे हैं?

भाई, बात यह है कि वस्तु में अनन्तधर्म होने से अनन्त सप्तभंगियाँ तो हो सकती हैं, पर वस्तु के एक धर्म सम्बन्धी भंग तो सात ही होते हैं। स्याद्वादमंजरी में इस सन्दर्भ में जो उल्लेख प्राप्त है, वह इसप्रकार है :—

"**न च वाच्यमेकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभंगीप्रसगांद् असंगतैव सप्तभंगीति। विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुनि अनन्तानामपि सप्तभंगीनामेव सम्भवात्** ।[2]

**प्रश्न** :—यदि आप प्रत्येक वस्तु में अनन्तधर्म मानते हो, तो अनन्तभंगों की कल्पना न करके वस्तु में केवल सात ही भंगों की कल्पना क्यों करते हो?

**उत्तर** :—प्रत्येक वस्तु में अनन्तधर्म होने के कारण वस्तु में अनन्तभंग होते हैं, पर ये अनन्तभंग विधि और निषेध की अपेक्षा सात ही हो सकते हैं।"

तात्पर्य यह है कि भंग अनन्त हो सकते हैं, सप्तभंगियाँ भी अनन्त हो सकती हैं; पर अनन्तभंगी नहीं होती।

चाहे प्रमाण से प्रतिपादन किया जा रहा हो चाहे नय से, पर भंग तो सात ही होते हैं। —इस परमसत्य की घोषणा नयचक्र में इसप्रकार की गई है:—

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २५९

[2] जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग-४, पृष्ठ ३१९

"सत्तेव हुंति भंगा पमाणणयदुणयभेदजुत्तावि ।
सियसावेक्खपमाणा णएण णय दुणय णिरवेक्खा ।।
अत्थित्ति णत्थि दोवि य अव्वत्तव्वं सिएण संजुत्तं ।
अव्वत्तव्वा ते तह पमाणभंगी सुणायव्वा ।।
अत्थिसहावं दव्वं सद्दव्वादीसु गाहियणएण ।
तं पिय णत्थिसहावं परदव्वादीहि गहिएण ।।
उहयं उहयणएण अव्वत्तव्वं च णाण समुदाए ।
ते तिय अव्वत्तव्वा णियणियणयअत्थसंजोए ।।
अत्थेव णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं तहेव पुण तिदयं ।
तह सिय णयणिरवेक्खं जाणसु दव्वे दुणयभंगी[1] ।।

प्रमाण, नय और दुर्नय के भेद से युक्त सात ही भंग होते हैं। स्यात् सापेक्ष भंगों को प्रमाण कहते हैं, नय से युक्त भंगों को नय कहते हैं और निरपेक्ष भंगों को दुर्नय कहते हैं।

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, और स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य—ये प्रमाण सप्तभंगी जानना चाहिए।

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से द्रव्य अस्तिरूप है; परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नास्तिरूप है; स्वद्रव्यादि चतुष्टय एवं परद्रव्यादि चतुष्टय से अस्ति-नास्तिरूप है; दोनों धर्मों को एक साथ कहने की अपेक्षा अवक्तव्य है।

इसीप्रकार अपने-अपने नय के साथ अर्थ की योजना करने पर द्रव्य अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।

स्यात् पद या नय की अपेक्षा लगाये बिना ही यह कहना कि वस्तु अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, अस्ति-नास्तिरूप ही है, अवक्तव्य ही है, अस्ति अवक्तव्य ही है, नास्ति अवक्तव्य ही है एवं अस्ति-नास्ति अवक्तव्य ही है—दुर्नय सप्तभंगी है।"

उक्त कथन में एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि नय सप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट कर दी जाती है और प्रमाण सप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट न करके उसके स्थान पर 'स्यात्' या 'कथंचित्' पद का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि उक्त कथन में स्पष्ट किया गया है। उक्त कथन में—'वस्तु किसी अपेक्षा अस्तिरूप है, किसी अपेक्षा नास्तिरूप है, किसी अपेक्षा अस्ति-नास्तिरूप है, किसी अपेक्षा अवक्तव्य है'—आदि को प्रमाण सप्तभंगी का उदाहरण बताया गया है

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, गाथा २५४ से २५८

और स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है—आदि को नय सप्तभंगी का उदाहरण बताया गया है।

प्रमाण सप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट नहीं की गई है, मात्र इतना कह दिया गया है कि किसी अपेक्षा; पर नय सप्तभंगी में अपेक्षा स्पष्ट कर दी गई है।—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी में यही मूलभूत अन्तर है।

दूसरी बात यह है कि प्रमाण सप्तभंगी में 'भी' का प्रयोग है और नय सप्तभंगी में 'ही' का प्रयोग होता है।

वस्तु कथंचित् अस्तिरूप भी है, नास्तिरूप भी है, अस्ति-नास्तिरूप भी है, अवक्तव्य भी है आदि प्रमाण सप्तभंगी के प्रयोग हैं और स्वचतुष्टय की अपेक्षा वस्तु अस्तिरूप ही है, परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप ही है आदि प्रयोग नय सप्तभंगी के हैं।

बिना अपेक्षा बताये ही 'ही' का प्रयोग करना दुर्नय सप्तभंगी है।

नयचक्रकार ने 'स्यात्' पद सहित वाक्य को प्रमाण-वाक्य कहा है और 'स्यात्' पद के साथ एवकार (ही) सहित वाक्य को नय वाक्य कहा है। यही बात आचार्य जयसेन ने पंचास्तिकाय और प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीकाओं में कही है। पंचास्तिकाय की १४वीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में उन्होंने लिखा है कि 'स्यादस्ति' यह वाक्य सम्पूर्ण वस्तु का बोध कराता है; अतः प्रमाण वाक्य है और 'स्यादस्त्यैव द्रव्यं' यह वाक्य वस्तु के एक धर्म का ग्राहक होने से नयवाक्य है।

प्रवचनसार की ११५वीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में वे लिखते हैं कि पंचास्तिकाय में 'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्य से प्रमाण सप्तभंगी का कथन किया है और यहाँ 'स्यादस्त्येव' वाक्य से जो एवकार का ग्रहण किया है, वह नय सप्तभंगी बतलाने के लिए है।

आचार्य जयसेन का वह मूल वाक्य इसप्रकार है :—

**"पूर्व पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभंगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव, यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभंगीज्ञापनार्थमिति भावार्थः। यथेदं नयसप्तभंगी व्याख्यानं शुद्धात्मद्रव्ये दर्शितं तथा यथासंभव सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति।**[1]

पहले पंचास्तिकाय में स्यादस्ति इत्यादि प्रमाणवाक्य द्वारा प्रमाण सप्तभंगी का व्याख्यान किया था; पर यहाँ स्यादस्त्येव में जो एवकार (ही) का ग्रहण किया गया है, वह नयसप्तभंगी बताने के लिए है।

यहाँ जिसप्रकार शुद्धात्मद्रव्य पर नयसप्तभंगी घटित की गई है, उसे यथासंभव सर्वपदार्थों पर घटित कर लेना चाहिए।"

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ११५ की तात्पर्यवृत्ति टीका

अनेकान्तात्मक वस्तु के स्वरूप के अधिगम एवं प्रतिपादन के रूप में प्रमाण और नयों की उपयोगिता असंदिग्ध है। जब प्रमाण के माध्यम से वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है, तब प्रमाण सप्तभंगी अवतरित होती हैं और जब नयों के माध्यम से वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन होता है, तब नय सप्तभंगी अवतरित होती है।

प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रोफेसर उदयचन्दजी जैन लिखते हैं :–

''ये सातों ही भंग जब सकलादेशी होते हैं तब प्रमाण, और जब विकलादेशी होते हैं तब नय कहे जाते हैं। इसप्रकार सप्तभंगी प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी के रूप में दो प्रकार की हो जाती है। सकलादेश एक धर्म के द्वारा समस्त वस्तु को अखण्डरूप से ग्रहण करता है और विकलादेश एक धर्म को प्रधान तथा शेष धर्मों को गौण करके वस्तु का ग्रहण करता है। 'स्याज्जीव एव' यह वाक्य अनन्त धर्मात्मक जीव का अखण्डभाव से बोध कराता है, अतः यह सकलादेशात्मक प्रमाणवाक्य है। और 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्य में जीव के अस्तित्व धर्म का मुख्यरूप से कथन होता है; अतः यह विकलादेशात्मक नयवाक्य है। सकलादेश में धर्मिवाचक शब्द के साथ एवकार का प्रयोग होता है और विकलादेश में धर्मवाचक शब्द के साथ उसका प्रयोग होता है।[1]

दुर्नय सप्तभंगी वस्तुतः सप्तभंगी ही नहीं है, वह तो सप्तभंगी का आभासमात्र है; अतः मूलतः तो सप्तभंगी दो प्रकार की ही होती है—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी; यदि दुर्नय सप्तभंगी को भी शामिल करलें तो तीन प्रकार भी कह सकते हैं।

दुर्नय सप्तभंगी के समान दुष्प्रमाण सप्तभंगी की भी कल्पना की जा सकती है; क्योंकि पंचास्तिकाय की १४वीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में आचार्य जयसेन ने दुर्नयवाक्य के समान दुष्प्रमाण वाक्य की भी चर्चा की है, जो इसप्रकार है :–

''**अस्ति द्रव्यमितिदुःप्रमाण वाक्यं अस्त्यैव द्रव्यमिति दुर्नयवाक्यम्।**

'द्रव्य है'—यह दुष्प्रमाण वाक्य है और 'द्रव्य है ही'—यह दुर्नय वाक्य है।''

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि नयसप्तभंगी नय है और दुर्नयसप्तभंगी नयाभास तथा प्रमाणसप्तभंगी प्रमाण है और दुष्प्रमाणसप्तभंगी प्रमाणाभास। ध्यान रहे प्रमाण और नय ही तत्त्वार्थों के अधिगम के उपाय हैं, प्रमाणाभास और नयाभास नहीं।

---

[1] आप्तमीमांसा तत्वदीपिका, प्रस्तावना पृष्ठ ९८

सप्तभंगी के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले कतिपय महत्त्वपूर्ण अन्य कथन इसप्रकार हैं :–

''**सैषानयविनियोगपरिपाटी सप्तभंगीत्युच्यते, भंगशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात् सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगीति सिद्धेः।**[1]

नयों के कथन करने की इस शैली को ही सप्तभंगी कहते हैं। यहाँ भंग शब्द वस्तु के स्वरूप विशेष का प्रतिपादक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सात भंगों के समूह को सप्तभंगी कहते हैं।

**प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी।**[2]

प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधि-प्रतिषेध धर्मों की कल्पना करना सप्तभंगी है।

**एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाणनयवाक्यतः ।**
**सदादिकल्पना या च सप्तभंगीति सा मता ।।**[3]

प्रमाणवाक्य से अथवा नयवाक्य से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से जो सत्-असत् आदि धर्मों की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहते हैं।''

सप्तभंगी के उक्त विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है कि जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो हमारे चित्त में उस वस्तु के अस्तित्वादि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न खड़े होते हैं और उनके उत्तर जानने की तीव्र जिज्ञासा भी पैदा होती है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वस्तु के अस्तित्वादि सम्बन्धी वे जिज्ञासाएँ सात प्रकार की ही होती हैं और उनके उत्तर भी सात प्रकार से ही दिये जाते हैं। उन सात प्रकार की जिज्ञासाओं को ही यहाँ सात भंग कहा गया है।

उक्त संदर्भ में सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्दजी का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :–

''चूँकि वे वाक्य सात ही होते हैं, इसलिए उन्हें सप्तभंगी कहते हैं। शायद कोई कहे कि वस्तु में विधि (है) की कल्पना ही सत्य है, इसलिए केवल विधिवाक्य 'है' ही ठीक है; किन्तु ऐसी मान्यता उचित नहीं है, निषेधकल्पना 'नास्ति' भी यथार्थ है। यदि कोई कहे कि निषेधकल्पना ही यथार्थ है तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु केवल अभावरूप ही नहीं है।

यदि कोई कहे कि वस्तु के अस्तित्वधर्म का कथन करने के लिए

---

[1] न्यायदीपिका, तृतीय प्रकाश, पृष्ठ १२७

[2] राजवार्तिक, प्रथम अध्याय, पृष्ठ ३३

[3] पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ ३०

विधिवाक्य और नास्तित्वधर्म का कथन करने के लिए निषेधवाक्य—ये दो ही वाक्य हैं, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। पहले विधिवाक्य और दूसरे निषेधवाक्य में एक-एक धर्म की ही प्रधानता है, किन्तु तीसरे वाक्य 'स्यादस्ति-नास्ति' में दोनों ही धर्म प्रधान हैं। उसका कथन केवल विधिवाक्य या केवल निषेधवाक्य से नहीं किया जा सकता।

यदि कोई कहे कि तीन ही वाक्य पर्याप्त हैं तो यह भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि एकसाथ दोनों धर्मों का प्रधानरूप से कथन करने की विवक्षा में चतुर्थ 'स्यादवक्तव्य' वाक्य भी आवश्यक है।

शायद कोई कहे कि चार ही वाक्य पर्याप्त हैं तो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विधि-निषेध और विधि-निषेध के साथ अवक्तव्य को विषय करनेवाले तीन अन्य वाक्य भी आवश्यक हैं।

इसप्रकार विधिकल्पना, निषेधकल्पना, क्रम से विधि-निषेधकल्पना, एकसाथ विधि-निषेधकल्पना, विधिकल्पना सहित एकसाथ विधि-निषेधकल्पना, निषेधकल्पना सहित एक साथ विधि-निषेधकल्पना और क्रम से तथा एकसाथ विधि निषेधकल्पना—ये सात भंग होते हैं।

प्रत्यक्षादि से विरुद्ध विधि-निषेधकल्पना का नाम सप्तभंगी नहीं है, प्रत्क्षादि से विरोधरहित विधि-निषेधकल्पना का नाम सप्तभंगी है।

इसके साथ ही अनेक वस्तुओं में पाये जाने वाले धर्मों को लेकर सप्तभंगी प्रवर्तित नहीं होती, किन्तु एक ही वस्तु के धर्म को लेकर सप्तभंगी प्रवर्तित होती है।

एक वस्तु में पाये जानेवाले अनन्तधर्मों को लेकर एक ही वस्तु में अनन्त सप्तभंगियाँ भी हो सकती हैं।

चूँकि प्रश्न के प्रकार सात ही होते हैं, इसलिए भंग भी सात ही होते हैं। इसलिए सप्तभंगी के लक्षण में 'प्रश्नवश' यह पद रखा गया है। सात प्रकार के प्रश्नों का कारण है जिज्ञासा के सात प्रकारों का होना और जिज्ञासा के सात प्रकारों का होने का कारण है संशय के प्रकारों का सात होना। और सात प्रकार के संशय का कारण है संशयविषयक वस्तुधर्म के सात ही प्रकार होना।[1]

सात भंगों के सन्दर्भ में सप्तभंगी तरंगणी में भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है :—

**"प्रतिपाद्य प्रश्नानां सप्तविधानामेव सद्भावात् सप्तैव भंगा इति। ननु प्रश्नानां सप्तविधत्वं कथमिति चेत्; जिज्ञासानां सप्तविधत्वात्।**

---

[1] द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र पृष्ठ १२९/१३०

**ननु सप्तधैव जिज्ञासा कुत इति चेत् सप्तधा संशयानामुत्पत्तेः। संशयानां सप्तविधत्वन्तु तद्विषयीभूत धर्माणां सप्तविधत्वात्।**[1]

प्रतिपाद्य प्रश्नों के सात प्रकार होने से सात ही भंग होते हैं।

**प्रश्न** :—प्रश्न सात ही क्यों होते हैं?

**उत्तर** :—क्योंकि जिज्ञासाएँ सात प्रकार की होती हैं।

**प्रश्न** :—जिज्ञासाएँ सात ही प्रकार की क्यों होती हैं?

**उत्तर** :—क्योंकि संशय भी सात प्रकार के ही उत्पन्न होते हैं।

**प्रश्न** :—संशय सात प्रकार के क्यों उत्पन्न होते हैं?

**उत्तर** :—संशयों के विषयभूत धर्म ही सात प्रकार के होते हैं।''

उक्त सात भंगों में पहला, दूसरा और चौथा ये तीन मूल भंग हैं और शेष चार भंग संयोगी भंग हैं, जो मूल भंगों के संयोग से बनते हैं। इसप्रकार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य असंयोगी मूल भंग हैं; अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य और नास्ति-अवक्तव्य ये तीन द्विसंयोगी भंग हैं और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य यह एक त्रिसंयोगी भंग है।

पंचाध्यायीकार आरम्भ के दो भंगों को वर्णस्थानीय भंग कहते हैं और शेष भंगों को पदस्थानीय भंग कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार वर्ण (अक्षर) अकेले होते हैं, असंयोगी होते हैं; उसीप्रकार आरंभ के दो भंग असंयोगी होते हैं। तथा जिसप्रकार पद अक्षरों से मिलकर बनते हैं; अतः संयोगी होते हैं; उसीप्रकार शेष भंग भी संयोगी होते हैं।

पंचाध्यायीकार का मूल कथन इसप्रकार है :—

**''सर्वत्र क्रम एव द्रव्ये क्षेत्रे तथाऽर्थे काले च ।**
**अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः ।।२८७।।**
**अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पंचशेषभंगाश्च ।**
**वर्णवदुक्तद्वयमिह पदवच्छेशास्तु तयोधात् ।।२८८।।**

सर्वत्र अर्थात् नित्य-अनित्य आदि शेष अन्य सभी युगलों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा यही क्रम जानना चाहिये। इसमें अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से जो विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है।

इसप्रकार अस्ति नास्ति आदि चार युगलों की अपेक्षा दो भंग कहे। शेष पाँच भंग भी इसी प्रक्रिया से घटित कर लेना चाहिए। इन सातों भंगों में दो भंग वर्ण स्थानीय कहे गये हैं। किन्तु शेष पाँच भंग इनके सम्बन्ध से बनते हैं, अतः वे पद स्थानीय जानना चाहिये।''

उक्त प्रकरण पर विशेषार्थ लिखते हुए व्याख्यानवाचस्पति पण्डित

---

[1] सप्तभंगी तरंगणी, पृष्ठ ४-५

देवकीनन्दनजी सिद्धांतशास्त्री ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे अत्यन्त उपयोगी हैं; उन विचारों का महत्वपूर्ण अंश इसप्रकार है :–

"वाक्य दो प्रकार के होते हैं–प्रमाणवाक्य और नयवाक्य। यों साधारणतया प्रमाणवाक्य और नयवाक्य का विश्लेषण करना कठिन है, क्योंकि यह सब वक्ता की विवक्षा पर निर्भर करता है। बहुत से विद्वान धर्मीवचन को प्रमाणवाक्य और धर्मवचन को नय वाक्य कहते हैं, पर धर्मी धर्म के बिना और धर्म धर्मी के बिना नहीं पाया जाता; इसलिए ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। इसप्रकार जब वाक्य दो प्रकार के होते हैं तो सप्तभंगी भी दो तरह की हो जाती है।

इन सात भंगों में पहला और दूसरा भंग स्वतंत्र होता है और शेष पांच भंग संयोग से बनते हैं। इसी से ग्रन्थकर्ता ने प्रथम दो भंगों को वर्णस्थानीय और शेष पाँच भंगों को पदस्थानीय बतलाया है।

इन सात भंगों में से प्रथम भंग में प्रधानरूप से सत्व धर्म की प्रतीति होती है। दूसरे भंग में प्रधानरूप से नास्तितत्व धर्म की प्रतीति होती है। तीसरे भंग में विवक्षाभेद से क्रम से प्रमुखता को प्राप्त हुए दोनों धर्मों की प्रतीति होती है। चौथे भंग में एक साथ दोनों की प्रधानता होने से अवक्तव्यरूप धर्म की प्रतीति होती है। पाँचवें भंग में अवक्तव्य विशिष्ट सत्व धर्म की प्रतीति होती है। छटे भंग में नास्तितत्व विशिष्ट अवक्तव्य धर्म की प्रतीति होती है। और सातवें भंग में क्रम से प्रमुखता को प्राप्त हुए अस्तितत्व और नास्तितत्व विशिष्ट अवक्तव्य धर्म की प्रतीति होती है।

यद्यपि प्रथमादि भंगों में नास्तितत्व आदि धर्मों का उल्लेख नहीं किया जाता, तथापि वे वहाँ गौण रहते हैं, इतना मात्र इसका अर्थ लेना चाहिये।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि क्रम से या युगपत् कहने की अपेक्षा से ही तृतीयादि भंग बनते हैं; इसलिए उन्हें वस्तु के धर्म मानना उचित नहीं। वस्तु के धर्म केवल पहला और दूसरा भंग ही हो सकता है। किन्तु विचार करने पर यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि जिसप्रकार पकार और टकार की अपेक्षा पट पद भिन्न हैं; उसीप्रकार प्रथम और द्वितीय भंगों के द्वारा कहे गये धर्मों की अपेक्षा तृतीयादि भंगों के द्वारा कहे गये धर्म भिन्न हैं।

एक यह प्रश्न किया जाता है कि क्रमार्पित उभयरूप तीसरे भंग की अपेक्षा सहार्पित उभयरूप चौथे भंग में कोई भेद नहीं, क्योंकि क्रम और अक्रम ये शब्दनिष्ठ हैं अर्थनिष्ठ नहीं; इसलिए इनसे अर्थ में भिन्न दो धर्मों की प्रतीति नहीं होती। पर विचार करने पर यह प्रश्न भी युक्त नहीं होता; क्योंकि तीसरे भंग में अस्तितत्व-नास्तितत्व उभयरूप धर्म की प्रधानता है और चौथे भंग में अवक्तव्यरूप धर्म की प्रधानता है।

„ यह तो कहा नहीं जा सकता कि वस्तु का स्वरूप केवल सत्व ही है; क्योंकि स्वरूप आदि की अपेक्षा वस्तु में जिसप्रकार सत्व की प्रतीति होती है; उसीप्रकार पररूप आदि की अपेक्षा उसमें असत्व धर्म की भी प्रतीति होती है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि वस्तु का स्वरूप केवल असत्व ही है; क्योंकि पररूप आदि की अपेक्षा वस्तु में जिस प्रकार असत्व की प्रतीति होती है उसीप्रकार स्वरूप आदि की अपेक्षा उसमें सत्व की भी प्रतीति होती है।

इसीप्रकार तदुभय भी केवल वस्तु का स्वरूप नहीं है, क्योंकि तदुभय से विलक्षण जात्यन्तररूप भी वस्तु अनुभव में आती है। इसकी पुष्टि में पानक (पेय) का उदाहरण दिया जा सकता है। हम देखते हैं कि प्रत्येक दही, गुड़, इलायची, काली मिरच और नाग-केसर के स्वाद की अपेक्षा इनके मिश्रण से जो पानक तैयार किया जाता है, उसका स्वाद विलक्षण ही होता है। इसीप्रकार तदुभय धर्म से अवक्तव्य धर्म विलक्षण ही है।

एक ऐसा प्रश्न किया जा सकता है कि जिसप्रकार अवक्तव्यत्व अलग धर्म माना गया है, उसीप्रकार वक्तव्यत्व नाम का भी स्वतंत्र धर्म मानना चाहिये। पर विचार करने पर यह आपत्ति ठीक प्रतीति नहीं होती, क्योंकि सामान्यरूप से वक्तव्यत्व नाम का भिन्न धर्म नहीं पाया जाता और सत्व आदि रूप से जो वक्तव्यत्व धर्म माने गये हैं, उनका अन्तर्भाव प्रथमादि भंगों में ही हो जाता है। यदाकदाचित् वक्तव्यत्व नाम का स्वतंत्र धर्म माना भी जाय तो विधि और प्रतिषेधरूप वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्व इनकी अपेक्षा एक स्वतंत्र सप्तभंगी ही प्राप्त होती है।

इसप्रकार अलग-अलग सात धर्मों के बन जाने से सप्तभंगी सिद्ध हो जाती है।''

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में उक्त सप्तभंगी की योजना सर्वत्र ही की जानी चाहिए। यहाँ तक कि यह अनेकान्तवादी जैनदर्शन अनेकान्त में भी सप्तभंगी को घटित करता है। इस सन्दर्भ में आचार्य अकलंक का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :—

**''एवमियं सप्तभंगी जीवादिषु सम्यग्दर्शनादिषु च द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनयार्पणभेदाद्योजयितव्या।**

**अनेकान्ते तदभावादव्याप्तिरिति चेत्, न; तत्रापि तदुपपत्तेः। स्यादेतदनेकान्ते सा विधिप्रतिषेधविकल्पना नास्ति। यदि स्यात्, यदा अनेकान्तो न भवति तदैकान्तदोषानुषंगो भवेत् अनवस्था प्रसंगश्च। ततस्तत्र अनेकांतत्वमेव, इति सा सप्तभंगी व्याप्तमती न भवतीति; तन्न, किं कारणम्? तत्रापि तदुपपत्ते। स्यादेकान्तः, स्यादनेकान्तः, स्यादुभयः, स्यादवक्तव्य; स्यादेकान्तश्चावक्तव्यश्च, स्यादनेकान्तश्चावक्तव्यश्च,**

**स्यादेकान्तश्चानेकान्तश्चावक्तव्यश्चेति।**[१]

इसप्रकार यह सप्तभंगी जीवादि सभी पदार्थों में और सम्यग्दर्शनादि सभी पर्यायों में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से लगाना चाहिए।

यदि कोई कहे कि अनेकान्त पर उक्त सप्तभंगी घटित नहीं होने से अव्याप्ति दोष होगा, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अनेकान्त पर भी उक्त सप्तभंगी घटित होती है।

इस पर यदि कोई कहे कि सप्तभंगी संबंधी विधि-निषेध कल्पना अनेकान्त पर घटित नहीं हो सकती; क्योंकि यदि अनेकान्त की नास्ति (निषेध) स्वीकार करेंगे तो एकान्त का दोष आयेगा और अनवस्था दोष भी आवेगा। इसलिए अनेकान्त में सप्तभंगी व्याप्त नहीं होती है।

उससे कहते हैं कि अनेकान्त पर सप्तभंगी इसप्रकार घटित होती है :– कथंचित् एकान्त है, कथंचित् अनेकान्त है, कथंचित् एकान्त व अनेकान्त दोनों हैं, कथंचित् अवक्तव्य है, कथंचित् एकान्त और अवक्तव्य है, कथंचित् अनेकान्त और अवक्तव्य है तथा कथंचित् एकान्त, अनेकान्त और अवक्तव्य है।"

अनेकान्त में भी अनेकान्त की चर्चा 'अनेकान्त और स्याद्वाद' नामक अगले अध्याय में विशेष रूप से की जावेगी। यहाँ तो मात्र यह स्पष्ट करना अपेक्षित है कि सप्तभंगी की योजना सर्वत्र ही होती है; यहाँ तक कि अनेकान्त में भी।

'देवागमस्तोत्र' अपरनाम 'आप्तमीमांसा' में आचार्य समन्तभद्र भगवान को संबोधित करते हुए कहते हैं :–

**कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।**
**तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा।।१४।।**

**सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।**
**असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।।१५।।**

**क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।**
**अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः।।१६।।**

**एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्।**
**प्रक्रिया भंगिनीमेना नयैर्नयविशारदः।।२३।।**

हे भगवन्! आपका बताया वस्तुस्वरूप कथंचित् सत् (भावस्वरूप), कथंचित् असत् (अभावरूप), कथंचित् उभय (भावाभावरूप), कथंचित्

---

[१] तत्त्वार्थ राजवर्तिक, अध्याय १ सूत्र ६ का वार्तिक एवं वृति. पृष्ठ ३५

अवक्तव्य, कथंचित् सद्-अवक्तव्य, कथंचित् असद्-अवक्तव्य और कथंचित् सद्-असद्-अवक्तव्य है; पर ये सब सप्तभंग नयों की अपेक्षा से ही है, सर्वथा नहीं।

स्वरूपादि चतुष्टय (सवद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव) की अपेक्षा वस्तु के सद्भाव को कौन स्वीकार नहीं करेगा? उसीप्रकार पररूप चतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव) की अपेक्षा कौन अभाव को स्वीकार नहीं करेगा? अर्थात् प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार करेगा ही। यदि कोई न करे तो उसके विचारानुसार वस्तुव्यवस्था सिद्ध न होगी।

क्रमार्पण (क्रम से कथन करना) की अपेक्षा से वस्तु उभयरूप (भावाभावरूप) है एवं एकसाथ भाव और अभाव को कहने में असमर्थ होने से वस्तु स्याद्-अवक्तव्य है। इसके बाद के तीन भंग स्याद्-सद्-अवक्तव्य, स्याद्-असद्-अवक्तव्य और स्याद्-सदसद-अवक्तव्य को भी अपनी-अपनी अपेक्षा घटित कर लेना चाहिए।

नयचक्र चलाने में जो चतुर हैं, उन्हें यह सप्तभंगी प्रक्रिया एक-अनेक आदि धर्मयुगलों में भी घटित कर लेना चाहिए।''

उक्त सम्पूर्ण विश्लेषण से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि इन सप्तभंगों का प्रयोग वस्तुस्वरूप समझने-समझाने में अत्यन्त उपयोगी है, परमावश्यक है। अन्यत्र अनुपलब्ध यह सप्तभंगी न्याय जैनदर्शन का अनुपम अनुसंधान है। आत्महित के लिए भी अत्यन्त उपयोगी इस सप्तभंगी न्याय के संबंध में विस्तृत जानकारी के लिए सप्तभंगीतरंगिनी, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, आप्तमीमांसा, स्याद्वमंजरी आदि ग्रंथों का आलोढन किया जाना चाहिए।

—०—

> यह एक सर्वमान्य सत्य है कि युवकों में जोश और प्रौढों में होश की प्रधानता होती है। युवकों में जितना जोश होता है, कुछ कर गुजरने की तमन्ना होती है; उतना अनुभव नहीं होता। इसीप्रकार प्रौढों में जितना अनुभव होता है, उतना जोश नहीं।
>
> कोई भी कार्य सही और सफलता के साथ सम्पन्न करने के लिए जोश और होश – दोनों की ही आवश्यकता होती है। अतः देश व समाज को दोनों की ही आवश्यकता है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं।
>
> **– जोश एवं होश नामक निबन्ध से**

### सप्तम अध्याय

# अनेकान्त और स्याद्वाद

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को सप्तभंग और नयसापेक्ष कहा है;[1] अत. नयों की चर्चा में सप्तभंग, अनेकान्त और स्याद्वाद की चर्चा अपेक्षित ही है। सप्तभंगी की चर्चा विगत अध्याय में हो चुकी है। अब इस अध्याय में अनेकान्त और स्याद्वाद की चर्चा प्रसंग प्राप्त है।

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही अनेकान्त है और वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझाने वाली सापेक्ष कथन पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं[2]।" अनेकान्त और स्याद्वाद में द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।

समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में आचार्य अमृतचन्द्र इस सम्बन्ध में लिखते हैं :–

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह (स्याद्वाद) कहता है कि अनेकान्त स्वभाव वाली होने से सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं। ...जो वस्तु तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है–इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।[3]"

अनेकान्त शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है–एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच में अनेक अर्थ सम्भव हैं। तथा अन्त

---

[1] स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ।।

सर्वथा एकान्त का त्याग करके कथंचित् विधान करने का नाम स्याद्वाद है। वह सात भंगों और नयों की अपेक्षा रखता है, तथा हेय और उपादेय के भेद को भी बतलाता है।

—आप्तमीमांसा-तत्वदीपिका, कारिका १०४

[2] अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः। —लघीयस्त्रय टीका

[3] स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति, .........तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः।

का अर्थ है धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं, अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा—अनन्तगुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है। किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जायगा वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा—परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है।

स्यात्कार का प्रयोग धर्मों में होता है, गुणों में नहीं। सर्वत्र ही स्यात्कार का प्रयोग धर्मों के साथ किया है, कहीं भी अनुजीवी गुणों के साथ नहीं[१]। यद्यपि 'धर्म' शब्द का सामान्य अर्थ गुण होता है, शक्ति आदि नामों से भी उसे अभिहित किया जाता है; तथापि गुण और धर्म में कुछ अन्तर है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जिन्हें गुण या धर्म कहते हैं। उनमें से जो शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं या सापेक्ष होती हैं, उन्हें धर्म कहते हैं। जैसे—नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, सत्-असत्, भिन्नता-अभिन्नता, आदि। जो शक्तियाँ विरोधाभास से रहित हैं, निरपेक्ष हैं, उन्हें गुण कहते हैं। जैसे—आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि; पुद्गल के रूप, रस, गंध आदि।

जिन गुणों में परस्पर कोई विरोध नहीं है, एक वस्तु में उनकी एक साथ सत्ता तो सभी वादी-प्रतिवादी सहज स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु जिनमें विरोध-सा प्रतिभासित होता है, उन्हें स्याद्वादी ही स्वीकार करते हैं। इतर जन उनमें से किसी एक पक्ष को ग्रहण कर पक्षपाती हो जाते हैं। अतः अनेकान्त की परिभाषा में परस्पर विरुद्ध शक्तियों के प्रकाशन पर विशेष बल दिया गया है।

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक युगल (जोड़े) पाये जाते हैं, अतः वस्तु केवल अनेक धर्मों (गुणों) का ही पिण्ड नहीं है; किन्तु परस्पर विरोधी दिखने वाले अनेक धर्म-युगलों का भी पिण्ड है। उन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली से प्रतिपादन करता है।

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। उन सबका कथन एक साथ तो सम्भव नहीं है; क्योंकि शब्दों की शक्ति सीमित है, वे एक समय में एक ही धर्म को कह सकते हैं। अतः अनन्त धर्मों में एक विवक्षित धर्म मुख्य होता है; जिसका कि प्रतिपादन किया जाता है, बाकी अन्य सभी धर्म गौण होते हैं; क्योंकि

---

[१] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-४, पृष्ठ ५०१

उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा रहा है।

यह मुख्यता और गौणता वस्तु में विद्यमान धर्मों की अपेक्षा नहीं, किन्तु वक्ता की इच्छानुसार होती है। विवक्षा-अविवक्षा वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु में तो सभी धर्म प्रति समय अपनी पूरी हैसियत से विद्यमान रहते हैं, उनमें मुख्य-गौण का कोई प्रश्न ही नहीं है; क्योंकि वस्तु में तो उन परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों को अपने में धारण करने की शक्ति है, वे तो उस वस्तु में अनादिकाल से विद्यमान हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। उनको एक साथ कहने की सामर्थ्य वाणी में न होने से वाणी में विवक्षा-अविवक्षा और मुख्य-गौण का भेद पाया जाता है।

वस्तु तो पर से निरपेक्ष ही है। उसे अपने गुण-धर्मों को धारण करने में किसी पर की अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं है। उसमें नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, आदि सब धर्म एक साथ विद्यमान रहते हैं। द्रव्य दृष्टि से वस्तु जिस समय नित्य है, पर्याय दृष्टि से उसी समय अनित्य भी है; वाणी से जब नित्यता का कथन किया जायेगा तब अनित्यता का कथन सम्भव नहीं है। अतः जब हम वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन करेंगे, तब श्रोता यह समझ सकता है कि वस्तु नित्य ही है, अनित्य नहीं। अतः हम 'किसी अपेक्षा नित्य भी है', ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से उसके ज्ञान में यह बात सहज आ जावेगी कि किसी अपेक्षा अनित्य भी है; भले ही वाणी के असामर्थ्य के कारण वह बात कही नहीं जा रही है। अतः वाणी में स्यात्-पद का प्रयोग आवश्यक है, स्यात्-पद् अविवक्षित धर्मों को गौण करता है, पर अभाव नहीं। उसके प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में स्याद्वाद का अर्थ इसप्रकार दिया है :—

''अनेकान्तमयी वस्तु का कथन करने की पद्धति स्याद्वाद है। किसी भी एक शब्द या वाक्य के द्वारा सारी की सारी वस्तु का युगपत् कथन करना अशक्य होने से प्रयोजनवश कभी एक धर्म को मुख्य करके कथन करते हैं और कभी दूसरे को। मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता के अन्य धर्म भी गौण रूप से स्वीकार होते रहें, उनका निषेध न होने पावे; इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है।[१]

कुछ विचारक कहते हैं कि स्याद्वाद शैली में 'भी' का प्रयोग है, 'ही' का नहीं। उन्हें 'भी' में समन्वय की सुगंध और 'ही' में हठ की दुर्गन्ध आती है, पर यह उनका बौद्धिक भ्रम ही है। स्याद्वाद शैली में जितनी आवश्यकता 'भी' के प्रयोग की है, उससे कम आवश्यकता 'ही' के प्रयोग की नहीं। 'भी' और

---

[१] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ४९७

'ही' का समान महत्व है।

'भी' समन्वय की सूचक न होकर 'अनुक्त' की सत्ता की सूचक है और 'ही' आग्रह की सूचक न होकर 'दृढ़ता' की सूचक है। इनके प्रयोग का एक तरीका है और वह है—जहाँ अपेक्षा न बताकर मात्र यह कहा जाता है कि 'किसी अपेक्षा'[1] वहाँ भी लगाना जरूरी है और जहां अपेक्षा स्पष्ट बता दी जाती है वहाँ 'ही' लगाना अनिवार्य है। जैसे—प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य भी है और कथंचित् अनित्य भी है। यदि इसी को हम अपेक्षा लगाकर कहेंगे तो इसप्रकार कहना होगा कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य की अपेक्षा नित्य ही है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य ही है।

'भी' यह बताती है कि हम जो कह रहे हैं, वस्तु मात्र उतनी ही नहीं है, अन्य भी है; किन्तु 'ही' यह बताती है कि अन्य कोणों से देखने पर वस्तु और बहुत कुछ है, किन्तु जिस कोण से यह बात बताई गई है, वह ठीक वैसी ही है, इसमें कोई शंका की गुंजाइश नहीं है। अतः 'ही' और 'भी' एक दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। 'ही' अपने विषय के बारे में सब शंकाओं का अभाव कर दृढ़ता प्रदान करती है और 'भी' अन्य पक्षों के बारे में मौन रह कर भी उनकी संभावना की नहीं, निश्चित सत्ता की सूचक है।

'भी' का अर्थ ऐसा करना कि जो कुछ कहा जा रहा है, उसके विरुद्ध भी सम्भावना है, गलत है। सम्भावना अज्ञान की सूचक है अर्थात् यह प्रगट करती है कि मैं नहीं जानता और कुछ भी होगा। जब कि स्याद्वाद, संभावनावाद नहीं; निश्चयात्मक ज्ञान होने से, प्रमाण है। 'भी' में से यह अर्थ नहीं निकलता कि इसके अतिरिक्त क्या है, मैं नहीं जानता; बल्कि यह निकलता है कि इस समय उसे कहा नहीं जा सकता अथवा उसके कहने की आवश्यकता नहीं है। अपूर्ण को पूर्ण न समझ लिया जाय इसके लिए 'भी' का प्रयोग है। दूसरे शब्दों में जो बात अंश के बारे में कही जा रही है, उसे पूर्ण के बारे में न जान लिया जाय—इसके लिए 'भी' का प्रयोग है, अनेक मिथ्या एकान्तों के जोड़-तोड़ के लिए नहीं।

इसीप्रकार 'ही' का प्रयोग 'आग्रही' का प्रयोग न होकर इस बात को स्पष्ट करने के लिए है कि अंश के बारे में जो कहा गया है, वह पूर्णतः सत्य है। उस दृष्टि से वस्तु वैसी ही है, अन्य रूप नहीं।

समन्तभद्रादि आचार्यों ने पद-पद पर 'ही' का प्रयोग किया है।[2] 'ही' के

---

[1] 'किसी अपेक्षा' के भाव को स्यात् या कथंचित् शब्द प्रगट करते हैं।

[2] सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्। असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठंते ।।
—आप्तमीमांसा, श्लोक १५

प्रयोग का समर्थन श्लोकवार्तिक में इसप्रकार किया है :–

"वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थ निवृत्तये ।
कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ।।

वाक्यों में 'ही' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति और दृढ़ता के लिए करना ही चाहिए, अन्यथा कहीं-कहीं वह वाक्य नहीं कहा गया सरीखा समझा जाता है।[1]"

युक्त्यनुशासन श्लोक ४१-४२ में आचार्य समन्तभद्र ने भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया है।

इसी सन्दर्भ में सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्दजी लिखते हैं :–

"इसी तरह वाक्य में एवकार (ही) का प्रयोग न करने पर भी सर्वथा एकान्त को मानना पड़ेगा, क्योंकि उस स्थिति में अनेकान्त का निराकरण अवश्यम्भावी है। जैसे–'उपयोग लक्षण जीव का ही है'–इस वाक्य में एवकार (ही) होने से यह सिद्ध होता है कि उपयोग लक्षण अन्य किसी का न होकर जीव का ही है। अतः यदि इसमें से 'ही' को निकाल दिया जाय तो उपयोग अजीब का भी लक्षण हो सकता है।[2]"

प्रमाण वाक्य में मात्र स्यात् पद का प्रयोग होता है, किन्तु नय वाक्य में स्यात् पद के साथ-साथ एव (ही) का प्रयोग भी आवश्यक है।[3] 'ही' सम्यक् एकान्त की सूचक है और 'भी' सम्यक् अनेकान्त की।

यद्यपि जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहा जाता है, तथापि यदि उसे सर्वथा अनेकान्तवादी मानें तो यह भी तो एकान्त हो जायेगा। अतः जैनदर्शन में अनेकान्त में भी अनेकान्त को स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन सर्वथा न एकान्तवादी है न सर्वथा अनेकान्तवादी। वह कथंचित् एकान्तवादी और कथंचित् अनेकान्तवादी है। इसी का नाम अनेकान्त में अनेकान्त है।

कहा भी है :–

अनेकान्तोऽप्नेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।।[4]

प्रमाण और नय हैं साधन जिसके, ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है; क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्तस्वरूप एवं अंशग्राही

---

[1] श्लोकवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६, श्लोक ५३

[2] जैन न्याय, पृष्ठ ३००

[3] नयचक्र, पृष्ठ १२९

[4] स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक १०३ (अरनाथ स्तुति, श्लोक १८)

नय की अपेक्षा वस्तु एकान्तरूप सिद्ध है।

जैनदर्शन के अनुसार एकान्त भी दो प्रकार का होता है और अनेकान्त भी दो प्रकार का – यथा सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त, सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। निरपेक्ष नय मिथ्या एकान्त हैं और सापेक्ष नय सम्यक् एकान्त हैं तथा सापेक्ष नयों का समूह अर्थात् श्रुतप्रमाण सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष नयों का समूह अर्थात् प्रमाणाभास मिथ्या अनेकान्त है। कहा भी है :–

जं वत्थु अणेयन्तं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं ।
सुयणाणेण णएहि य, णिरवेक्खं दीसदे णेव ।।[१]

जो वस्तु अनेकान्त रूप है, वही सापेक्ष दृष्टि से एकान्त रूप भी है। श्रुतज्ञान की अपेक्षा अनेकान्त रूप है और नयों की अपेक्षा एकान्त रूप है। बिना अपेक्षा के वस्तु का रूप नहीं देखा जा सकता है।

अनेकान्त में अनेकान्त की सिद्धि करते हुए अकलंकदेव लिखते हैं :–

"यदि अनेकान्त को अनेकान्त ही माना जाय और एकान्त का सर्वथा लोप किया जाये तो सम्यक् एकान्त के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह, तत्समुदायरूप अनेकान्त का भी अभाव हो जायेगा। अत: यदि एकान्त ही स्वीकार कर लिया जावे तो फिर अविनाभावी इतर धर्मों का लोप होने पर प्रकृत शेष का भी लोप होने से सर्व लोप का प्रसंग प्राप्त होगा।"[२]

सम्यगेकान्त नय है और सम्यगनेकान्त प्रमाण।[३] अनेकान्तवाद सर्वनयात्मक है। जिसप्रकार बिखरे हुए मोतियों को एक सूत्र में पिरो देने से मोतियों का सुन्दर हार बन जाता है, उसीप्रकार भिन्न-भिन्न नयों को स्याद्वादरूपी सूत में पिरो देने से सम्पूर्ण नय श्रुतप्रमाण कहे जाते हैं।[४]

परमागम के बीजस्वरूप अनेकान्त में सम्पूर्ण नयों (सम्यक् एकान्तों) का विलास है, उसमें एकान्तों के विरोध को समाप्त करने की सामर्थ्य है[५]; क्योंकि विरोध वस्तु में नहीं, अज्ञान में है।

जैसे–एक हाथी को अनेक जन्मान्ध व्यक्ति छूकर जानने का यत्न करें और जिसके हाथ में हाथी का पैर आ जाय वह हाथी को खम्भे के समान, पेट

---

[१] कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २६१
[२] राजवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ६ की टीका
[३] वही, अध्याय १ सूत्र ६ की टीका
[४] स्याद्वादमंजरी, श्लोक ३० की टीका
[५] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २

पर हाथ फेरने वाला दीवाल के समान, कान पकड़ने वाला सूप के समान और सूँड पकड़ने वाला केले के स्तम्भ के समान कहे तो वह सम्पूर्ण हाथी के बारे में सही नहीं होगा; क्योंकि देखा है अंश और कहा गया सर्वांश को।

यदि अंश देखकर अंश का ही कथन करें तो गलत नंहीं होगा। जैसे–यदि यह कहा जाय कि हाथी का पैर खम्भे के समान है, कान सूप के समान हैं, पेट दीवाल के समान है तो कोई असत्य नहीं; क्योंकि यह कथन सापेक्ष है और सापेक्ष नय सत्य होते हैं; अकेला पैर हाथी नहीं है, अकेला पेट भी हाथी नहीं है, इसीप्रकार कोई भी अकेला अंग अंगी को व्यक्त नहीं कर सकता है।

'स्यात्' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जो कथन किया जा रहा है, वह अंश के सम्बन्ध में है; पूर्ण वस्तु के सम्बन्ध में नहीं। हाथी और हाथी के अंगों के कथन में 'ही' और 'भी' का प्रयोग इसप्रकार होगा :–

हाथी किसी अपेक्षा दीवाल के समान भी है, किसी अपेक्षा खंभे के समान भी है, और किसी अपेक्षा सूप के समान भी है। यहाँ अपेक्षा बताई नहीं गई है, मात्र इतना कहा गया है कि 'किसी अपेक्षा', अतः 'भी' लगाना आवश्यक हो गया। यदि हम अपेक्षा बताते जावें तो 'ही' लगाना अनिवार्य हो जायेगा, अन्यथा भाव स्पष्ट न होगा, कथन में दृढ़ता नहीं आयेगी, जैसे–हाथी का पैर खम्भे के समान ही है, कान सूप के समान ही है, और पेट दीवाल के समान ही है।

उक्त कथन अंश के बारे में पूर्ण सत्य है, अतः 'ही' लगाना आवश्यक है तथा पूर्ण के बारे में आंशिक सत्य है, अतः 'भी' लगाना जरूरी है।

जहाँ 'स्यात्' पद का प्रयोग न भी हो तो भी विवेकी जनों को यह समझना चाहिए कि वह अनुक्त (साइलेन्ट) है।

कसायपाहुड़ में इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है :–

"स्यात् शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखने वाला वक्ता यदि स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतएव स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है। कहा भी है–स्यात् शब्द के प्रयोग की प्रतिज्ञा का अभिप्राय रखने से 'स्यात्' शब्द का अप्रयोग देखा जाता है।[1]

यद्यपि प्रत्येक वस्तु अनेक परस्पर विरोधी धर्म-युगलों का पिण्ड है

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ५०१

तथापि वस्तु में सम्भाव्यमान परस्पर विरोधी धर्म ही पाये जाते हैं, असम्भाव्य नहीं; अन्यथा आत्मा में नित्यत्व-अनित्यत्वादि के समान चेतन-अचेतनत्व धर्मों की सम्भावना का प्रसंग आयेगा।

इस बात को 'धवला' में इसप्रकार स्पष्ट किया है :–

"प्रश्न–जिन धर्मों का एक आत्मा में एक साथ रहने का विरोध नहीं है, वे रहें; परन्तु सम्पूर्ण धर्म तो एक साथ एक आत्मा में रह नहीं सकते?

उत्तर–कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहना संभव है? यदि सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए सम्पूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मा में रहते हैं, अनेकान्त का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए; किन्तु जिन धर्मों का जिस आत्मा में अत्यन्त अभाव नहीं, वे धर्म उस आत्मा में किसी काल और किसी क्षेत्र की अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं।[१]"

अनेकान्त और स्याद्वाद का प्रयोग करते समय यह सावधानी रखना बहुत आवश्यक है कि हम जिन परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता वस्तु में प्रतिपादित करते हैं, उनकी सत्ता वस्तु में सम्भावित है भी या नहीं; अन्यथा कहीं हम ऐसा भी न कहने लगें कि कथंचित् जीव चेतन है व कथंचित् अचेतन भी। अचेतनत्व की जीव में सम्भावना नहीं है, अतः यहाँ अनेकान्त बताते समय अस्ति-नास्ति के रूप में घटाना चाहिए। जैसे–जीव चेतन (ज्ञान-दर्शन स्वरूप) ही है, अचेतन नहीं।

वस्तुतः चेतन और अचेतन तो परस्पर विरोधी धर्म हैं और नित्यत्व-अनित्यत्व परस्पर विरोधी नहीं, विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म हैं; वे परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, हैं नहीं। उनकी सत्ता एक द्रव्य में एक साथ पाई जाती है। अनेकान्त परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का प्रकाशन करता है।

जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वादरूपी नयचक्र अत्यन्त पैनी धार वाला है। इसे अत्यन्त सावधानी से चलाना चाहिए, अन्यथा धारण करने वाले का ही मस्तक भंग हो सकता है इसे चलाने के पूर्व नयचक्र चलाने में चतुर गुरुओं

---

[१] धवला पु० १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ११, पृष्ठ १६७

[२] अत्यन्तनिशितधारं, दुरासद जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खंडयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ।। –पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ५९

की शरण लेना चाहिये[1] उनके मार्गदर्शन में जिनवाणी का मर्म समझना चाहिए।

अनेकान्त और स्याद्वाद सिद्धान्त इतना गूढ़ व गम्भीर है कि इसे गहराई से और सूक्ष्मता से समझे बिना इसकी तह तक पहुँचना असम्भव है; क्योंकि ऊपर-ऊपर से देखने पर यह एकदम गलत सा प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी के दर्शन-शास्त्र के भूतपूर्व प्रधानाध्यापक श्री फणिभूषण अधिकारी ने लिखा है :–

''जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धान्त को जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं, उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शन-शास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन करने की परवाह नहीं की।[2]''

हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं ''प्राचीन दर्जे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बड़े शास्त्री तक अब भी यह नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है।[3]

श्री महामहोपाध्याय सत्य सम्प्रदायाचार्य पं० स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृत कॉलेज, वाराणसी लिखते हैं :–

''मैं कहाँ तक कहूँ, बड़े-बड़े नामी आचार्यों ने अपने ग्रंथों में जो जैनमत का खंडन किया है; वह ऐसा किया है, जिसे सुन-देख हंसी आती है, स्याद्वाद यह जैनधर्म का अभेद्य किला है, उसके अन्दर वादी-प्रतिवादियों के मायामयी गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

जैनधर्म के सिद्धान्त प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस स्याद्वाद से सर्व सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।[4]

संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् डॉ० गंगानाथ झा के विचार भी द्रष्टव्य हैं :–

---

[1] गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः।–वही, श्लोक ५८

[2] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९२ [श्री वी० नि० ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर]

[3] वही,

[4] वही

"जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्त का खंडन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धान्त में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्य ने नहीं समझा और मैं जो कुछ अब तक जैन धर्म को जान सका हूँ, उससे मेरा दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे जैनधर्म को उसके मूल ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।[१]

'स्यात्' पद का ठीक-ठीक अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में बहुत भ्रम प्रचलित हैं—कोई स्यात् का अर्थ संशय करते हैं, कोई शायद, तो कोई सम्भावना। इस तरह से स्याद्वाद को शायदवाद, संशयवाद, या सम्भावनावाद बना देते हैं। 'स्यात्' शब्द तिङन्त न होकर 'निपात' है। वह संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। 'स्यात्' शब्द को स्पष्ट करते हुए तार्किकचूड़ामणि आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं :—

वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषणं ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात् तवकेवलिनामपि ।।[२]

'स्यात्' शब्द निपात है। वाक्यों में प्रमुख यह शब्द अनेकान्त का द्योतक वस्तुस्वरूप का विशेषण है।

शायद, संशय और सम्भावना में एक अनिश्चय है; अनिश्चय अज्ञान का सूचक है। स्याद्वाद में कहीं भी अज्ञान की झलक नहीं है। वह जो कुछ भी कहता है, दृढ़ता के साथ कहता है; वह कल्पना नहीं करता, सम्भावनाएँ व्यक्त नहीं करता।

श्री प्रो० आनन्दशंकर बाबूभाई ध्रुव लिखते हैं :—

"महावीर के सिद्धान्त में बताए गये स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि-बिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध-बिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण स्वरूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना यह अनुचित है[३]।"

आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद को केवलज्ञान के समान सर्वतत्त्व प्रकाशक माना है। भेद मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का है[४]।

---

[१] तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९४ [श्री वी० नि० ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर]

[२]. आप्तमीमांसा, श्लोक १०३

[३]. तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ ९४ [श्री वी० नि० ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर]

[४]. स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्वप्रकाशने।
भेदःसाक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ।।—आप्तमीमांसा, श्लोक १०५

अनेकान्त और स्याद्वाद का सिद्धान्त वस्तु-स्वरूप के सही रूप का दिग्दर्शन करने वाला होने से आत्म-शान्ति के साथ-साथ विश्व शान्ति का भी प्रतिष्ठापक सिद्धान्त है।

इस संबंध में सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान एवं राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं :-

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितनी ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी[1]।"

आत्मशान्ति के आधारभूत और विश्वशान्ति के प्रेरक अनेकान्त और स्याद्वाद को समझकर सभी आत्मार्थी सुखी व शान्त हों—इस पावन भावना से विराम लेता हूँ।

—०—

पर इस परिग्रही वणिक समाज ने अपरिग्रही जिनधर्म में भी रास्ते निकाल लिए हैं। जिसप्रकार समस्त धन का मालिक एवं नियामक स्वयं होने पर भी राज्य के नियमों से बचने के लिए आज इसके द्वारा अनेक रास्ते निकाल लिए गए हैं – दूसरे व्यक्ति के नाम सम्पत्ति बताना, नकली संस्थाएँ खड़ी कर लेना आदि। उसीप्रकार धर्मक्षेत्र में भी यह सब दिखाई दे रहा है – शरीर पर तन्तु भी न रखने वाले नग्न दिगम्बरों को जब अनेक संस्थाओं, मन्दिरों, मठों, बसों आदि का रुचिपूर्वक सक्रिय संचालन करते देखते हैं तो शर्म से माथा झुक जाता है।

जब साक्षात् देखते हैं कि उनकी मर्जी के बिना बस एक कदम भी नहीं चल सकती, तब कैसे समझ में आवे कि इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। लौट-फिर कर बात वहीं आ जाती है कि अन्तरंग परिग्रह त्यागे बिना यदि बाह्य परिग्रह छोड़ा जाएगा तो यही सब-कुछ होगा, क्योंकि अन्तरंग परिग्रह के त्याग के बिना बहिरंग परिग्रह का भी वास्तविक त्याग नहीं हो सकता। – **धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १४४**

---

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १३७

# उपसंहार

षट्द्रव्यमयी इस लोक में अनन्तानन्त पदार्थ हैं, जिनमें ज्ञानानन्दस्वभावी जीव भी अनन्त हैं; जीवों से अनन्तगुणे पुद्गल परमाणु हैं। एक आकाश द्रव्य है, एक-एक धर्म और अधर्म द्रव्य हैं एवं असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं।

अनन्त जीव द्रव्यों में हम स्वयं भी एक जीव द्रव्य हैं। अनन्त आनन्द के कंद, ज्ञान के घनपिण्ड होने पर भी हम स्वयं को सही रूप में नहीं जानते, नहीं पहिचानते; इसकारण पर को निज जानकर, पर में ही अपनापन स्थापित कर अनन्त दुःखी हो रहे हैं, जड़वत् हो रहे हैं। हम ही नहीं, हम जैसे अनन्त जीव संसार में स्वयं को भूलकर, पर को अपना जानकर-मानकर अनन्त दुःख उठा रहे हैं।

इस दुःख को दूर करने का एकमात्र उपाय निज भगवान आत्मा को जानना-पहिचानना ही है। जबतक हम स्वयं को नहीं जानेंगे, नहीं पहिचानेंगे; तबतक हमारा दुःख दूर होना सम्भव नहीं है।

प्रमाण और नय ही ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं। जब मैं स्वयं जीवतत्त्व हूँ और स्वयं को जानने-पहिचानने का साधन भी प्रमाण और नय ही हैं; तब प्रमाण और नयों का स्वरूप भलीभाँति जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता है।

निज भगवान आत्मा ही परमतत्त्व है और मुख्यतः इसका सम्यग्ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र जैसे तार्किक दिग्गज आचार्य तत्त्वज्ञान को प्रमाण घोषित करते हैं। तत्त्वज्ञान को प्रमाण घोषित करनेवाला उनका मूल कथन इसप्रकार है :–

"**तत्त्वज्ञान प्रमाणं ते युगपत्सर्वं भासनम् ।**
**क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ।।**[१]

हे भगवन्! आपके मत में तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। वह तत्त्वज्ञान क्रमभावी और अक्रमभावी दो प्रकार से होता है। जो एकसाथ सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है, ऐसा केवलज्ञान अक्रमभावी तत्त्वज्ञान है और जो क्रम से पदार्थों को जानते हैं, ऐसे मति आदि ज्ञान क्रमभावी तत्त्वज्ञान हैं। क्रमभावी ज्ञान स्याद्वाद एवं नयों द्वारा संस्कारित होता है।"

निज भगवान आत्मा ही परमतत्त्व है, निज भगवान आत्मा ही

---

[१] आप्तमीमांसा, कारिका १०१

परमसत्य है एवं निज भगवान आत्मा ही परमभाव है। प्रमाण और नयों की उपयोगिता भी मुख्यतः उक्त परमभाव के सम्यक् प्रकाशन में ही है; यही कारण है कि अनेक प्रकार के नयों का स्वरूप स्पष्ट करने वाला यह नयचक्र प्रकारान्तर से उक्त परमभाव का ही प्रकाशक है।

परमभाव भगवान आत्मा का वह मूल स्वभाव है; जिसे ज्ञायकभाव, परमपारिणामिक भाव, त्रिकाली भाव, शुद्धभाव, ध्रुवभाव आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। यही परमभाव वास्तविक जीवतत्त्व है, निज भगवान आत्मा है; इसमें ही अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है, इसे ही निज जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है। अतः मोक्षमार्ग का मूल भी यही परमभावरूप भगवान आत्मा है।

निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, नैगमादि सप्तनय एवं प्रवचनसार में समागत सैंतालीस नय आदि सभी नय इस भगवान आत्मा के स्वरूप प्रकाशन में ही समर्पित हैं; अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी न्याय भी इसी भगवान आत्मा के प्रकाशन में समर्पित हैं; इसके प्रकाशन में ही इन सबकी शोभा है, महिमा है।

निश्चय-व्यवहारनयों में परमशुद्धनिश्चयनय भी इसीलिए नयाधिराज है; क्योंकि वह इसी परमभावरूप भगवान आत्मा का प्रकाशन करता है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों में परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय भी इसीलिए नयाधिराज; क्योंकि वह भी इसी परमभाव का प्रकाशन करता है।

अनन्तधर्मात्मक यह परमभाव ही अनेकान्त है, सप्तभंगों द्वारा स्याद्वाद इसका ही प्रकाशन करता है। द्वादशांग का मूल प्रतिपाद्य परमभावरूप यह भगवान आत्मा ही है, प्रकारान्तर से समस्त जिनागम इसके प्रकाशन के लिए समर्पित है।

यह 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' भी उसी परमभाव के प्रकाशन में सम्पूर्णतः समर्पित है; उसी के प्रकाशन में सहायक जानकर ही इसमें सभी प्रकार के सभी नयों की चर्चा की गई है; सप्तभंगी, अनेकान्त और स्याद्वाद की चर्चा भी उसी को लक्ष्यबिन्दु बनाकर हुई है।

अतः यह सुनिश्चित है कि जो आत्मार्थीजन इस नयचक्र का रुचिपूर्वक परमप्रीत से गहराई से अध्ययन करेंगे, वह परमभावरूप निज भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य करेंगे।

सभी आत्मार्थीजन इस परमभावरूप निज भगवान आत्मा की आराधना कर परमपद को प्राप्त हों, परमानन्द को प्राप्त हों:—इस परमपावन भावनापूर्वक इस नयचक्र के प्रपंच से विराम लेता हूँ। □

# संदर्भग्रन्थ-सूची

१. **अनगारधर्मामृत** : पण्डित आशाधरजी; सम्पादक—पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

२. **आप्तमीमांसा** : श्रीमद् समन्तभद्राचार्य; वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, २१ दरियागंज, दिल्ली; वीर सं. २४९४

३. **आत्मधर्म** (हिन्दी) : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ जि. भावनगर (गुजरात)

४. **आत्मधर्म** (गुजराती) : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ जि. भावनगर (गुज.)

५. **आलापपद्धति** : (आचार्य देवसेन; द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, वि.सं. २०२८ के साथ संलग्न)

६. **आचार्य शिवसागर स्मृति-ग्रंथ** : संपादक—पं. पन्नालाल जैन; सौ. भंवरीलाल पाण्ड्या, सुजानगढ़ (राज.)

७. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** : स्वामी कार्तिकेय; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया—आणंद (गुजरात)

८. **गोम्मटसार** (कर्मकाण्ड) : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; टीकाकार—पण्डित मनोहरलालजी शास्त्री; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वाया—आणंद (गुज.)

९. **छहढाला** : पण्डित दौलतरामजी; श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ जि. भावनगर (गुज.)

१०. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १** : क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; वि.सं. २०२८

११. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग २** : क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; वि.सं. २०२८

१२. **तत्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र)** : आचार्य उमास्वामी; सम्पादक—पं. श्री कैलाशचन्दजी शास्त्री, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा; वि.सं. २४७९

१३. **तत्वार्थ राजवार्तिक** : आचार्य अकलंकदेव; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; वीर सं. २४७९

१४. **तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक** : आचार्य विद्यानन्दि; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; वीर सं. २४७९

१५. **तत्त्वानुशासन** : श्री नागसेनसूरि; वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; ई.सं. १९६३

१६. **तिलोयपण्णति** : यतिवृषभाचार्य; जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर; वि.सं. १९९९

१७. **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र** : श्री माइल्ल धवल; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी; वि.सं. २०२८

१८. **देव-शास्त्र-गुरु पूजन, जयमाला** : डा. हुकमचंद भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

१९. **धवला, पुस्तक १** : आचार्य वीरसेन; जैन साहित्योद्धार फण्ड, अमरावती (महा.)

२०. **धवला, पुस्तक २** : आचार्य वीरसेन; जैनसाहित्योद्धार फण्ड, अमरावती (महा.)

२१. **धवला पुस्तक ५** : आचार्य वीरसेन; जैनसाहित्योद्धार फण्ड, अमरावती (महा.)

२२. **नयदर्पण** : क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी; श्री सौ. प्रेमकुमारी जैन स्मारक ग्रंथमाला, दिगम्बर जैन पारमार्थिक संस्थायें, जंवरीबाग, इन्दौर (म.प्र.)

२३. **नयप्रज्ञापन** (गुजराती) : क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी; श्री सौ. प्रेमकुमारी जैन स्मारक ग्रंथमाला, दिगम्बर जैन पारमार्थिक संस्थायें, जंवरीबाग, इन्दौरं (म.प्र.)

२४. **नियमसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार–पद्मप्रभमलधारिदेव; श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, जि. भावनगर (गुज.) वीर सं. २५०३

२५. **न्यायदीपिका** : अभिनव धर्मभूषण यति; सम्पादक–दरबारीलाल कोठिया; वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज दिल्ली; वीर सं. २४१४

२६. **परमात्मप्रकाश और योगसार** : मुनिराज योगिन्दुदेव; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुज.) वि.सं. २०१७

२७. **परीक्षामुख** : आचार्य माणिक्यनन्दि; हरप्रसाद जैन वैद्यभूषण; मु. लुहरी पो. मंडावरा, ललितपुर (उ.प्र.); वीर सं. २४६५

२८. **परमार्थ वचनिका** : पं. बनारसीदासजी, (मोक्षमार्ग प्रकाशक, श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ जि. भावनगर के साथ परिशिष्टरूप में संलग्न)

२९. **पंचास्तिकाय** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार–अमृतचन्द्रचार्य एवं आचार्य जयसेन; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात)

३०. **पंचाध्यायी** : पाण्डे राजमलजी; टीकाकार–पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री; सम्पादक–फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री; प्रकाश–श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनीघाट, बनारस (उ. प्र.); वीर सं. २४७६

३१. **प्रवचनसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार–आचार्य अमृतचन्द्र तथा जयसेनाचार्य; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात); वि.सं. २०३५

३२. **प्रवचनरत्नाकर भाग १**(हिन्दी) : श्री कानजी स्वामी के प्रवचन; श्री टोडरमल स्मारक भवन, ए-४ बापूनगर, जयपुर; वि.सं. २०३८

३३. **प्रमेयकमलमार्तण्ड** : आचार्य प्रभाचन्द्र

३४. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचन्द्र; टीकाकार–पण्डित टोडरमलजी; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, जि. भावनगर (गुज.)

३५. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचन्द्र; टीकाकार–आचार्यकल्प टोडरमलजी एवं पण्डित दौलतरामजी कासलीवाल; मुंशी मोतीलाल शाह, किशनपोल बाजार, जयपुर (राज.)

३६. **मोक्षमार्गप्रकाशक** : आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी; सम्पादक डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ जि. भावनगर (गुज.)

३७. **बृहन्नयचक्र** : आचार्य देवसेन; माणिक ग्रंथमाला, बम्बई; वि.सं. १९७७

३८. **बृहद्द्रव्यसंग्रह** : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; टीकाकार—श्री ब्रह्मदेव; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात); वि.सं. २०३३

३९. **श्रुतभवनदीपक नयचक्र** : आचार्य देवसेन; वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, कल्याण पॉवर प्रिंटिंग प्रेस, सोलापुर; सन् १९४९ ई.

४०. **समयसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार—अमृतचन्द्राचार्य; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात), वीर सं. २५०५

४१. **समयसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार—आचार्य जयसेन; श्री दिगम्बर जैन समाज, अजमेर (राज.)

४२. **समयसार कलश टीका** : आचार्य अमृतचन्द्र; हिन्दी टीकाकार—पाण्डे राजमलजी; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात) वीर सं. २५०३

४३. **समयसार नाटक** : कविवर पण्डित बनारसीदास; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात), वि.सं. २०३२

४४. **सर्वार्थसिद्धि** : आचार्य पूज्यपाद; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी; वीर सं २४७९

४५. **सन्मतितर्क** :

४६. **संस्कृत-शब्दार्थ कौस्तुभ** : सम्पादक—चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा; रामनारायण वेनीप्रसाद, इलाहाबाद-२

४७. **स्याद्वादमंजरी** : श्री मल्लिषेणसूरि; श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुज.)

—०—

# अभिमत*

## आचार्यों, मुनिराजों, व्रतियों, विद्वानों व लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

### * आचार्य श्री जयसागरजी महाराज

मैंने 'बड़ा नयचक्र' ग्रंथ का भी स्वाध्याय किया है। यद्यपि आत्मधर्म के सम्पादकीयों में जब से 'जिनवरस्य नयचक्रम्' की लेखमाला प्रकाशित हुई है, तब से वह पढ़ी ही है; तथापि जब यह ग्रंथ पुस्तकाकाररूप में प्रकाशित हुआ, तब भी मैंने पढ़ा है। यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

अनादि की कर्मशृंखला को काटने के लिए जैनधर्म का अनेकान्त या स्याद्वाद सिद्धान्त समझना बहुत जरूरी है, जिसे डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल ने इस पुस्तक में बड़े ही सरल और रोचक ढंग से समझाया है। इसको समझकर आत्मानुभूति प्राप्त की जा सकती है व आत्मानुभूति प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि बनकर मोक्षप्राप्ति की जाती है। डॉ० भारिल्ल ने इस पुस्तक में धर्म का मर्म खोला है। वे इसीप्रकार तत्त्वप्रचार करते रहें – यही हमारा मंगल आशीर्वाद है।

### * आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज

प्रस्तुत कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' में डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने समस्त जिनागम में वर्णित नयों को संकलित कर, उनका विवेचन करते हुए अपनी मौलिक शैली में जिनागम के मर्म को खोला है। आत्मा का हित शुद्धनय के अवलम्बन बिना नहीं हो सकता। सच्ची निराकुलता शुद्धभाव या शुद्धात्मा के आश्रय से ही प्राप्त की जा सकती है। आत्मा की अनुभूति के बिना कल्याण नहीं हो सकता। निश्चय के बिना व्यवहार कार्यकारी नहीं है। सच्ची वीतरागता बिना व्यवहार करते-करते कभी भी कल्याण नहीं होगा। सभी जीव इस ग्रन्थ को पढ़कर, नयज्ञान को यथार्थ समझकर, शुद्धात्मा का अवलम्बन लेकर शीघ्र ही अपना कल्याण करें – यही भावना व्यक्त करता हूँ।

### * मुनि श्री विजयसागरजी महाराज एवं क्षुल्लक श्री ज्ञानानन्दसागरजी महाराज

'जिनवरस्य नयचक्रम्' यह ग्रन्थ डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल ने समयसारादि ग्रन्थों का सार लेकर ही बनाया है। यह जिनागम का सार है। संसार सागर में भटकने से बचने वाले मुमुक्षुओं के लिए नौका है, क्योंकि नयदृष्टि से विहीन व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। समयसार, नियमसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रों में निश्चय-व्यवहार के अनेक भेद-प्रभेदों का कथन मिलता है, किन्तु उनको जाने बिना अध्यात्म

---

* इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध 'जिनवरस्य नयचक्रम' पर प्राप्त अभिमत

(आत्मानुभूति) का मर्म नहीं पाया जा सकता। जिनागम में आत्माश्रित निश्चयनय (भूतार्थनय) के कथन उपलब्ध हैं, जिनमें व्यवहारनय को नानुसर्तव्यः अर्थात् अंगीकार करने को नहीं कहा है। निश्चयनय के विषय त्रिकाल, ध्रुव, एक, अखण्ड, ज्ञायकभाव को निश्चय कहकर सत्यार्थ (भूतार्थ) कहा है, अंगीकार करने को कहा है। नय विभाग को अच्छी तरह समझ लेने पर ही योग्य पात्र को आत्मानुभव होगा। ये नयज्ञानी के ही लागू होते हैं, अज्ञानी और केवलज्ञानी के नहीं।

समयसार, गाथा ११ सारे जिनागम का प्राण है, सार है। उसमें लिखा है कि जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है। इसी बात को लेकर श्रुतभवनदीपक नयचक्र में तो निश्चयनय (शुद्धनय) को पूज्यतम लिख दिया है, क्योंकि आत्मानुभव नयातीत – विकल्पातीत होने पर भी निश्चयनय से जुड़ा हुआ है। जैसाकि दर्शनप्राभृत गाथा २० में कहा है – "निच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मतं" निश्चयनय से अपनी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान (अनुभव) करना सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है। आत्मानुभव में आत्मा प्रत्यक्ष है, आत्मानुभूति ही सारे द्वादशांग का सार है; इसलिए इस ग्रन्थ के द्वारा नयचक्र को समझकर प्रत्येक मुमुक्षु आत्मानुभूति प्राप्त करके सम्यग्यदृष्टि बने, मोक्षमार्गी बने।

भविष्य में भी डॉ० भारिल्ल जिनागम में से सार निकालकर मुमुक्षुओं के लिए ऐसी सच्ची कृतियों का संकलन करते रहें – ऐसा हमारा परम मंगल आशीर्वाद है।

**★ वयोवृद्ध व्रती विद्वान ब्र० पण्डित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म० प्र०)**

आचार्य अमृतचन्द्र ने नयचक्र को 'अत्यन्तनिशितधारं' कहा है। वर्त्तमान युग में निश्चय-व्यवहारनय पर चर्चित चर्चा अकुशल हाथों में पड़ गई है, अतः समाज का अंग छिन्न-भिन्न हो गया है। ऐसे दुर्दिनों में आवश्यकता थी कि उस जिनवर के नयचक्र को चलाने का शिक्षण उसके संचालकों को दिया जाये। डॉ० भारिल्ल की यह पुस्तक नयचक्र को चलाने की प्रशिक्षण पुस्तिका है।

यह पुस्तिका नय संबंधी विषयों का तो स्पष्टीकरण करती ही है, पर शंकाशील या गलत उपयोग करनेवाले सज्जनों की शंकाओं का निराकरण करते हुए उन्हें नयों के प्रयोग करने की पद्धति का शिक्षण भी देती है। जब कोई नयी बीमारी फैलती है तो उसकी औषधि का आविष्कार भी उस युग में किसी विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा अवश्य होता है। इस सनातन नियमानुसार वर्त्तमान जैन समाज में व्याप्त रोग की यह औषधि है। व्यवहारनय की उपयोगिता तथा उसकी हेयता पर भी विस्तार से इसमें प्रकाश डाला गया है।

डॉ० भारिल्ल कलम के धनी हैं, उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने इस कृति में दर्शन दिये हैं। उनको मेरे अनेक धन्यवाद तथा शुभाशीर्वाद हैं। वे ठीक दिशा में बढ़े

हैं और बढ़ते जायें – यही भावना है। विद्वानों की परम्परा की समाप्ति के दुर्दिनों में उनका उदय भविष्य की उज्जवलता की आशा दिलाता है।

मुझे विश्वास है कि पक्षपात की भूमिका से ऊपर उठकर जो भी भाई इसे पढ़ेंगे, उनका आग्रह अवश्य समाप्त होगा।

**★ सिद्धान्ताचार्य पण्डित फूलचन्दजी, वाराणसी (उ० प्र०)**

'जिनवरस्य नयचक्रम्' ग्रंथ पढ़ा। यह कार्य जितना अधिक सराहनीय है, उतना ही अधिक उपयोगी भी बन पड़ा है। नयज्ञान के अभाव में नय-विषयक पुस्तकें लिखकर जो विडम्बना की गई है; उसके परिहार करने में इस पुस्तक से पर्याप्त सहायता मिलेगी। इस उपक्रम का मैं स्वागत करता हूँ।

**★ सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्रजी, वाराणसी; सम्पादक – जैन संदेश**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' देखी। विषय को बहुत सरल तथा स्पष्टता से समझाया गया है। सब कथन साधार और सप्रमाण हैं। इसे पढ़कर साधारण पाठक और छात्रगण भी लाभान्वित हो सकेंगे। छपाई और कागज दोनों ही सुन्दर हैं। मूल्य भी बहुत कम है। इससे एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति हुई है। सोनगढ़ पक्ष के आलोचकों को यह पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिए।

**★ वयोवृद्ध विद्वान ब्र० पं० मुन्नालालजी राघेलीय (वर्णी) न्यायतीर्थ, सागर**

वस्तु व व्यक्ति दोनों की शोभा, प्रतिष्ठा व उपयोगिता उसमें विद्यमान अलौकिक गुणों के आधार पर होती है। सत्य मोक्षमार्ग एवं जिनशासन की महती प्रभावना में आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलजी के बाद आदरणीय पूज्य श्री कानजी स्वामी का योगदान स्मरणीय है। उनकी ही छटा के दर्शन आज की पीढ़ी के विद्वानों में डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित पुस्तकों में हो रहे हैं, जो भविष्य के विद्वानों का पथ-प्रदर्शन करती रहेगी। डॉ० भारिल्ल का पांडित्य शब्दार्थों तक सीमित नहीं है, उसमें भावार्थ को सरल, सुबोध भाषा में व्यक्त करने की सामर्थ्य भी है। इतने बड़े विद्वान होकर भी पांडित्य का अभिमान देखने में नहीं आता। वे चिरजीवी रहें, ऐसी हमारी मंगल कामना है। उनकी नवीनतम कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' बेला चमेली जैसे सुगन्धित पुष्पों के समान है। अतएव आदरणीय एवं संग्रहणीय है।

**★ सुप्रसिद्ध अध्यात्मप्रवक्ता विद्वद्वर्य पं० लालचन्दभाई मोदी, राजकोट (गुजरात)**

अनादिकाल से अप्रतिबुद्ध जीवों को समझाने के लिए परमोपकारी तीर्थंकर भगवान की वाणी द्वि-नयाश्रित है; अतः श्रोताओं को भी दोनों नयों के स्वरूप का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। तीर्थंकर भगवन्तों की अनुपस्थिति में उनकी

परम्परा में हुए आचार्यों की वाणी का रहस्य भी आत्मज्ञानी गुरु के पास से प्राप्त दृष्टि के द्वारा ही समझा जा सकता है। इस युग में पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने जिनवाणी का रहस्य समझने के लिए जो दृष्टि प्रदान की है, उसके लिए उन्हें सर्वप्रथम अत्यन्त भक्ति से नमस्कार !

पूर्वाचार्यों के द्वारा रचित शास्त्रों का मर्म समझने के लिए डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने भी शास्त्रों का गहराई से अध्ययन-मनन करके जो यह ग्रंथ लिखा है, वह तत्त्वाभ्यासी जीवों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

जीवों के अज्ञान का मूलकारण निश्चयनय से विमुखपना और व्यवहारनय का पक्ष है। अतः भूतार्थ निश्चयनय के विषय को ग्रहण कराने के लिए व्यवहार का बारम्बार निषेध आवश्यक है, क्योंकि व्यवहार का निषेध ही वचन-अगोचर निश्चयनय का वाच्य है – ऐसा शास्त्र का वचन है।

प्रमाण का विषय अनेक धर्मात्मक वस्तु है तो भी नय के द्वारा वस्तु एक-एक धर्मस्वरूप प्रतीत होती है। वहाँ प्रमाण और व्यवहारनय तो आत्मा को पक्षातिक्रांत बनाने में असमर्थ हैं, परन्तु निश्चयनय ही आत्मा को पक्षातिक्रांत बनाने में समर्थ होने से पूज्य है। यद्यपि जबतक निश्चयनय का भी पक्ष रहता है, तबतक प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती।

आत्मा में रहनेवाले अनंतधर्मों का ज्ञान जबतक क्रम-क्रम से होता है अथवा एकान्तरूप से एक धर्म का ज्ञान होता है; तबतक नयपक्ष रहता है तथा जिससमय अनन्त धर्मात्मक पदार्थ एक समय में ही ज्ञान में ज्ञात होता है, उससमय ज्ञानप्रधान निश्चयनय प्रगट होता है, वह साध्य है। यह ध्यान में रखना खास जरूरी है कि ज्ञानप्रधान निश्चयनय दृष्टिप्रधान निश्चयनय के अवलंबन से ही प्रगट होता है।

*** विद्वद्वर्य पं० श्री खीमचन्दभाई जेठालाल शेठ, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की यह कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' जिज्ञासु आत्माओं के लिए आत्महितपोषक, सत्पथप्रदर्शक, ज्ञानवर्धक, प्रेरणादायक स्रोत के रूप में है, क्योंकि यह जिनेन्द्रदेव की सकल जगतहितकारिणी, मोहहारिणी, भवाब्धितारिणी, मोक्षचारिणी वाणी (दिव्यध्वनि) के रहस्य का उद्घाटन करनेवाली है। इस उत्तमकृति में डॉ० भारिल्लजी ने जिनागम का अविरत मंथन करके जो नवनीत निकाला है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

इस नयचक्र का मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर और अपेक्षा समझकर जो रसपान करेंगे, उनका **'भयचक्र'** मिट जायेगा तथा जो अन्तर में परिणमन करेंगे, वे **'भवचक्र'** का अभाव करके अल्पभव में भवातीत स्थान को अवश्य प्राप्त करेंगे।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने अखण्ड एक अविनश्वर चैतन्य-चमत्कार स्वरूप निजपरमात्मद्रव्य का सर्वत्र व सर्वदा आश्रय लेने का जो महामंत्र मुमुक्षुओं को दिया है, उसका पूरा-पूरा लाभ उठाकर आपने इस ग्रन्थ में परमपारिणामिकभाव-स्वरूप निज परमात्मद्रव्य को ध्येय बनाने की प्रेरणा दी है। इस ग्रन्थ के १३वें अध्याय 'निश्चयनय : कुछ प्रश्नोत्तर' के १७वें प्रश्न में यह बात स्पष्ट की गई है कि– "एकदेशनिर्मलपर्यायरूप संवर-निर्जरा अपूर्णपवित्र है, मोक्ष पूर्णपवित्र है, फिर भी संवर-निर्जरा-मोक्ष की पर्यायें परमपवित्र नहीं हैं, पतितपावन नहीं हैं; क्योंकि उनके आश्रय से पवित्रता प्रगट नहीं होती है। अतः परमपवित्र और पतितपावन तो एकमात्र निजपरमात्मद्रव्य ही है।"

इसप्रकार इस ग्रन्थ के अध्ययन से व्यवहार और निश्चय – दोनों नयों का पक्षपात मिटाकर, सभी जीव स्वरूपगुप्त होने का अपूर्व पुरुषार्थ करें – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

*** पं० श्री बाबूभाई मेहता; अध्यक्ष – श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट**

जिनवाणी या जैनदर्शन का रहस्य जानने के लिए गुरुगम से नयविभाग का सम्यक् परिज्ञान होना आवश्यक है। आज जितना भी विवाद देखने में आता है, वह सब एकमात्र नयज्ञान सम्बन्धी अज्ञान के कारण ही है।

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नामक इस कृति को यदि मध्यस्थ होकर – पक्षपात छोड़कर पढ़ें तो यह विवादरूप अज्ञान मिटाने में अवश्य उपकारी होगी – ऐसा मेरा विश्वास है। डॉ० भारिल्ल ने अनेक अध्यात्म व आगम ग्रन्थों का तलस्पर्शी अध्ययन कर तथा पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का प्रत्यक्ष-परिचय व दृष्टि पाकर, जिनागम में प्रतिपादित नयों के रहस्यों को सरल, सुबोध, सुगम, हृदयंगम शैली से सोदाहरण खोलकर व इस ग्रन्थ में एक साथ रखकर अध्यात्म जगत के तत्त्वजिज्ञासु मुमुक्षुसमाज पर बहुत बड़ा उपकार किया है। नयों का विषय सामान्यतः कठिन और पांडित्य पूर्ण होने पर भी इस प्रथम प्रयास से वह जन-जन का विषय बन गया है और बनेगा, क्योंकि यह देशभाषा में इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है कि आबाल-गोपाल सभी समझ सकें। इस कृति की विशेषता यह है कि इसमें आत्महित के लक्ष्य से भेदविज्ञान और वीतरागदशा होने के कारणभूत सर्वनयों के कथन करने का तात्पर्य है – ऐसा निर्देश जगह-जगह पर किया गया है। आत्महित की भावनावालों को यह कृति पठनीय एवं मननीय है।

*** बाबू जुगलकिशोरजी 'युगल', एम० ए०, साहित्यरत्न, कोटा (राज०)**

विस्तृत अध्ययन, कठिन परिश्रम, गहरी गवेषणा एवं पैनी प्रज्ञा का प्रसव

डॉ० भारिल्ल की अनुपम कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नय के चक्र में फंसकर, उससे साफ बच निकलने के लिए काफी पर्याप्त है।

**★ ब्र० माणिकचन्दजी भीसीकर, न्यायतीर्थ; संचालक – बाहुबली विद्यापीठ, बाहुबली**

बहुत दिनों से ऐसी प्रामाणिक पुस्तक की जरूरत जिज्ञासु पाठकों को थी। इस विषय का विस्तार से किया गया तुलनात्मक विवरण, विधानों के पुष्ट्यर्थ पद-पद पर दिये गये आचार्यों के प्रबल प्रमाण, विषय को सरलता से समझने हेतु दिये गये नये मार्मिक दृष्टान्त, विविध प्रश्नोत्तर इत्यादि के माध्यम से जिनागम का रहस्योद्घाटन करनेवाला यह सूक्ष्म, जटिल एवं दुरुह विषय भी अतिसरल एवं सुगम बन गया है – इसमें संदेह नहीं है। प्रत्येक प्रकरण और उसके परिच्छेदों को लक्ष्यपूर्वक ध्यान से पढ़ने पर नयों की सारी गुत्थियाँ अपने आप सुलझ जाती हैं एवं अत्यन्त निशितधारवाला व दुरासद यह जिनेन्द्रदेव का नयचक्र ज्ञानतेज से आपूरित एवं सुखासद प्रतीत होने लगता है। जीवन-विकास के लिए उसका महत्त्व एवं उपयोगिता सुस्पष्ट होती है।

केवल स्वाध्यायप्रेमी जिज्ञासुओं के लिए ही नहीं, अपितु मनीषी विद्वानों के लिए भी यह अनूठा प्रमाण-ग्रंथ बन गया है। समस्त जिनागम का हृदय समझने में तथा विश्व व्यवस्था का यथार्थ परिज्ञान करने में यह बहुत ही उपयुक्त सिद्ध होगा। वर्त्तमान की अनेक भ्रान्त धारणायें दूर होकर निश्चय-व्यवहार का बहुचर्चित विवाद इस ग्रंथ के अभ्यास से समाप्त हो सकेगा – ऐसा हमें विश्वास होता है। व्यवहारनय व उसका विषय मात्र जानने के लिए है, जमने-रमने के लिए नहीं – यह बात पद-पद पर आपने स्पष्ट की है। इस विषय का इतना सरल, सुबोध विवेचन पहले कभी देखने में नहीं आया। यह अनूठा ग्रंथ जिज्ञासुओं के लिए अच्छा पाथेय बनेगा; आपके अथक् प्रयास चिरकाल तक जैनसाहित्य में संस्मरणीय रहेंगे।

**★ डॉ० चन्दूभाई टी० कामदार, राजकोट (गुजरात)**

जिसप्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न के द्वारा प्रतिपक्षियों को पराजित करके छह खण्डों को जीतता है, उसीप्रकार डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मा को ध्येय बनाकर विविध प्रकार के नयों का सर्वाङ्गीण विवेचन कर इस 'जिनवरस्य नयचक्रम्' ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रंथ अत्यन्त विशद और स्पष्ट है, इसमें अनेक जगह जिनेन्द्र-कथित शास्त्रों का आधार दिया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि इसकी रचना के पूर्व लेखक ने कितनी गहराई से शास्त्रों का अध्ययन किया है, तभी तो ऐसी सुन्दर कृति तैयार हो सकी है। तदर्थ लेखक को अनेकानेक धन्यवाद है।

इस 'नयचक्र' का जो कोई तत्त्वपिपासु आत्मा सुरुचिपूर्वक अध्ययन करके परिणमन करेंगे, उनकी मोहरूपी बलवान सेना का अवश्य पराभव होगा।

**★ डॉ० पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य, सागर (म०प्र०)**

श्री जिनेन्द्रदेव का नयचक्र वस्तुतः दुरूह है, फिर भी यदि दृष्टि उज्जवल है तो उसे सहज ही समझा जा सकता है। पदार्थ जब द्रव्य-पर्यायात्मक अथवा सामान्य-विशेषात्मक है, तब उसे कहने के लिए मूलरूप में दो नय – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक स्वीकृत करना आवश्यक है। द्रव्य और पर्याय की विविधरूपता की ओर जब देखते हैं, तब इन्हीं दो नयों के अनेक भेद प्रस्फुटित होने लगते हैं। इन सब नयों को सुलेखक एवं सुवक्ता डॉ० भारिल्लजी ने सरल भाषा में प्रगट किया है। पुस्तक की साज-सज्जा और छपाई आकर्षक है। पुस्तक सर्वत्र समादृत होगी।

**★ डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, उज्जैन; मंत्री – श्री भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्**

श्रुतज्ञान के दो उपयोग हैं – एक स्याद्वाद (प्रमाण) और दूसरा नय। नय और प्रमाण – दोनों वस्तु को जानने के साधन हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो नय विचार जैनदर्शन की रीढ़ हैं, इसके बिना जैनदर्शन का अवगमन नितान्त असंभव है।

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल ने अतिगंभीर नयशास्त्र का बहुत सुन्दर विवेचन 'जिनवरस्य नयचक्रम्' में किया है। डॉ० भारिल्ल की लेखनशैली सामान्य पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। शास्त्रीय उद्धरणों के साथ उदाहरण और प्रश्नोत्तर-बहुल यह शैली अल्पज्ञ और बहुज्ञ – दोनों प्रकार के पाठकों को विषय का असन्दिग्ध विवेचन करती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में निश्चय और व्यवहारनयों का विशेष विवेचन किया गया है। यदि इस पुस्तक का उत्तरार्द्ध भी साथ ही प्रकाशित होता तो इस ग्रन्थ की गरिमा और अधिक बढ़ जाती। ग्रन्थ के अन्त में 'शब्दानुक्रमणिका' की आवश्यकता भी प्रतीत होती है।

'क्रमबद्धपर्याय' और 'जिनवरस्य नयचक्रम्' की सरलशैली को देखकर यह आभास होता है कि डॉ० भारिल्ल के द्वारा जैनदर्शन के स्याद्वाद, प्रमाण, तत्व, द्रव्य आदि विषयों पर ऐसी ही पुस्तकें निकट भविष्य में अवश्य देखने को मिलेंगी। इस सुन्दर ग्रन्थ के लेखन एवं प्रकाशन के लिए लेखक व प्रकाशक दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं।

**★ डॉ० राजारामजी जैन, एम० ए०, पीएच० डी०, आरा (बिहार)**

डॉ० भारिल्लजी की कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' को आद्योपान्त पढ़कर मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि तत्त्वज्ञान के लिए नयज्ञान उसीप्रकार अनिवार्य है, जिसप्रकार भवन-निर्माण के लिए ईंट-पत्थर। मेरे विचार से जैनदर्शन का नय प्रकरण दार्शनिक भाषा शैली में लिखे जाने के कारण अभी तक प्रायः विद्वद् भोग्य ही बना रहा था, किन्तु अब प्रस्तुत ग्रंथ के सरल भाषा, सरस शैली तथा दैनिक अनुभवों से समर्थित होने के कारण सर्वोपयोगी बन गया है।

प्रश्नोत्तरी शैली के माध्यम से लेखक ने नयों के विभिन्न पक्षों पर विविध दृष्टिकोणों से प्रकाश डालने का अच्छा प्रयास किया है। सचमुच ही गूढ़ विषय को लोकप्रिय बनाने का यह एक सफल एवं स्तुत्य प्रयोग है। हृदयाकर्षक लेखन एवं नयनाभिराम प्रकाशन के लिए लेखक एवं प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

**★ डॉ० कमलचन्दजी सोगानी, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)**

डॉ० भारिल्ल ने इस नई दिशा में जो कार्य किया है, वह अत्यन्त आवश्यक और प्रासङ्गिक है; क्योंकि 'नय' जैनदर्शन का प्राण है, तथा वर्त्तमान युग के परिप्रेक्ष में भी इनका महत्त्व है। डॉ० भारिल्ल एक सफल लेखक हैं। वे इस उत्तम ग्रंथ के लिए अनेकानेक धन्यवादार्ह हैं।

**★ प्रो० प्रवीणचन्द्रजी जैन; निदेशक – उच्च० अध्ययन अनुसन्धान संस्थान, जयपुर**

आठ विषय-खण्डों और ४६ प्रश्नोत्तरों में समाहित 'जिनवरस्य नयचक्रम्' का 'पूर्वार्द्ध' अपने विषय की, अपने ढंग की एक रचना है। निश्चय और व्यवहार – दोनों नयों की चर्चा इसमें आवश्यक विस्तार से प्रस्तुत की गई है। प्रश्नोत्तरों के द्वारा उन सन्देहों का निवारण किया गया है, जो इस विषय के अध्ययन के प्रसङ्ग में प्राय: उठते हैं। पुस्तक की भाषा सहज और अपेक्षानुसार सरल है।

यह पुस्तक नयसाहित्य की गरिमा को बढ़ानेवाली है। इसके अध्ययन से हिन्दी भाषी जिज्ञासुओं का लाभ होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। शीघ्र ही इस पुस्तक का अनुवाद दूसरी भाषाओं में भी होना चाहिए, जिससे इसका लाभ अधिक से अधिक जिज्ञासुओं को मिल सके।

मैं 'जिनवरस्य नयचक्रम्' के उत्तरार्ध की प्रतीक्षा उत्सुकता से करूँगा। उत्तरार्ध के प्रकाशन से इस पूर्वार्द्ध का महत्त्व और बढ़ जायेगा और विषय को पूर्णता से समझने-समझाने में सरलता हो जावेगी। इस रचना से तत्त्वचिन्तन को प्रोत्साहन मिलेगा और इस चिन्तन के फलस्वरूप व्यक्ति एवं समाज के जीवन को ऊँचा उठने में सहायता मिलेगी। यह रचना स्वागत के योग्य है, अतः इसके लिए डॉ० भारिल्ल को अनेक धन्यवाद।

**★ डॉ० फूलचन्द प्रेमी; अध्यक्ष – जैनदर्शन विभाग, सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी**

सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष में जैनदर्शन की स्वतन्त्र व मौलिक देन 'नय' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर बिखरी हुई सामग्री को इकट्ठा कर मौलिकरूप देने का यह प्रथम सफल प्रयास है। इस पुस्तक के माध्यम से अनेक शोध-खोज, तदनुसार विस्तृत अध्ययन के अनेक द्वार उद्घाटित होंगे – ऐसी आशा है।

*** डॉ० राजेन्द्रकुमार बंसल, ओ० पी० मिल्स लिमिटेड, अमलाई (म०प्र०)**

जिनागम में मूलग्रन्थों का अनुवाद या टीकायें तो बहुत उपलब्ध हैं, किन्तु किसी गंभीर विषय पर उससे सम्बद्ध बिखरे हुए ज्ञान को गूढ़ चिंतनकर विषय का हृदयग्राही रहस्य जन-जन तक पहुंचाने का कार्य डॉ० भारिल्लजी की यह कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' करती है। लेखक की सहज कल्पनाप्रसूत लेखनी एवं दैनिक जीवन के अनुभव से संबंधित उदाहरणों के कारण नह 'नयचक्र' अल्पबुद्धिवालों के लिए भी 'सहजचक्र' बन गया है, तदर्थ डॉ० भारिल्ल साधुवाद के पात्र हैं।

*** डॉ० प्रेमसुमनजी जैन, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)**

'जिनवरस्य नयचक्रम्' की विषयवस्तु यद्यपि प्रमाण और नयज्ञान से सम्बन्धित है, तथापि डॉ० भारिल्लजी ने अपनी रोचक शैली द्वारा इस गूढ़ विषय को भी सामान्य पाठक को सहज व सुबोध बना दिया है। लेखक की विद्वता और प्रवचनकार की छाप पुस्तक के पाठक को आकर्षित करती है।

*** डॉ० प्रेमचन्द रांवका; प्राध्यापक – रा० सं० महाविद्यालय, मनोहरपुर (राज०)**

जैनदर्शन में नयचक्र या नय-व्यवस्था का अपना ऐसा अपरिहार्य महत्त्वपूर्ण स्थान है कि उस चक्र/व्यवस्था/विचार को समझे बिना न हम जैनधर्म दर्शन को समझ सकते हैं और न अपना और समाज का हित-चिन्तन ही सम्पादित कर सकते हैं। नय-व्यवस्था जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है, जिससे वह विश्व के अन्य इतर दर्शनों में अपना शीर्षस्थ स्थान बनाये हुए है।

पिछले कुछ समय से अनेकान्तवादी समाज में व्यवहार-निश्चय को लेकर जो विचित्र वातावरण बन पड़ा है, उसका कारण नय-सिद्धान्त के परिज्ञान का अभाव लगता है। इस दृष्टि से डॉ० भारिल्ल की इस अभिनव कृति को 'क्रमबद्धपर्याय' से भी अधिक प्रशंसा और सफलता प्राप्त होगी। डॉ० भारिल्ल ने अपनी इस अभिनव कृति में जैन-दर्शन के सर्वमान्य आगम ग्रन्थों के अध्ययन, अन्वेषण और अपने गम्भीरतम चिन्तन, मनन से 'नय-व्यवस्था' पर जो सामग्री संकलित एवम् समीचीन रूप से प्रस्तुत की है वह सामान्य जन से विद्वज्जन तक के लिए उपयोगी संदर्भ ग्रन्थ के रूप में संग्रहणीय है। पक्षव्यामोह से विरत इस उपयोगी प्रकाशन के लिए लेखक एवं प्रकाशक साधुवाद के पात्र हैं। आशा है जैनसमाज ही नहीं, इतर समाज व विद्वज्जन भी जिनोपदिष्ट 'नयचक्र' की अवधारणा से स्व-पर का हित सम्पादित कर सकेंगे।

*** डॉ० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री साहित्याचार्य, नीमच (म०प्र०)**

जैनदर्शन में 'नयचक्र' प्रवेशद्वार के समान है। अतः प्रस्तुत पुस्तक उन सभी के लिए उपादेय है, जो जैनदर्शन की मीमांसा व सम्यक् अनुशीलन करना चाहते हैं।

शोध व अनुसन्धान करनेवालों के लिए 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नय संबंधी विभिन्न शैलियों का सप्रमाण समाहार करनेवाली है। इस 'नयचक्र' के दिशानिर्देश से 'भवचक्र' से भी छटा जा सकता है। अतः ऐसे महत्वपूर्ण एवं लोकोपयोगी प्रकाशन के लिए प्रकाशन संस्था एवं लेखक हार्दिक बधाइयाँ स्वीकृत करें एवं इसके अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार में प्रयत्नशील रहें – यही शुभकामना है।

**★ डॉ० भागचन्द्रजी 'भास्कर'; अध्यक्ष – पाली प्राकृत विभाग, विश्वविद्यालय, नागपुर**

ग्रंथ को आद्योपान्त पढ़ने के बाद यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि डॉ० भारिल्ल ने इसमें निश्चय-व्यवहार नयों का सांगोपांग विवेचन बड़ी तलस्पर्शिता व गंभीरता के साथ किया है। डॉ० भारिल्ल इसके लिए बधाई के पात्र हैं। आध्यात्मिक स्वाध्यायी पिपासुओं के लिए यह ग्रंथ निश्चित ही संग्रहनीय है।

**★ प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री अगरचंदजी नाहटा, बीकानेर (राज०)**

'नय' जैनधर्म की मौलिक विशेषता है। इसके सम्बन्ध में जितना गहन व विशाल साहित्य है, उसे पढ़ने पर भी पूरा बोध नहीं हो पाता। निश्चय एवं व्यवहार को लेकर तो बड़ा विवाद भी है। डॉ० हुकमचंद भारिल्ल एक सुलझे हुए विचारक एवं अध्ययनशील विद्वान हैं। उनके द्वारा लिखित यह कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नया प्रकाश डालती है। मुझे आशा है कि यह कई भ्रमों का निराकरण कर सकेगी। मैं उनके इस मूल्यवान ग्रन्थ का हृदय से स्वागत करता हूँ। जिज्ञासुओं से अनुरोध है कि इसे भली-भाँति पढ़कर लाभ उठावें। इसका अधिकाधिक प्रचार वांछनीय है।

**★ महामहिमोपाध्याय पं० नरेन्द्रकुमार शास्त्री न्यायतीर्थ, सोलापुर (महाराष्ट्र)**

वस्तु सामान्य-विशेष उभयधर्मात्मक होने से अनेकान्तात्मक वस्तुव्यवस्था को समझना एक जटिल समस्या है; उसे सुलझाने के लिये 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नितांत उपयोगी एवं अनुपम पुस्तक है। प्रतिभाशाली वक्ता एवं आगम अध्येता डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल द्वारा लिखा गया यह ग्रन्थ सर्वज्ञकथित आगम के अनुसार है। इसलिये यह ग्रंथ आचार्य प्रणीत नहीं है – ऐसी शंका उठाकर अप्रमाण मानने योग्य नहीं है, अपितु 'जिनवरस्य' विशेषण से मुद्रांकित होने के कारण प्रामाणिक है तथा नितांत आदरणीय, पठनीय व मननीय है।

अनेकान्तस्वरूप सारी जिनवाणी वीतरागमय आत्मधर्म का निरूपण करती है, अतः एकरूप ही है। जिनवाणी में व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक कहा है। व्यवहार अपने स्वतंत्र पक्ष की प्रतिष्ठापना नहीं करता (व्यवहारः नात्मानं प्रतिष्ठापयति)। वस्तुतः दोनों ही नय एक निश्चयमार्ग की प्रतिष्ठा करते हैं। अतः

इनमें पक्ष-प्रतिपक्ष या विरोधादि दोषों का थोड़ा भी अवकाश नहीं है। सभी नय अनेकांत मुद्रांकित जैनशासन के आराधक और अनुशासक हैं।

इस ग्रन्थ में चारों अनुयोगों में वर्णित नय के भेद-प्रभेदों का संग्रह कर "गागर में सागर" की अनमोल उक्ति को चरितार्थ किया है।

यदि इस ग्रन्थ का सूक्ष्म अवगाहन, मुमुक्षु-विद्वान् व त्यागी वर्ग द्वारा हुआ तो हमारा विश्वास है कि वर्त्तमान में निश्चय-व्यवहार के नाम से होनेवाला संघर्ष मिटकर सर्वत्र अनेकांतात्मक जैनशासन ही जयवंत रहेगा।

*** श्री नरेन्द्रप्रकाशजी जैन; प्राचार्य – जैन इन्टर कॉलेज, फिरोजाबाद (उ०प्र०)**

'जिनवरस्य नयचक्रम्' जैनदर्शन के जिज्ञासुओं के लिए एक उपयोगी ग्रन्थ है। विद्वान् लेखक ने सरस और सरल शैली में नयों की आवश्यकता और प्रामाणिकता तथा उनके स्वरूप और भेद-प्रभेदों पर सुन्दर प्रकाश डाला है और यह सिद्ध कर दिया है कि जिनेन्द्र भगवान का नयचक्र दुःसाध्य भले ही हो, असाध्य नहीं है। दिन के प्रकाश की तरह यह भी स्पष्ट हुआ है कि नयचक्र को समझे बिना संसार के दुःखों से बचने का कोई उपाय नहीं है।

डॉ० भारिल्लजी की इस पुस्तक को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि पाठक मानो किसी कुशल शिक्षक की कक्षा में बैठा है और विवेच्य विषय उसके सामने इस तरह प्रस्तुत किया जा रहा है कि उसका कोई भी पहलू बुद्धिगम्य होने से छूट नहीं पा रहा है। लेखन-कला और शैली की ऐसी विशेषता सबको यों इतनी आसानी से प्राप्त नहीं हो पाती! उसके लिए भी गहन अभ्यास और साधना अपेक्षित है। घिसे-पिटे पौराणिक या शास्त्रीय दृष्टान्तों की जगह व्यवहारिक और दैनिक जीवन में जाने-बूझे कुछ नये और मौलिक उदाहरण प्रस्तुत कर लेखक ने विषय को 'बालादपि ग्राह्य' बना दिया है। शतरंज के खिलाड़ी, बादाम, साबुन आदि के उदाहरणों से यह बात प्रमाणित होती है।

विद्वत् समाज में झगड़ा नयों को लेकर नहीं है। किसी नय-विशेष के विवेचन के समय उसके पीछे निहित अभिप्राय के स्पष्ट न हो पाने की वजह से ही उलझनें खड़ी होती हैं। लोकप्रिय वक्ता और शिक्षक श्री भारिल्लजी ने समयसारादि ग्रन्थों के आधार पर व्यवहारनय की कथंचित् प्रयोजनशीलता और आप्त मीमांसादि के आधार पर, सापेक्ष नय-कथन के सिद्धान्त का स्पष्ट और युक्तिसंगत विवेचन कर, नय-विवाद को सुलझाने की भावना से ही यह पुस्तक लिखी है। यह एक सूझबूझभरा सामयिक उपयोगी कदम है। श्रम की सार्थकता के लिए लेखक को हमारी भूरिशः बधाइयां। आशा है, दोनों पक्षों के स्वाध्यायी सज्जन इससे लाभ उठाते हुए अपने

दैनन्दिन जीवन-व्यवहार में भी दोनों नयों के सन्तुलन को कोई आकार देने के लिए सदैव सचेष्ट रहेंगे ।

*** पण्डित श्री बंशीधरजी शास्त्री, एम०ए०, जयपुर (राज०)**

जहाँ अन्य दार्शनिकों ने वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन में मात्र प्रमाणज्ञान से काम चलाया है, वहाँ जैन दार्शनिकों ने नयों की भी उपयोगिता स्वीकार की है । यह नय-विवक्षा जैनदर्शन की मौलिक चिन्तना है । जैनदार्शनिकों ने नय विवेचन के लिए स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं । यद्यपि यह जैनदर्शन की मौलिकता है, फिर भी इस युग के अधिकांश विद्वानों ने इसका गहराई से अध्ययन-मनन नहीं किया – यह बड़े आश्चर्य की बात है। अधिकांश विद्वान पर्यायार्थिक एवं व्यवहारपरक प्रतिपादन को ही मुख्यता प्रदान करते थे, परन्तु श्री कानजी स्वामी ने समयसार और मोक्षमार्ग प्रकाशक से प्रभावित होकर द्रव्यार्थिक व निश्चयपरक विवेचन को मुख्य करके जैनजगत में एक क्रान्ति का सूत्रपात किया ।

प्राचीन नयों के ग्रंथ संस्कृत व प्राकृतभाषा में होने के कारण उन्हें समझने में बड़ी कठिनाई होती थी, बल्कि समझ ही नहीं पाते थे। डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में निश्चय-व्यवहारनयों का जो यह प्रतिपादन किया है, वह अपने आप में अद्वितीय है । यह ग्रंथ न केवल साधारण पाठक को, बल्कि विद्वानों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है । इस हेतु से इस ग्रंथ के प्रचार और प्रसार की अत्यधिक आवश्यकता है ।

ग्रंथ की प्रश्नोत्तर शैली या शंका-समाधान पद्धति विषय को और भी सुबोध बना देती है और बरबस ही पण्डित टोडरमलजी की याद आ जाती है, क्योंकि उन्होंने भी इसी शैली का प्रयोग जगह-जगह पर किया है ।

मैं इस सामयिक एवं उपयोगी रचना के लिए डॉ० भारिल्लजी को धन्यवाद देता हूँ । साथ ही यह कामना करता हूँ कि वे अपनी विद्वतापूर्ण लेखनी से अन्य शास्त्रीय मान्यताओं का भी पोषण करते रहेंगे व जनसामान्य को आत्महितकारी मार्ग प्रशस्त करने हेतु सहयोग प्रदान करते रहेंगे ।

*** ब्र० हेमचन्दजी जैन 'हेम'; इंजीनियर – एच० ई० एल०, भोपाल**

यद्यपि नयातीत, विकल्पातीत, वचन-अगोचर, स्वानुभवगम्य, अनन्तधर्मात्मक आत्मतत्त्व को श्रुतज्ञानांशस्वरूप नयों द्वारा स्पष्ट कर दिखाना अलौकिकवृत्तिधारक गणधरादि आचार्यों के सामर्थ्य की ही बात है, तथापि दीपक से दीपक जलने के न्यायानुसार पूर्वाचार्यों द्वारा विरचित श्रुतभवनदीपक नयचक्र, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, वृहन्नयचक्र, धवला, आलापपद्धति, प्रवचनसार, पञ्चाध्यायी, मोक्षमार्ग

प्रकाशक, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश आदि ग्रन्थों के आश्रय से और पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों को हृदयंगम करके डॉ० भारिल्लजी ने आगम में बिखरे पड़े हुए नयरूप मोतियों को एक माला में पिरोकर एक अभूतपूर्व कार्य किया है, जो कि स्तुत्य है, उपादेय है। वस्तुतः श्रुतभवन में प्रवेश पाने एवं स्वद्रव्यप्रकाशन में यह कृति एक दीपक समान कार्य करेगी। विभिन्न नयविवक्षाओं को समझकर नयचक्रातीत निज शुद्धात्मतत्त्व को उपलब्ध कर सिद्धचक्र में परिणत हो जाना ही धर्म है।

**★ पं० उदयचन्द्रजी जैन; अध्यक्ष – दर्शनविभाग, विश्वविद्यालय, वाराणसी**

'जिनवरस्य नयचक्रम्' पुस्तक का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन कर हृदय-कमल प्रफुल्लित हो गया। डॉ० भारिल्ल जैनदर्शन और जिनागम के मर्मज्ञ विद्वान हैं। इन्होंने जैनागमरूपी समुद्र का मन्थन करके नयरूपी रत्नों को निकाला है और इसे सर्वसाधारण तक पहुंचाया है। प्रत्येक कथन नयसापेक्ष होता है और इसे न समझने के कारण ही अनेक विवाद उत्पन्न हो जाते हैं।

लेखक ने बड़े ही सरल ढंग से नयों का सप्रमाण और सोदाहरण विवेचन करके एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति की है। नय विषयक सम्पूर्ण जानकारी को एक ही स्थान में उपलब्ध करा देना – यह एक महती उपलब्धि है। इस पुस्तक में नय का स्वरूप, नय के भेद-प्रभेद आदि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। डॉ० साहब एक सिद्धहस्त लेखक हैं और इनकी शैली सरल, सुबोध और रोचक है। साधारण व्यक्ति भी इनकी रचनाओं को आसानी से हृदयंगम कर सकता है।

प्रश्नोत्तरशैली के कारण इस कृति का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है। जिनवर द्वारा प्रतिपादित नयचक्र के प्रयोग करने में दक्षता प्राप्त करने के लिए यह एक अनूठी रचना है। यद्यपि इस पुस्तक के नाम को देखकर या सुनकर ऐसा भ्रम होता है कि यह रचना संस्कृत में है, फिर भी पुस्तक का नामकरण यथार्थ और मनमोहक है। इसका कारण भारिल्लजी ने 'अपनी बात' में लिख ही दिया है।

**★ पं० भरतचक्रवतीजी न्यायतीर्थ; निदेशक – जैन साहित्य शोध संस्थान, मद्रास**

सही समय पर प्रकाशित 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नामक यह ग्रंथ जिनागम के नयसंबंधी नयविवेचनों से भरपूर है। इस ग्रन्थ को पक्षातीत विद्वत् समाज में आशातीत आदर प्राप्त होगा। जिंनागम के मर्म को यथावत् समझने के लिए यह एक वर प्रसादरूप है, वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन के लिए स्वच्छ दर्पण है, एकान्तवादियों का खण्डन करने हेतु एक अमोघ अस्त्र है, मोक्षमार्ग में आरूढ़ आत्मार्थियों के लिए मणिदीप है। इस ग्रंथ का गहराई से अध्ययन करनेवाले आत्मार्थी बन्धु नयों का यथार्थस्वरूप समझकर नयातीत – विकल्पातीत शुद्धचैतन्यस्वभाव में लीन होकर परमात्मस्वभाव का अनुभव करेंगे।

*** प्रतिष्ठाचार्य पं० मुन्नालालजी शास्त्री 'कौशल', ललितपुर (उ० प्र०)**

श्रीयुत् डॉ० भारिल्ल की कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' ग्राद्योपान्त पढ़ी। ग्रागमानुकूल वीतरागी सन्तों की परम्परानुसार प्रमाणित नयों का हिन्दी भाषा में सरल व सुबोध प्रस्तुत विवेचन ग्रपूर्व प्रशंसनीय है एवं बार-बार पठनीय-मननीय है। शंका समाधान द्वारा विरोधाभास मिटाकर हृदय को निःशङ्कित बनाता है, मिथ्या-ग्रभिप्रायरूप ग्रंधकार हटाकर सम्यक्त्वसूर्य प्रगट करता है। दिवान्ध की तरह कोई ग्रब भी न समझे तो ग्रंथ का क्या दोष है ? हमारा तो हृदय गद्‌गद् हो गया। ग्रनन्त मंगल कामनाग्रों के साथ भावी उत्कर्ष के हेतु ग्रभिलाषी हूँ।

*** पण्डित धर्मप्रकाशजी जैन शास्त्री, ग्रवागढ़, जि० एटा (उ० प्र०)**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'जिनवरस्य नयचक्रम्' पुस्तक का ग्राद्योपान्त ग्रध्ययन किया। जिनवाणी के प्रचार, प्रसार व प्रभावना के लिए ज्ञान के क्षेत्र में यह प्रयास ग्रति सराहनीय तथा प्रशंसनीय है। कागज, छपाई तथा मुख-पृष्ठ ग्रति-ग्राकर्षक है। सरल भाषा में नय विवेचन करके ज्ञानार्जन करनेवाले धर्मप्रेमी बन्धुग्रों के लिए ग्रति सुगम मार्ग का दिग्दर्शन किया है। लेखक के प्रयास से प्रस्तुत पुस्तक ग्रत्यन्त पठनीय एवं उपयोगी बन गई है। मेरी ग्रान्तरिक भावना है कि ऐसी उपयोगी पुस्तक प्रत्येक पुस्तकालय, वाचनालय ग्रादि सार्वजनिक क्षेत्र में उपलब्ध रहे, जिससे लेखक का किया हुग्रा महान परिश्रम सफल हो सके।

*** पण्डित ग्रमृतलालजी जैन शास्त्री, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राज०)**

विद्वत्समाज में समादृत बीस ग्रन्थों के प्रणेता, चार ग्रन्थों के सम्पादक, पत्रकार, सिद्धहस्त लेखक, प्रखर वक्ता, महान् विद्वान डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की लेखनी से प्रसूत 'जिनवरस्य नयचक्रम्' ग्रंथ को ग्रथ से इति तक ध्यान से देखकर मुझे ग्रसीम प्रसन्नता का ग्रनुभव हुग्रा। नयविषयक समग्र जानकारी कराने के लिए यह ग्रपने ढंग की एक विशिष्ट कृति है। प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि के लिए इसमें तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ग्रादि चालीस से ग्रधिक प्राचीन ग्रन्थों का सहयोग लिया गया है।

इसके यशस्वी लेखक की दर्जनों कृतियाँ ग्रनेक भारतीय एवं ग्रंग्रेजी भाषा में ग्रनूदित होकर लाखों की संख्या में वितरित हो चुकी हैं—यह साधारण बात नहीं है।

प्रस्तुत ग्रंथ का कागज, छपाई-सफाई, प्रूफ संशोधन ग्रौर जिल्द ग्रादि सभी ग्राकर्षक हैं ग्रौर मूल्य भी कम है। समयोपयोगी ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ के लेखन एवं प्रकाशन के लिए लेखक ग्रौर प्रकाशक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

*** पण्डित रतनलालजी कटारिया, केकड़ी (राजस्थान)**

डॉ० भारिल्ल की यह कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' वास्तव में ही अत्यन्त सरल, सरस, सुन्दर एवं सामयिक है। इसके लिए लेखक महानुभाव को हार्दिक धन्यवाद है।

*** पण्डित ज्ञानचन्द्रजी जैन 'स्वतन्त्र'; भूतपूर्व सम्पादक – जैनमित्र, सूरत**

भारिल्लजी एक सिद्धहस्त लेखक, वक्ता एवं समाज के जाने-माने बहुश्रुतज्ञ विद्वान हैं। आपकी वाणी में जादू है। परमागम के ४३ ग्रन्थों का प्रमाण देने से 'जिनवरस्य नयचक्रम्' ग्रन्थ में चार चांद लग गये हैं। किसी वस्तु को जबतक हम विविध नयों (दृष्टियों) से न समझेंगे तबतक उसका रूप समझ में नहीं आयेगा। अतएव निष्पक्ष दृष्टिवाला ही वस्तु को सही-सही समझ सकता है।

लेकिन एक बात अवश्य है कि जिनकी दृष्टि एकांगी है, जो पक्षपात का चश्मा पहिने है या अन्तरंग में विरोध की भावना रखते हैं; ऐसे लोगों के लिए यह ग्रन्थ अनुपयोगी ही सिद्ध होगा। आपने 'जिनवरस्य नयचक्रम्' लिखकर एक कमी की पूर्ति की है। आपके लिए जैन मित्र परिवार की ओर से हार्दिक बधाई है।

*** समाजरत्न पण्डित राजकुमारजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, निवाई (राज०)**

डॉ० भारिल्लजी की लेखन, अनुचिंतन व अभिभाषण करने की कला अनूठी है। आप जिस विषय पर लेखन आदि करते हैं, उस विषय पर गम्भीरता के साथ युक्ति और आगम का आधार लेकर पूर्ण विश्लेषण करते हैं – यह आपकी प्रबुद्धता का परिचायक है। जैनधर्म अनादि-निधन सार्वभौमिक धर्म है। सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित होने से यह सर्वाङ्गपूर्ण धर्म है। पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं। अतः इन्हें समझने के लिए प्रमाण और नय का जानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। यद्यपि प्रमाण पदार्थ का समग्ररूप से प्रतिपादन करता है, अतः वह सर्वग्राही है; तथापि पदार्थ में स्थित अनेक धर्मों को विशेषरूप से जानने के लिए अनेक नयों की विवक्षा भी आवश्यक है। विद्वान लेखक ने उन नयों को विविध उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है और वे इसमें पूर्ण सफल भी हुए हैं। ग्रन्थ आद्योपान्त पठनीय व मननीय है।

*** श्री चण्डीप्रसादजी शर्मा; प्राचार्य – महाराजा आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर**

ग्रन्थरत्नेऽस्मिन् विदुषा लेखकेन सरलया भाषया नयानां स्वरूपं, तेषां पारस्परिकसम्बन्धश्च विवेचितः। आत्महिताय प्रयोजनसिद्धिः केन पथा सम्भवेदित्यप्यत्र समालोचितम्। नयचक्राणां गहनमध्ययनमन्तरा जिनागमस्य मर्म केनापि न ज्ञातुं शक्यते। अतो युगेऽस्मिन् जिनवरस्य तत्त्वगवेषणप्रवृत्तचेतसां मुमुक्षुजिज्ञासूनां कृतेऽस्य ग्रन्थस्य महती समुपादेयता वर्तते। लेखकेन ग्रन्थमिमं निर्माय सर्वे जिनवरस्यो-

पासका अनुगृहीताः। अहमस्य सर्वत्र प्रचारं-प्रसारञ्च कामये। धन्यवादार्हाः खलु भारिल्लमहाभागा :।

**★ अनेकान्त (त्रैमासिक शोध-पत्रिका), नई दिल्ली, अप्रेल-जून १९८२**

'नय' एक अनादि शैली है। जो सापेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त होने पर सम्यक् और निरपेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त होने पर मिथ्या होती है। जब से समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थों का पठन-पाठन जनसाधारण में प्रचलित हुआ, नयवाद विशेष चर्चा का विषय बन गया है। कई लोग तो विपरीत धारणा ही बना बैठे। डॉ० भारिल्लजी ने जहाँ विषय का मंथन कर अपनी शैली में अपने विचारों को प्रस्तुत किया है, वहाँ उन्होंने विभिन्न आचार्य मन्तव्यों को प्रस्तुत कर बड़ी बुद्धिमानी की है। इससे जो लोग उन्हें सोनगढ़ी कैम्प का समझ बैठे हैं, उन्हें निश्चय ही विषय-निर्णय में आचार्य-वाक्य सहायक होंगे। डॉ० साहब ने विषय को बहुत स्पष्ट किया है – ऐसा मेरा मत है। आचार्य वाक्यों की कसौटी के अस्तित्व में मैं क्या लिखूँ? निश्चय ही भारिल्लजी का प्रयास सराहनीय है। अन्यथा अनेक ग्रन्थों को एकत्रित कर देखने का प्रयास ही कौन करता है। बधाई! – पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, सम्पादक

**★ सन्मति सन्देश (मासिक), दिल्ली, मई १९८२**

वर्त्तमान विसंवाद एवं मतभेद की परिस्थिति में जो भी साधर्मी बन्धु इस विषय को आत्महित की दृष्टि से मध्यस्थ होकर पढ़ेंगे, उनका सम्पूर्ण मतभेद और विवाद समाप्त हो सकता है। समीक्ष्य प्रकाशन में नयों के दृष्टिकोण पर आर्षप्रमाण, युक्ति एवं समुचित सरल उदाहरण देकर अभूतपूर्व प्रकाश डाला है। नयचक्र का ज्ञान ही मोक्षमार्ग में विजय की दुंदुभि बजाता है। विद्वान लेखक ने अपनी आकर्षक शैली के द्वारा विषय-प्रतिपादन में कहीं भी रूक्षता एवं अरोचकता उत्पन्न नहीं होने दी है, जिससे पाठक को कहीं भी थकान का अनुभव नहीं होगा। इस विषय पर आज तक लिखे गये सभी निबन्धों में इतना सुन्दर विश्लेषण नहीं देखा गया, जितना बुद्धिगम्य प्रकाश इसमें प्राप्त होता है। – प्रकाशचन्द 'हितैषी' शास्त्री, सम्पादक

**★ तीर्थंकर (मासिक), इन्दौर, अप्रेल १९८२**

नयसम्बन्धी विवेचन पर अब तक प्रकाशित पुस्तकों में सर्वश्रेष्ठ; विषय-प्रतिपादन प्रांजल, व्यवस्थित, असंदिग्ध, तर्कसंगत; यदि उद्धरणों की भरमार से बचा जा सकता तो सरल व सुबोध हिन्दी में जैन तत्त्वदर्शन तक आसान पहुंच बनाने की पद्धति पर एक सर्वोत्तम प्रकाशन, मूल्य संतुलित, छपाई निर्दोष।

– डॉ० नेमीचन्द जैन, सम्पादक

*** जिनवाणी (मासिक), जयपुर, मई १९८२**

प्रसिद्ध अध्यात्मप्रवक्ता, दार्शनिक विचारक और प्रबुद्ध लेखक डॉ० भारिल्ल के इस सद्य प्रकाशित ग्रन्थ में नयज्ञान की आवश्यकता, नय के सामान्यस्वरूप, नयों की प्रामाणिकता, निश्चय-व्यवहार आदि नयों के भेद-प्रभेदों तथा उनसे सम्बन्धित जिज्ञासाओं एवं शंकाओं का आवश्यकतानुसार प्रश्नोत्तर-शैली में गूढ़, पर सहज शास्त्रीय सरल विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। आगम के गहन अभ्यास के लिए नयों का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है। डॉ० भारिल्ल ने वस्तुस्वरूप प्रतिपादक आगमिक नयों का और आत्मानुभवक आध्यात्मिक नयों का इस ग्रन्थ में सरल-सुबोध हिन्दी भाषा में प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत कर नय जैसे गहन विषय को सरल सुलभ बनाने का महतीय कार्य किया है। – **डॉ० नरेन्द्र भानावत**, सम्पादक

*** वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, ३ मई १९८२**

जैनागम नय पर आधारित है। नय-निक्षेप को समझे बिना जैनवाङ्मय हृदयंगम नहीं हो सकता। सारे मतभेदों को मिटानेवाला जैनों का यह नय विवेचन है। सम्यग्ज्ञान के लिए नय-विवक्षा अपरिहार्य है। साथ ही यह गूढ़ विषय भी है। विषय प्रवेश के पश्चात् ही उसकी अनिवार्यता का अनुभव होता है। इस दुरूह एवं अत्यन्त आवश्यक विषय को डॉ० भारिल्ल साहब ने बड़े ही सरल ढंग से प्रस्तुत पुस्तक में लिखा है, जो सहजगम्य हो गया है। प्रश्नोत्तर के रूप में निश्चय और व्यवहार को अच्छा समझाया गया है। डॉ० भारिल्लजी ने इस रचना द्वारा नयचक्र की जटिलता को सरलता से प्रस्तुत कर जैन विद्वानों और छात्रों का बड़ा उपकार किया है। इसके लिए वे कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं। –**पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ**

*** जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक), जयपुर, १६ अप्रेल १९८२**

जैनधर्म और दर्शन के अन्तरंग से सुपरिचित, चिन्तक और अनवरत अध्ययन-शील डॉ० भारिल्ल की लेखनी से प्रसूत इस 'जिनवरस्य नयचक्रम्' कृति ने निश्चित ही एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। नयों के सम्बन्ध में हिन्दी में अबतक ऐसी कोई कृति उपलब्ध नहीं थी, जिसमें नयों का ऐसा सुन्दर, सयुक्तिक, सोदाहरण, सर्वाङ्गीण विवेचन एक साथ एक ही स्थान पर प्राप्त हो सके।

पुस्तक अत्यन्त उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक, रोचक शैली में लिखी गई है। तथा सारगर्भित विवेचन द्वारा सहजग्राही निष्कर्ष निकाले गये हैं।

जिनवाणी में यत्र-तत्र बिखरे तथ्यों को समन्वित कर दैनिक जीवन में घटित होनेवाले अनेक उदाहरणों से सर्वाधिक विवादस्थ विषय निश्चय-व्यवहारनयों के स्वरूप, प्रयोजन व उद्देश्य को जिज्ञासुओं के हृदयों में उतारने का सफल प्रयास

किया है। यह लेखक के सतत ज्ञानाराधन, चिन्तन, मनन एवं श्रमशीलता का निदर्शन है। 'जिनवरस्य नयचक्रम्' का मुख्य उद्देश्य और प्रयोजन जनसाधारण को नयों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान कराना रहा है, ताकि जिनवाणी के रहस्य को जाना जा सके, क्योंकि समस्त जिनवाणी नयों की ही भाषा में निबद्ध है।

नयों के अनुशीलन में महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन की यह पहली पुस्तक है। इसमें बहुत मर्म खुल गये हैं, पुस्तक बेजोड़ बन गई है, वस्तुस्वरूप को समझने में इसका अध्ययन यथेष्ट रूप में सहायक सिद्ध होगा।

आशा है, प्रबुद्धजन इस अमूल्य कृति से लाभान्वित होंगे। लेखक स्वस्थ दीर्घजीवी होकर जिनवाणी की सतत सेवा करता रहे, यही मंगल कामना है।

– रतनचन्द भारिल्ल

*** वीर (पाक्षिक), मेरठ, १ मई १९८२**

प्रस्तुत कृति में डॉ० भारिल्ल ने नयज्ञान की आवश्यकता, नय का सामान्य स्वरूप, नयों की संख्या, और निश्चय-व्यवहार नयों का विस्तृत विवेचन बहुत ही सरल व सुबोध भाषा में किया है। यद्यपि नयों के बारे में जानकारी देनेवाले अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं; तथापि 'जिनवरस्य नयचक्रम्' में डॉ० भारिल्ल ने सभी महान् ग्रन्थों का निचोड़ इसप्रकार प्रस्तुत किया है कि उन ग्रन्थों के अध्ययन के समय आनेवाली सभी गुत्थियों का सहज ही समाधान हो जाता है। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है; और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आयेगी; और यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी। प्रस्तुत ग्रन्थ हर स्वाध्याय-प्रेमी व शास्त्र-भण्डार के लिए उपयोगी व आवश्यक ग्रन्थ है।

– राजेन्द्रकुमार जैन, सम्पादक

*** जैनमित्र (पाक्षिक), सूरत, १७ जून १९८२**

डॉ० भारिल्ल जैन समाज के जाने-माने बहुप्रसिद्ध एवं बहुश्रुतज्ञ विद्वान् हैं। वे वाणी और कलम के धनी हैं। उनके प्रतिपक्षी विद्वान् उनका हमेशा विरोध करते रहे, परन्तु वे किसी के विरोध में नहीं रहे; अपितु आगम के आधार पर ही उन्हें युक्तियुक्त एवं न्यायसंगत उत्तर दिया। जैनदर्शन के नयसिद्धान्त पर यह पुस्तक लिखी गयी है। इसमें ४३ परमागम ग्रन्थों के आधार पर विशद विवेचना की गयी है। डॉ० भारिल्ल की यह रचना बहुत सुन्दर है। हम उनके लिए बधाई देते हैं। ऐसी रचना एक कमी की पूर्ति करती है।

– शैलेश डाह्याभाई कापड़िया

**★ राष्ट्रदूत (दैनिक), जयपुर, ८ अगस्त १९८२**

भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। जैन दार्शनिकों ने अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन स्याद्वाद शैली में किया है। स्याद्वाद शैली में नयों का प्रयोग किया जाता है, जो वस्तु के एक-एक अंश को विषय बनाते हैं।

जहाँ अन्य दर्शनों ने वस्तु को विषय करनेवाले ज्ञान को मात्र प्रमाणरूप ही स्वीकार किया है, वहाँ जैनदर्शन में प्रमाण के साथ-साथ नय को भी स्वीकार किया है। यही जैनदर्शन का अन्य दर्शनों से वैशिष्ट्य है।

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल की प्रस्तुत कृति 'जिनवरस्य नयचक्रम्' नयों के स्वरूप, भेद आदि का विस्तार से प्रकाश डालने वाली एक ऐसी कृति प्रतीत होती है, जो मनीषियों में सीमित इस विषय को जनसाधारण में पहुँचाने में समर्थ होगी। सम्पूर्ण जिनशासन की शैली से परिचित कराने के कारण इसमें सम्पूर्ण जिनशासन का सार समाविष्ट है। इसकी भाषा आधुनिक होते हुए भी प्रतिपादित तत्त्व अत्यन्त गूढ़ व गंभीर है।

नयों के सम्बन्ध में यह पुस्तक अभी पूर्वार्द्ध ही है, उत्तरार्द्ध अभी शेष है। पुस्तक की छपाई व बाइंडिंग आकर्षक है।

◆

5429

# डॉ० भारिल्ल की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ

| | | |
|---|---|---|
| १. | पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व [हिन्दी] | ११.०० |
| २. | तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी] | ६.०० |
| ३. | धर्म के दशलक्षण [हि., गु., म., क., तमिल, अंग्रेजी] | ५.०० |
| ४. | क्रमबद्धपर्याय [हि., गु., म., क., त.] | ४.०० |
| ५. | सत्य की खोज [हि., गु., म., त., क.] | ५.०० |
| ६. | जिनवरस्य नयचक्रम् | ५.०० |
| ७. | बारह भावना : एक अनुशीलन | ५.०० |
| ८. | बारह भावना | १.०० |
| ९. | गागर में सागर | ४.०० |
| १०. | आप कुछ भी कहो [हिन्दी, कन्नड़] | ३.०० |
| ११. | मैं कौन हूँ ? [हि., गु., म., क., त., अंग्रेजी] | १.२५ |
| १२. | युगपुरुष श्री कानजी स्वामी [हि., गु., म., क., त.] | २.०० |
| १३. | तीर्थंकर भगवान महावीर [हि., गु., म., क., त., अ., ते., अं.] | ०.५० |
| १४. | वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका [हिन्दी] | ४.०० |
| १५. | अर्चना (पूजन संग्रह) [हिन्दी] | ०.५० |
| १६. | गोम्मटेश्वर बाहुबली | ०.४० |
| १७. | वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर [हि., गु.] | ०.२५ |
| १८. | चैतन्य चमत्कार | १.०० |
| १९. | अहिंसा : महावीर की दृष्टि में | १.२५ |
| २०. | बालबोध पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., त., बं., अं.] | १.०० |
| २१. | बालबोध पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., त., बं., अं.] | १.०० |
| २२. | वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अं.] | १.०० |
| २३. | वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क., अं.] | १.२५ |
| २४. | वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हि., गु., म., क., अं.] | १.२५ |
| २५. | तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ [हि., गु., म., क., अंग्रेजी] | १.२५ |
| २६. | तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी] | १.४० |

## संपादित प्रकाशन

| | | |
|---|---|---|
| १. | मोक्षमार्गप्रकाशक | ८.०० |
| २. | प्रवचनरत्नाकर भाग १, २, ३, ४ | प्रत्येक १०.०० |
| ३. | ज्ञानगोष्ठी | ६.०० |
| ४. | परमार्थवचनिका प्रवचन | २.०० |
| ५. | वीतराग-विज्ञान (मासिक) : आजीवन शुल्क १२५) वार्षिक शु. | १२.०० |

# परमभावप्रकाशक

# नयचक्र

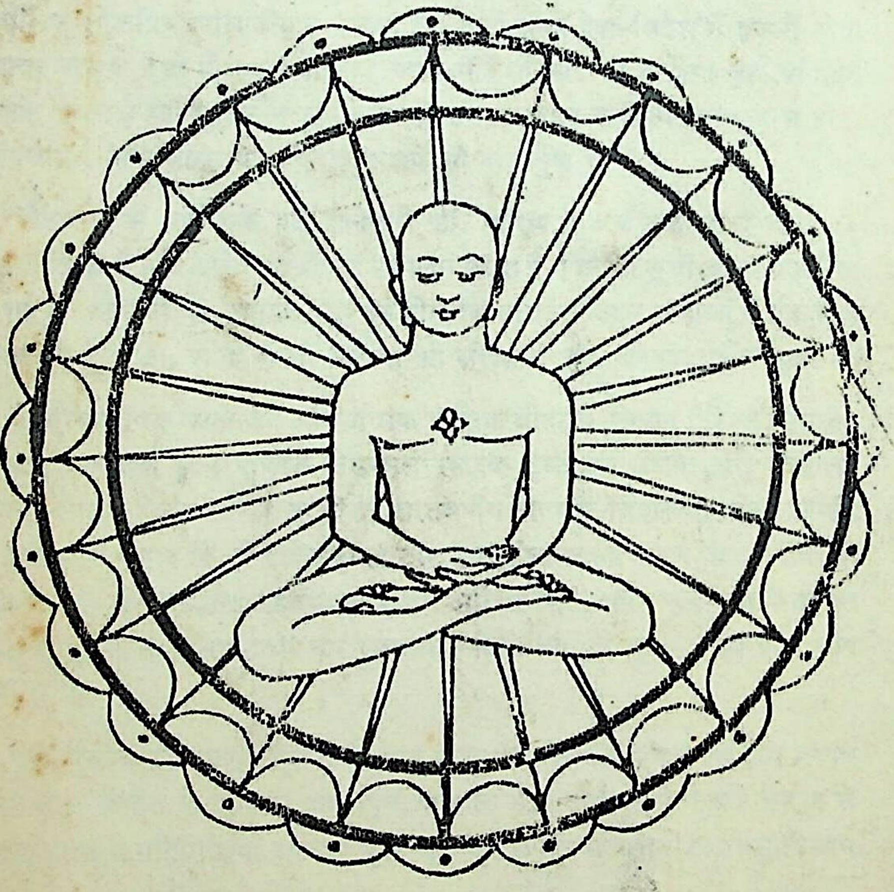

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल